उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

1

पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई-1
रूसो 5

इकाई-2
प्लेटो 28

इकाई-3
जॉन डीवी 45

इकाई-4
कमेनियस 66

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादक

प्रो0 एस0 पी0 गुप्ता	निदेशक शिक्षा विद्या शाखा उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 एन0 पी0 भोक्ता	वरिष्ठ उपाचार्य,शिक्षा शास्त्र विभाग दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, जून 2009,
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

MAED-08 : शैक्षिक विचारक

खण्ड 1. पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 1. रूसो

इकाई 2. प्लेटो

इकाई 3. जॉन डीवी

इकाई 4. कमेनियस

खण्ड 2. प्रमुख पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री

इकाई 5. फ्रोबेल

इकाई 6. मारिया मान्टेसरी

इकाई 7. हरवर्ट स्पेन्सर

इकाई 8. टी. पी. नन

खण्ड 3. भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 9. शंकराचार्य

इकाई 10. दयानन्द सरस्वती

इकाई 11. विवेकानन्द

इकाई 12. श्री अरविन्द

खण्ड 4. प्रमुख भारतीय शिक्षा शास्त्री

इकाई 13. रवीन्द्र नाथ टैगोर

इकाई 14. पं0 मदन मोहन मालवीय

इकाई 15. महात्मा गाँधी

इकाई 16. राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन

खण्ड-परिचय- 1 पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

शिक्षा परिवर्तन का महत्वपूर्ण साधन है। साथ ही सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव शिक्षा–व्यवस्था पर भी पड़ता है जिससे उसमें व्यापक परिवर्तन होते हैं। शिक्षा में परिवर्तन शैक्षिक विचारों से प्रारम्भ होती है और अन्ततः यह सम्पूर्ण शैक्षिक क्रियाकलापों को प्रभावित करती है। इन परिवर्तनों को हमलोग पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारों के संदर्भ में स्पष्टतः देख सकते हैं।

पाश्चात्य शैक्षिक विचार जगत में चार शैक्षिक सम्प्रदाय अत्यधिक महत्वपूर्ण रहें है। वे हैं– प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद और यथार्थवाद। वर्तमान खण्ड में हमलोग इन चार सम्प्रदायों के प्रतिनिधि विचारकों क्रमशः रूसो, प्लेटो, जॉन डीवी एवं कमेनियस के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

रूसो ने प्रकृति की ओर लौटने की उद्घोषणा करते हुए बच्चे की प्रकृत गुणों को सुरक्षित रखने हेतु शिक्षा की योजना बनाई। निषेधात्मक शिक्षा का संप्रत्यय अत्यन्त ही विचारोत्तेजक है। आदर्शवादी विचारक प्लेटो को विश्व का प्रथम शिक्षाशास्त्री माना जाता है। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति को माना। जॉन डीवी ने उसी को सत्य माना जो उपयोगी है। इन्होंने शिक्षा को सामाजिक संदर्भों एवं बच्चों के जीवन से जोड़ दिया। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के विकास में यथार्थवादी विचारक कमेनियस का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इन्होंने बच्चे के विकास के स्तर को शिक्षा से जोड़कर इसे मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया तथा सभी की शिक्षा की बात कह कर शिक्षा को प्रजातांत्रिक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इकाई 1: रूसो

संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 जीवन–वृत्त

1.4 रूसो का सामाजिक दर्शन

1.5 शिक्षा–दर्शन

1.1.1 शिक्षा का उद्देश्य

1.5.2 छात्र संकल्पना

1.5.3 विद्यार्थी जीवन के सोपान

1.5.4 पाठ्यक्रम

1.5.5 शिक्षण–विधि

1.5.6 अनुशासन

1.5.7 शिक्षक की भूमिका

1.6 महिलाओं की शिक्षा

1.7 सारांश

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.10 सहायक अध्ययन सामग्री

1.1 प्रस्तावना

ज्यॉ जैक्विस रूसो एक महान दार्शनिक, प्रखर विचारक तथा क्रांतिकारी शिक्षाशास्त्री थे। आधुनिक समाज और शिक्षा पर जितना अधिक प्रभाव रूसो के विचारों का पड़ा उतना शायद ही अन्य किसी दार्शनिक का। समाज को रूढ़ियों और आडम्बर का जिस दृढ़ता से रूसो ने विरोध किया वह मानव इतिहास में अभूतपूर्व है। उन्होंने धर्म, राजनीति और शिक्षा पर समाज के

प्रभावशाली वर्ग के एकाधिकार को समाप्त कर उसमें जनसामान्य की हिस्सेदारी पर जोर दिया। प्लेटो का आदर्श अतिमानव या लोकोत्तर मानव था पर रूसो का आदर्श है प्राकृतिक मानव। वह मानव को प्रकृति की ओर लौटने के लिए प्रेरित करता है। साथ ही शिक्षा के द्वारा बच्चे के प्राकृतिक गुणों को समाप्त करने का वह विरोधी है। उसका मानना था कि शिक्षा बच्चे की अवस्था, रूचि एवं आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिए। वस्तुतः 'बाल केन्द्रित शिक्षा' का सिद्धान्त रूसो के कालजयी विचारों और रचनाओं पर ही आधारित है।

1.2 उद्देश्य

रूसो एक क्रांतिकारी प्रगतिशील विचारक था। उसके विचारों ने शिक्षा के सिद्धान्त एवं प्रक्रिया को व्यापक रूप से प्रभावित किया। अतः रूसो के शिक्षा के सिद्धान्त को समझना शिक्षा के हर विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं की चर्चा करते हुए हम लोग रूसो के शिक्षा सिद्धान्त को समझने में सफल होंगे–

- रूसो का जीवन–परिचय
- रूसो की प्रमुख कृतियां
- रूसो का सामाजिक दर्शन
- रूसो का शिक्षा–दर्शन

1.3 जीवन–वृत्त

रूसो का जन्म 28 जून, 1712 ई0 को स्विटजरलैंड के जेनेवा नामक नगर में एक सम्मानित परिवार में हुआ था। उसके पिता एक फ्रांसिसी घड़ीसाज थे। जन्म के तुरन्त बाद रूसो की माता का देहान्त हो गया। उसकी देखभाल उसकी चाची ने की जो लापरवाह थी। उसके पिता और भी लापरवाह थे। वे व्यर्थ के उपन्यास पढ़ते थे– रूसो को इन उपन्यासों से कल्पना, संवेदना एवं बचपन में ही अधकचरी प्रौढ़ता मिली। इस तरह से रूसो ने स्वच्छन्द जीवन बिताना शुरू कर दिया। निरूद्देश्य इधर–उधर भ्रमण करने के दौर में वह स्विटजरलैंड के प्राकृतिक सौन्दर्य से काफी प्रभावित हुआ। इसका अमिट प्रभाव उसके जीवन पर पड़ा। साथ ही स्वच्छन्दता के दौर में वह बुरी संगति में आया और कई दुर्गुण उसके व्यक्तित्व में आ गए। चचेरे

भाई के साथ उसने कुछ दिनों तक लैटिन सीखने का प्रयत्न किया पर जो कुछ सीखा वह अव्यवस्थित एवं खंडित ज्ञान था।

बारह वर्ष की अवस्था में रूसो घर से भागकर छोटी–मोटी नौकरी करने लगा। कुछ दिनों तक एक स्वच्छन्द, पर आकर्षक महिला मैडम वारेन्स के साथ सेवाय में रहा। बाद में थेरेस लीवेस्योर नामक महिला से विवाह कर वह पेरिस में आ बसा। यहाँ यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि यायावरी के इन दिनों का रूसो के विचारों एवं कार्यों पर अमिट प्रभाव पड़ा। इस उद्देश्यहीन जीवन के संदर्भ में ग्रेब्ज ने उचित ही लिखा है– ''जो दिन रूसो ने घुमक्कड़ी में बिताया, उन्हीं में उसके मस्तिष्क एवं हृदय पर प्रकृति प्रेम की अमिट छाप पड़ी। इन्हीं दिनों निर्धनों और शोषितों के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति की लहर पैदा हुई।'' अठारहवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस में फैली हुई सामाजिक विषमताओं, नैतिक आडम्बरों और व्यर्थ के ऐश्वर्य प्रदर्शनों से रूसो का विश्वास तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से उठ गया। इस बीच उसने मिल्टन, लॉक, हॉब्स जैसे प्रसिद्ध दार्शनिकों की पुस्तकों का अध्ययन किया। फ्रांस की सामाजिक–राजनीतिक स्थिति, रूसो के अपने अनुभव तथा इन विद्वानों की कृतियों के सम्मिलित प्रभाव से रूसो के विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। रूसो को सर्वप्रथम तब प्रसिद्धि प्राप्त हुई जब उसने डिजान एकेडमी की निबन्ध प्रतियोगिता में 1750 ई0 में ''हेज दि प्रोग्रेस ऑफ साइन्सेज एण्ड आर्ट्स कन्ट्रिब्यूटेड टू करप्ट ऑर प्यूरिफाय मोरेलिटी?'' (विज्ञान और कला की प्रगति का परिणाम नैतिकता में वृद्धि या गिरावट है?) रूसो का उत्तर था विज्ञान और कला की प्रगति से नैतिकता में गिरावट आई है। इस निबन्ध के कारण कल तक का भटकता इन्सान अनायास ही प्रसिद्ध हो गया। तीन वर्षों बाद पुनः इसी एकेडमी में ''मानवों में असमानता के कारण तथा यह प्राकृतिक नियम द्वारा स्वीकृत है या नहीं?'' (ह्वाट इज दि ऑरिजिन ऑफ इनइक्वेलिटी एमंग मेन एण्ड इज इट आउथराइजिड बाय नेचुरल लॉ?) पर दूसरा निबन्ध सम्पूर्ण यूरोप में प्रसिद्ध हो गया। इस उपन्यास से वह एक महान प्रकृतिवादी दार्शनिक के रूप में स्थापित हो गया जिसने तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं का विरोध किया।

रूसो अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं : 'दि न्यू हेल्वायज', 'दि एमिल' तथा 'दि कॉनफेसन्श' के कारण एक महान दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित तो हुआ पर उसके जीवन के अन्तिम दिन कष्टों में बीते। वह अपमानित हो इंग्लैंड, जेनेवा तथा फ्रांस में भागता फिरता रहा। अंततः 1778 ई0 में फ्रांस में उसकी

मृत्यु हुई। 1789 ई0 में फ्रांस की क्रांति प्रारम्भ हुई। फ्रांस की क्रांति का एक महत्वपूर्ण कारक रूसो के क्रांतिकारी विचार थे। नेपोलियन ने ठीक ही कहा थाः ''रूसो के बिना फ्रांस की क्रांति संभव नहीं थी।'' रूसो को न केवल एक दार्शनिक के रूप में ही वरन् महान क्रांतिकारी के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

रूसो की प्रमुख रचनायें– रूसो की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैंः–

'दि प्रोगेस ऑफ साइन्सेज एण्ड आर्ट्स', 'दि ऑरिजिन ऑफ इनइक्वेलिटी एमंग मेन', 'डिस्कोर्स ऑन पोलिटिकल इकोनॉमी', 'दि न्यू हेल्वायज', 'दि सोशल कॉन्ट्रेक्ट', 'दि एमिल', 'कन्सीडरेसन ऑन दि गवर्नमेन्ट ऑफ पोलैण्ड', 'दि कॉनफेसन्श' आदि।

शिक्षा की दृष्टि से रूसो की सर्वप्रसिद्ध रचना एमिल है जिसमें उसने एमिल नाम के एक काल्पनिक बालक को शिक्षा देने की प्रक्रिया का वर्णन किया है। यद्यपि रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार एमिल तक ही सीमित नहीं है पर रूसो का मूल्यांकन एमिल के आधार पर ही होता है। लार्ड मारले ने इस कार्य के बारे में कहा ''साहित्य के इतिहास में यह एक कालजयी रचना है। यह चरित्र की गहराइयों को छूता है। यह माता–पिता में आत्मसम्मान का भाव भरता है और उनके कार्य को स्पष्ट करता है। यह जमा दुराग्रहों को खत्म करता है। इसने नर्सरी एवं विद्यालयों की कक्षाओं में– जिनके दरवाजे एवं खिड़कियां बन्द रहीं हैं– प्रकाश एवं शुद्ध हवा भर दिया।'' फ्रेडरिका मेकडोनाल्ड ने भी कहा कि शिक्षा के क्षेत्र में चल रहे अमानवीय सिद्धान्तों एवं कार्यों को एमिल ने गहरी चोट पहुँचाई। पेस्टालॉजी और फ्रोबेल के काफी पहले रूसो ने आधुनिक शिक्षा पद्धति की नींव रखी। अध्यापकों और माता–पिता को जीवन के प्रभात बेला में ही बच्चों की खुशियों का गला घोटने के लिए लज्जित होना सिखाया।

शिक्षा की दृष्टि से 'दि न्यू हेल्वायज' (1761 ई0) भी महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने गृह–शिक्षा का वर्णन किया है। इस पुस्तक में रूसो शिशु के प्रति माता के दायित्वों का वर्णन करते हुए उसे प्रारम्भिक काल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्यापक कहा।

1.4 रूसो का सामाजिक दर्शन

रूसो रूमानी प्रकृतिवादी विचारधारा के प्रतिपादक थे। इनके अध्ययन

का विषय सृष्टि की संरचना न होकर सृष्टि की आह्लादकारी प्रकृति तथा मानव प्रकृति है। इस विचारधारा को प्रकृतिवादी केवल इन अर्थों में कहा जा सकता है कि यह सामाजिक कृत्रिमता का विरोध करता है तथा मानव के प्रकृत जीवन को श्रेष्ठ मानता है। दार्शनिक दृष्टि से यह सम्प्रदाय आदर्शवाद के समीप है क्योंकि रूसो ने प्रकृति को ईश्वर की कृति माना है।

अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक कृत्रिमताओं, वर्गभेद, धार्मिक अंधविश्वास एवं राजनीतिक निरंकुशता से उठकर रूसो प्रकृति की ओर लौटने का नारा देता है। तत्कालीन समाज को वह सारी बुराइयों का जड़ मानता है। उसका मानना है कि समाज के नियम प्रकृति के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक नियमों पर आधारित होने चाहिए। रूसो ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि प्रकृति पर अधिकार उसके नियमों पर चल कर ही किया जा सकता है।

अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध जो विद्रोह हुआ उसको सबसे मुखर वाणी रूसो ने दी। रूसो का मानना था कि पूर्व में मानव निश्छल एवं अज्ञानी तो था पर उसका जीवन शांत और सरल था। उसकी आवश्यकतायें अल्प थी अतः वह उन्हें आसानी से संतुष्ट कर लेता था। लेकिन यह सुखद स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही और उसकी लालसायें बढ़ती गई– उसने अपने अधिकार को स्थापित करने हेतु सभ्यता का विकास किया। निजी सम्पत्ति पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा। इस कृत्रिम आवश्यकता ने ही लोभ की प्रवृत्ति को जन्म दिया। समाज का वर्गों में विभाजन होने लगा। एक तरफ तो प्रभुत्व वाले व्यक्ति थे और दूसरी ओर दास या गुलाम। अतः रूसो सभ्यता को एक भारी भूल बताता है तथा समाज को सारी बुराइयों का जड़। रूसो कहते हैं ''बच्चा जन्म स्वतंत्र–प्राणी के रूप में लेता है पर उसे सभी ओर से जंजीरों से बाँध दिया जाता है।'' अतः रूसो का कहना है कि समाज को और अधिक पतन से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज का पुनर्गठन मूल प्राकृतिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय।

रूसो के अनुसार राज्य के अस्तित्व का आधार आम सहमति (जनरल विल) है जिसका भाव सभी की भलाई है। अगर राज्य जनसामान्य की भलाई में असमर्थ है तो उसे समाप्त कर देना चाहिए। राज्य के नियम नागरिकों की सहमति के आधार पर बनने चाहिए न कि उनके प्रतिनिधियों की राय के आधार पर। इस प्रकार रूसो के राजनीतिक विचार अपने समय से काफी आगे था। सही अर्थों में रूसो को लोकतंत्र का अग्रदूत कहा जा सकता है।

रूसो का मानना था कि धर्म के संदर्भ में व्यक्ति को स्वयं निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। संस्थाबद्ध संगठनों द्वारा इसे व्यक्ति पर थोपना नहीं चाहिए।

रूसो मानव को जन्मजात अच्छा मानता है। मानव समाज के सम्पर्क में आकर बुराइयों को ग्रहण करता है। वह घोषणा करता है '' प्रकृति के हाथों आने वाली हर चीज अच्छी होती है; मानव समाज हस्तक्षेप करता है और वह दूषित हो जाती है।'' रूसो के अनुसार अच्छाई, सहानुभूति, दया, न्याय आदि गुण मानव में जन्मजात होते हैं। आवश्यकता है इन गुणों को समाज की बुराइयों से बचाये रखने की।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. रूसो की शिक्षा सम्बन्धी सर्वप्रमुख कृति कौन सी है? इसके संदर्भ में लार्ड मारले ने क्या कहा?

.....

.....

.....

.....

.....

2. रूसो के अनुसार राज्य के अस्तित्व का आधार क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.5 शिक्षा–दर्शन

रूसो के अनुसार शिक्षा में तीन महत्वपूर्ण पक्ष हैं– बच्चे की अन्तर्निहित शक्ति, सामाजिक वातावरण तथा भौतिक वातावरण।

शिक्षा प्रकृति, मानव या वस्तुओं से ली जा सकती है। तीनों के मध्य सहयोग या समन्वय हो तो आदर्श शिक्षा हो सकती है। पर यह सहयोग सम्भव नहीं है क्योंकि प्रकृति एवं मानव संघर्षरत रहता है। रूसो के शब्दों में ''हम बाध्य हैं मानव या प्रकृति से संघर्ष करने के लिए। आप मनुष्य या नागरिक में से एक का चुनाव कर लें– दोनों को आप साथ–साथ प्रशिक्षित नहीं कर सकते।'' रूसो का चुनाव प्राकृतिक शिक्षा है न कि सामाजिक शिक्षा।

रूसो दो तरह की शिक्षा व्यवस्था की बात करता है– पब्लिक या सार्वजनिक, जो बहुतों के लिए समान है तथा दूसरा प्राइवेट या घरेलू। पब्लिक शिक्षा का संचालन सरकार करती है क्योंकि यह लोकप्रिय सरकार की मूल आवश्यकता है। दि न्यू हेलॉयज् में रूसो प्राइवेट या निजी शिक्षा या घरेलू शिक्षा का वर्णन करता है। इस घरेलू शिक्षा में माँ मुख्य अध्यापिका है।

रूसो का विद्यार्थी कोई विशेष बालक नहीं बल्कि सामान्य बालक है। रूसो ने कहा ''हमलोगों को सामान्य को देखना चाहिए न कि विशेष को, अपने विद्यार्थी को हम अमूर्त मानें।'' इस तरह से रूसो मानव के सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक प्रकृति पर बल देता है, अतः एमिल को प्रजातांत्रिक शिक्षा का स्रोत माना जाता है। रूसो पहला शिक्षाशास्त्री है जो सार्वजनिक शिक्षा पर जोर देता है।

रूसो का शिक्षा–दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि बच्चे को इस तरह से तैयार किया जाय कि वे अपनी स्वतंत्रता का भविष्य में सही उपयोग कर सकें। बड़ों के पूर्वाग्रह से मुक्त रहते हुए बच्चे को अपने बचपन का आनन्द उठाने का अधिकार है।

रूसो के अनुसार बालक की शिक्षा के तीन प्रमुख स्रोत हैं– (i) प्रकृति (ii) पदार्थ (iii) मनुष्य। रूसो के अनुसार बालक का विकास प्रकृति तथा पदार्थ के माध्यम से होता है। मानव यानि अध्यापक जब अपनी ओर से शिक्षा देने लगता है तो बच्चे की स्वाभाविक शिक्षा प्रभावित होती है और कुशिक्षा प्रारम्भ हो जाती है। रूसो के अनुसार शिक्षक पर समाज की बुराइयों का इतना अधिक प्रभाव पड़ चुका होता है कि वह बच्चों में सद्‌गुणों का विकास नहीं कर

सकता क्योंकि उसमें स्वयं सद्‌गुण बचे नहीं रहते हैं। अतः कम से कम प्रारम्भिक स्तर पर बच्चे की शिक्षा में रूसो अध्यापक की कोई भूमिका नहीं देखता है। माता–पिता ही इस अवस्था में बच्चों के सहज शिक्षक होते हैं। उन्हें भी कम से कम हस्तक्षेप करते हुए बच्चे को अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

1.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव को प्रकृति के अनुरूप जीवन जीने के योग्य बनाना है। शिक्षा द्वारा मानव संसर्ग के परिणामस्वरूप जो कृत्रिमता उसमें आती है, उससे उसकी रक्षा करता है। रूसो सामाजिक संस्थाओं और उनमें विद्यमान रूढ़ियों के कटु आलोचक हैं। वे कहते हैं– ''तुम समाज सम्मत व्यवहार के ठीक विपरीत कार्य करो। और तुम प्रायः सही होगे।'' वे मानवीय सामाजिक संस्थाओं को 'मूर्खता तथा विरोधाभास का समूह बताते हैं।'' रूसो प्रकृति को ईश्वर निर्मित मानता है और बच्चे को ईश्वरीय कृति। वह मानता है कि जब तक बच्चा प्रकृति के प्रभाव में रहता है तब तक वह सद्‌गुणी, शुभ तथा पवित्र रहता है परन्तु मानव के हस्तक्षेप से उसमें गिरावट आने लगती है। इस प्रकार रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालकों में अन्तर्निहित प्रकृत स्वभाव एवं गुणों को सुरक्षित रखना है।

रूसो ने शिक्षा को केवल अभिजात्य वर्ग तक ही सीमित न रखकर उसे जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयास किया। रूसो ने अमीर घर के बच्चों को भी प्राकृतिक शिक्षा देने की वकालत की। रस्क (2000) के शब्दों में यह अमीर घर के बच्चों को भी गरीबी की शिक्षा देना चाहते थे ताकि भावी जीवन में जो भी स्थिति बने वह सफलता पूर्वक विपत्ति या दुर्भाग्य का सामना कर सके। रूसो सामान्य या प्राकृतिक मानव के आदर्श पर जोर देता है न कि प्लेटो की तरह सुपरमैन के आदर्श पर।

रूसो मजबूत, अच्छे शरीर सौष्ठव का स्वस्थ बच्चा चाहता है। रूसो कमजोर शरीर एवं कमजोर मस्तिष्क के बच्चे को पसन्द नहीं करता है क्योंकि एक स्वस्थ शरीर ही स्वस्थ मन एवं उच्च नैतिक चरित्र का आधार है। रूसो का कहना था '' कमजोर शरीर कमजोर मस्तिष्क का निर्माण करता है।''

रूसो शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता का विकास मानते हैं। पर नैतिकता का विकास प्राकृतिक परिणामों के द्वारा होना चाहिए न कि व्याख्यानों के द्वारा। रूसो कहते हैं ''बच्चे के लम्बे अवकाश काल (प्रथम बारह वर्ष) में नैतिक

शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष पाठ नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। एकमात्र नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिए ''किसी को आघात मत पहुँचाओं।'' रूसो लोककथाओं द्वारा भी अप्रत्यक्ष रूप से नैतिक शिक्षा देने के विरूद्ध हैं।

1.5.2 छात्र–संकल्पना

रूसो बालक को ईश्वर की पवित्र कृति मानता है। प्रकृति–निर्माता के हाथों से जो भी वस्तु आती है वह पवित्र होती है परन्तु मनुष्य के हाथों में आकर उसकी पवित्रता खत्म होने लगती है। रूसो बालक को जन्म से अच्छा और पवित्र मानता है और यह सुझाव देता है कि बालक के प्रकृत गुणों को शिक्षा के द्वारा समाप्त न किया जाये। रूसो का यह स्पष्ट मत है कि बच्चे को बच्चा रहने दिया जाये– शिक्षा द्वारा कृत्रिम रूप से उसे अल्पावस्था में ही व्यस्क बनाने का प्रयास न किया जाये। मानव–जीवन के क्रम में बचपन का एक स्थान है, निश्चय ही प्रौढ़ को प्रौढ़ और बच्चे को बच्चा मानकर व्यवहार करना चाहिए।

रूसो बालक पर किसी भी तरह के दबाव डाले जाने का विरोधी है। वह समाज की बुराइयों से बच्चे को बचाना चाहता है। वह उसे प्रसन्न देखना चाहता है। रूसो परम्परागत शिक्षा के अवगुणों पर ध्यान खींचते हुए पूछता है ''उस निर्दयी शिक्षा को क्या कहा जाए, जो वर्तमान को अनिश्चित भविष्य के लिये बलिदान करा देती है, जो बालक को सभी तरह से प्रतिबंधित कर उसके जीवन को भविष्य की ऐसी खुशी के लिए दुखमय बना देती है जो शायद वह कभी प्राप्त न कर सके।''

रूसो प्रकृति की व्याख्या 'स्वभाव' की दृष्टि से भी करता है। बालक की रूचि एवं स्वभाव के अनुसार शिक्षा देने की बात सर्वप्रथम कही जाने लगी फलस्वरूप बालकेन्द्रित शिक्षा का आन्दोलन चल पड़ा। पर इन सबके मूल में रूसो की छात्र या बालक संकल्पना ही है।

1.5.3 विद्यार्थी जीवन के सोपान

रूसो ने विद्यार्थी के जीवन को चार भागों में बाँटा है–

(अ) शैशवावस्था

(ब) बाल्यकाल (12 वर्ष की अवस्था तक)

(स) पूर्व किशोरावस्था (12 से 15 वर्ष) तथा

(द) किशोरावस्था (15 वर्ष से आगे)

रूसो कहते हैं ''प्रत्येक शिक्षा के लिए एक निश्चित समय है और हमें इससे जानना चाहिए।''

(अ) शैशवावस्था : रूसो का मानना है कि शिक्षा जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है। वे बच्चे की उचित देखभाल का नियम बताते हैं। इस काल में उसके शरीर एवं इन्द्रियों के सही विकास पर ध्यान देना चाहिए। बच्चे की मातृभाषा में वार्तालाप के द्वारा उनमें भाषा की योग्यता का विकास किया जा सकता है। रूसो बच्चों में आदतों के विकास का विरोध करता है। वह कहता है ''बच्चे को केवल एक आदत विकसित करने देना चाहिए और वह है किसी भी आदत का नहीं होना।'' इस समय बच्चों को अपनी स्वतंत्रता पर नियंत्रण रखने के लिए तैयार किया जाता है। उसमें आत्म नियंत्रण की भावना भरी जाती है।

(ब) बाल्यकाल : इस काल में भी रूसो लड़कों के लिए किसी भी तरह के पाठ्य पुस्तक के उपयोग का विरोध करता है। वह बारह वर्ष तक एमिल को पुस्तकों से दूर रखना चाहता था। एकमात्र पुस्तक 'राबिन्सन क्रूसो' को छोड़कर। लड़के को निरीक्षण एवं अनुभव के द्वारा सीखने का अवसर मिलना चाहिए। इन्हें अलग से कुछ भी नहीं पढ़ाना चाहिए। इस तरह से निषेधात्मक शिक्षा के संप्रत्यय का विकास हुआ।

निषेधात्मक शिक्षा रूसो के शिक्षा–सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण आयाम है। एमिल के प्रशिक्षण का सिद्धान्त है ''हर तरह के ज्ञान के ग्रहण का एक निश्चित समय होता है, और वह समय है जब बच्चा उसकी आवश्यकता अनुभव करता है।'' रूसो के अनुसार यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। जबकि परम्परागत पद्धति में विद्यार्थी की आवश्यकता का अनुमान किया जाता है। ''प्रौढ़ो के द्वारा दी गई शिक्षा प्रायः समय पूर्व होती है।'' इस सिद्धान्त के आधार पर ही रूसो बारह वर्ष की आयु तक बच्चे की शिक्षा रोके रहने की बात कहता है। इस समय तक उसे शिक्षा न दी जाये और उसे अवसर दिया जाय कि वह बिना कोई सामाजिक बुराई ग्रहण किये बारह वर्ष तक का समय व्यतीत करे। इसे रूसो ने निगेटिव एडुकेशन (निषेधात्मक शिक्षा) कहा।

रूसो चाहते हैं कि बच्चे में सही कार्य करने की आदत डाली जाय, जो कि नैतिक जीवन का पहला पाठ है। सही और गलत की समझ सामाजिक जीवन के बजाय प्रकृति द्वारा होती है। निर्भरता दो तरह की होती

है– वस्तुओं पर निर्भर करना, जो कि प्रकृति का कार्य है; तथा मानव पर निर्भर करना जो कि समाज का कार्य है। वस्तु पर निर्भरता गैर नैतिक है तथा स्वतंत्रता को आघात नहीं पहुँचाती है और न ही दुर्गुणों को जन्म देती है।

बारह वर्ष तक की उम्र तक की शिक्षा का प्रमुख सिद्धान्त है ''बच्चे को वस्तुओं पर निर्भर रहने दो। इससे मानव पर निर्भर रहने से स्वतंत्रता मिल जाती है।'' यह गैर नैतिक एवं गैर सामाजिक शिक्षा है। अतः प्रारम्भिक वर्षों की शिक्षा केवल निषेधात्मक होनी चाहिए। इसमें अच्छाइयों या सत्य को पढ़ाना नहीं है वरन् हृदय को बुराइयों तथा गलत होने की भावना से बचाना है। मुख्य सिद्धान्त है समय को बचाया न जाय वरन् इसे व्यतीत करने दिया जाय। इस काल में शरीर, अंगों, इन्द्रियों का व्यायाम होना चाहिए पर मस्तिष्क को निष्क्रिय रहने देना चाहिए।

बच्चे को पुस्तकीय ज्ञान देने की जगह उसे खेलने–कूदने, एवं इच्छानुसार अन्य क्रियाओं को करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इन क्रिया–कलापों एवं अनुभवों से उसका शरीर शक्तिशाली होगा जिससे मानसिक क्षमता भी बढ़ेगी। रूसो के अनुसार नैतिक शिक्षा देने के स्थान पर उसे अपने कार्यों के प्राकृतिक परिणाम के आधार पर उचित–अनुचित के विवेक के विकास का अवसर मिलना चाहिए। अतः इस काल में किसी औपचारिक पाठ्यक्रम की आवश्यकता नहीं है।

(स) पूर्व किशोरावस्था : बारह वर्ष की आयु के उपरांत रूसो बच्चों को तीव्रता से शिक्षा देने की बात कहता है। यह तीव्रता संभव है क्योंकि विद्यार्थी अधिक परिपक्व होता है और ज्ञान को अधिक वस्तुगत या मूर्त तथा व्यावहारिक रीति से दिया जाता है। रूसो कहते हैं ''मुझे बारह वर्ष का एक लड़का दीजिए जो कुछ भी नहीं जानता हो लेकिन पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वह उतना जानता होगा जितना उस उम्र का लड़का जो शैशवावस्था से ही शिक्षा प्राप्त कर रहा है, पर इस अन्तर के साथ कि तुम्हारा छात्र रट कर चीजों को जानता है जबकि मेरा विद्यार्थी इन चीजों को कैसे प्रयोग किया जाय जानता है।''

रूसो के अनुसार इस स्तर पर प्राकृतिक विज्ञान, भाषा, गणित, काष्ठकला, संगीत, चित्रकला, सामाजिक जीवन तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इस स्तर पर भी पुस्तकों से अधिक जोर विद्यार्थी द्वारा इन्द्रियों के प्रयोग द्वारा अनुभव प्राप्त करने पर होना चाहिए। विज्ञान का

अध्ययन लड़के की जिज्ञासा को बढ़ायेगा उसे खोज या अविष्कार हेतु प्रेरित करेगा तथा वह स्वयं सीखने की प्रक्रिया को तेज करेगा। चित्रकला आंख और मांसपेशियों को प्रशिक्षित करेगा। शिल्प या हस्त उद्योग लड़के में कार्य करने की क्षमता का विकास करेगा। सामाजिक जीवन में व्यावहारिक अनुभव से वह समझेगा कि मानव एक दूसरे पर निर्भर करेगा, जिससे बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व को समझेगा और उसका निर्वहन करेगा।

रूसो का कहना है कि किताबें ज्ञान नहीं देती है वरन् बोलने की कला सिखाती है। अतः पाठ्यक्रम पुस्तकों पर आधारित न होकर कार्य पर आधारित होना चाहिए। इस काल में किशोर को शिक्षा प्राप्त करने एवं कठिन परिश्रम करने के लिए पर्याप्त समय और अवसर मिलना चाहिए।

(द) किशोरावस्था : शिक्षा के चतुर्थ चरण में रूसो नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा पर जोर देता है। नैतिक शिक्षा भी वास्तविक अनुभव के द्वारा होनी चाहिए न कि व्याख्यानों के द्वारा। जैसे कि एक नेत्रहीन व्यक्ति को देखने के बाद किशोर या नवयुवक में सहानुभूति, प्रेम, स्नेह, दया जैसे भावों का स्वतः संचार होता है। धार्मिक शिक्षा भी इसी तरह से देने का सुझाव रूसो ने दिया पर इसके लिए इतिहास, पौराणिक एवं धार्मिक कथाओं का भी उपयोग किया जा सकता है। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के अतिरिक्त रूसो शारीरिक स्वास्थ्य, संगीत और यौन शिक्षा को भी महत्व प्रदान करता है।

1.5.4 पाठ्यक्रम

जैसा कि हमलोग देख चुके है रूसो प्रथम बारह वर्षों तक औपचारिक शिक्षा देने का विरोधी है। साथ ही पाठ्यक्रम में कई विषयों एवं उनके परम्परागत शिक्षण–विधियों का भी विरोध करता है। रूसो भाषा की शिक्षा को व्यर्थ मानता है। भूगोल में विश्व कैसा है यह पढ़ाने की जगह केवल नक्शा पढ़ाया जाता है। ''उसे शहरों, देशों, नदियों के केवल नाम पढ़ाये जाते हैं जिसका उसके लिए कोई अस्तित्व नहीं है केवल उसके सामने रखे कागज पर छोड़कर। यह और अधिक हास्यापद गलती है कि इस स्तर पर इतिहास पढ़ाया जाता है जबकि वे उन सम्बन्धों को नहीं समझ पाते जिन्हें राजनीतिक क्रिया कहते हैं।''

जिन विषयों की शिक्षा देने की रूसो संस्तुति करता है वे हैं–

शारीरिक शिक्षा : बारह वर्ष तक की अवस्था तक धनात्मक शिक्षा

शारीरिक व्यायाम तथा इन्द्रियों के प्रशिक्षण तक सीमित है। शारीरिक शिक्षा स्पार्टा के मॉडल पर आधारित है। अच्छे स्वास्थ्य पर प्रकाश डालते हुए रूसो कहता हैः ''अगर आप अपने छात्र की बुद्धि विकसित करना चाहते है तो पहले उस शक्ति का विकास करो जिसे बुद्धि नियंत्रित करेगा। उसके शरीर को लगातार व्यायाम दो, उसे शक्तिशाली एवं स्वस्थ होने दो ताकि वह अच्छा एवं बुद्धिमान बने। उसे दौड़ने दो, चिल्लाने दो, कुछ न कुछ करने दो। इससे वह एक शक्तिशाली एवं विवेकशील मानव होगा। उसमें खिलाड़ी का बल और दार्शनिक की दृष्टि होगी।''

इन्द्रियों का प्रशिक्षण : रूसो इन्द्रियों के प्रशिक्षण पर अत्यधिक जोर देता है। वह कहता है कि हमारा पहला अध्यापक हाथ, पैर, आंख आदि है। इनकी जगह हम पुस्तक रखते हैं तो यह दूसरे के अनुभव या तर्कों का प्रयोग करना हुआ न कि अपना। इन्द्रियों के प्रशिक्षण से रूसो का तात्पर्य औपचारिक व्यायाम न होकर वास्तविक परिस्थितियों में निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना है– जैसी परिस्थितियों का वह भविष्य में सामना करेगा।

प्रथम इन्द्रिय जिसे रूसो प्रशिक्षित करने का सुझाव देता है वह स्पर्श है। इसका प्रशिक्षण अंधेरे में देना चाहिए। स्पर्श अगर देखते हुए किया जाय तो मस्तिष्क देखने की क्रिया से वस्तु के बारे में निर्णय ले लेता है। दूसरी तरफ, स्पर्श के द्वारा विभेदीकरण सुनिश्चित है। यह अन्य इन्द्रियों के जल्दीबाजी में लिए गये गलत निर्णयों को सही करता है।

दृष्टि के प्रशिक्षण हेतु रूसो ऐसे कार्यों को बताता है– यह तय करना कि सीढ़ी इतनी लम्बी है या नहीं कि वह पेड़ की उच्चतम शाखा तक पहुँच जाय, कोई लकड़ी इतनी लम्बी है कि नहीं वह किसी जलधारा को ढ़ँक दे, मछली पकड़ने हेतु धागे की लम्बाई पर्याप्त है या नहीं, दो वृक्षों के मध्य झूला बाँधने के लिए रस्सी की लम्बाई कम ता नहीं है। दौड़ में असमान दूरी देकर तथा बच्चे को तय करने देना कि कौन सी दूरी सबसे छोटी है ताकि वह उसे चुन सके। रूसो के अनुसार दृष्टि सभी इन्द्रियों में से वह है जिसे हमें मस्तिष्क के निर्णय से सबसे कम अलग कर सकते हैं, इसलिए स्पर्श की तुलना में देखना सीखना में अधिक समय लगता है। दृष्टि को प्रशिक्षित करना आवश्यक है जिससे वह दूरी और आकार के बारे में सही जानकारी दे सके। इसी तरह रूसो अन्य इन्द्रियों– श्रवण, स्वाद, घ्राण के प्रशिक्षण की आवश्यकता बताता है।

इस पूरे काल में रूसो एमिल को पढ़ाता नहीं है वरन् भावी शिक्षा के लिए तैयार करता है। इस समय 'समय को व्यतीत करना और उसे बचाना' मुख्य उद्देश्य है। इस काल की शिक्षा के संदर्भ में रूसो कहते हैं: ''उसके विचार कम है लेकिन स्पष्ट है, वह रट कर कुछ नहीं जानता पर अनुभव के द्वारा बहुत जानता है। अगर वह अन्य बच्चों की तुलना में किताब खराब ढ़ंग से पढ़ता है तो वह प्रकृति की पुस्तक को काफी बेहतर पढ़ता है, उसके विचार उसके जिह्वा नहीं उसके मस्तिष्क में रहता है; उसे याद कम है और निर्णय अधिक है। वह केवल एक भाषा बोल सकता है पर वह समझता है कि वह क्या बोल रहा है; और अगर उसकी भाषा उतनी अच्छी नहीं है जितना अन्य बच्चों के तो उसके कार्य दूसरों से बेहतर हैं।'' ''उसने बचपन का सर्वोत्तम प्राप्त किया है, उसने बच्चों का जीवन जिया है; उसकी प्रगति उसकी खुशियों की कीमत पर नहीं खरीदी गई है; उसने दोनों प्राप्त किया है।''

बारह वर्ष की आयु के उपरांत पाठ्यक्रम : यह काल बाल्यावस्था से किशोरावस्था के मध्य परिवर्तन का काल है। पहला काल आवश्यक से सम्बन्धित था, यह काल उपयोगी से सम्बन्धित है तथा आगे का काल क्या सही है इससे सम्बन्धित है। रूसो कहते हैः ''प्रारम्भिक बाल्यवस्था में लम्बा समय था– हमने केवल अपना समय व्यतीत करने का प्रयास किया ताकि इसका दुरूपयोग न हो, अब विपरीत स्थिति है– हमलोगों के पास उन सभी के लिए जो उपयोगी हैं, पर्याप्त समय नहीं है।

जिन ज्ञान को प्राप्त करना है उनका चुनाव बड़ी सावधानी से होना चाहिए। यह निश्चित रूप से बच्चे की वर्तमान आवश्यकता के अनुकूल हो। ''इसका क्या उपयोग है? यही पवित्र सूत्र है।'' विगत काल में जिन विषयों को छोड़ दिया गया था– उन पर उपयोगिता की दृष्टि से पुनर्विचार होने चाहिए, तथा जो विषय उपयोगी होने की परीक्षा उत्तीर्ण करे उनकी शिक्षा दी जानी चाहिए। यह अध्यापक का काम नहीं है कि छात्र को विभिन्न विषय/विज्ञान पढ़ाये। पर उसे विषयों की जानकारी दे और जब छात्र में रूचि हो सीखने की विधि बताये।

शिल्प की शिक्षा : एमिल को एक शिल्प या हस्तउद्योग अवश्य सीखना चाहिए, सीखने के लिए कम पर इसे बिना प्राप्त न करने से उत्पन्न होने वाले पूर्वाग्रह से मुक्त होने के लिए अधिक। रूसो इसके महत्व को मानते हुए कहते हैं ''अगर मैं उक बच्चे को पुस्तक से मुक्त कर एक कार्यशाला में

काम करने हेतु भेजता हूँ तो यह उसके मस्तिष्क के विकास के लिए। यद्यपि वह कार्य करते हुए एक शिल्पी या मजदूर होने की कल्पना करता है पर वह एक दार्शनिक बन रहा होता है।'' एमिल के लिए जिस कार्य की कल्पना रूसो करते हैं वह है काष्ठकार्य। ''यह साफ–सुथरा एवं उपयोगी हैः इसे घर में किया जा सकता है, यह पर्याप्त व्यायाम देता है, यह कौशल और परिश्रम चाहता है तथा प्रतिदिन के प्रयोग के लिए वस्तुओं का निर्माण करते हुए परिष्कार और सुरूचि के विकास की संभावना बनी रहती है।'' रूसो के अनुसार एमिल को अनिवार्यतः एक किसान की तरह काम करना चाहिए तथा एक दार्शनिक की तरह सोचना चाहिए।'' रूसो के अनुसार शिक्षा का महान रहस्य है शरीर और मस्तिष्क के व्यायाम को एक–दूसरे के आराम के लिए प्रयोग करना।

औद्योगिक एवं यांत्रिक कला : अब तक विद्यार्थी जहाँ तक संभव हो वस्तुओं पर निर्भर करता था। ''बच्चा तब तक वस्तुओं पर निर्भर करता है जब तक वह मानव के अध्ययन के लिए बड़ा एवं योग्य नहीं हो जाता है।''

सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की समझ अब आवश्यक है। आदमियों के परस्पर सम्बन्धों एवं कर्तव्यों को सीधे तौर पर सिखाने की जगह– अध्यापक को विद्यार्थी का ध्यान औद्योगिक एवं यांत्रिक कला की ओर खींचना चाहिए जिसमें परस्पर सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। मानव की मानव पर आर्थिक र्निभरता के आधार पर अध्यापक अपने विद्यार्थियों में सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता को महसूस करायेगा। रूसो के अनुसार सारी सम्पत्ति समुदाय की है तथा प्रत्येक व्यक्ति समुदाय के लिए अपनी भूमिका का निर्वहन करता है।

पन्द्रह वर्ष तक की शिक्षा का निचोड़ रूसो के शब्दों में निम्न है–

''अपने ऊपर आधिपत्य पाकर, हमारा बच्चा अब बच्चा रहने के लिए तैयार नहीं है। उसके शरीर और मस्तिष्क को क्रियाशील कराने के बाद आपने उसके मस्तिष्क एवं उसके निर्णय को क्रियाशील किया है। और अंततः उसके अंगो और बौद्धिक क्षमताओं को जोड़ दिया है। हमलोगों ने उसे एक मजदूर या शारीरिक श्रम करने वाला तथा एक विचारक बनाया है। अब उसे हम स्नेहसिक्त और कोमल हृदय का बनायें।''

पन्द्रह वर्ष के उपरांत पाठ्यक्रम : छात्र अब नैतिक स्तर पर पहुँच जाता है। उसे एक जवान व्यक्ति का सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए। रूसो इस

आयु की शिक्षा के संदर्भ में कहता है ''उसे यह जानने दो कि मानव प्रकृति से अच्छा है, उसे यह महसूस करने दो, उसे अपने पड़ोसियों के संदर्भ में स्वयं निर्णय लेने दो, लेकिन उसे यह भी देखने दो कि समाज ने मानव को किस तरह से विकृत किया है। उसे महसूस करने दो कि मानव के पूर्वनिर्धारित विचारों या पूर्वाग्रह ही सारी बुराइयों की जड़ है। उसे व्यक्ति को आदर देने दो पर समूह को नापसन्द करने दो, उसे महसूस करने दो कि सभी मानव एक ही मुखौटा लगाते हैं लेकिन उसे यह भी जानने दो कि कुछ चेहरे उस मुखौटे से बेहतर होते हैं जो उसे छिपाता है।''

इतिहास : रूसो के अनुसार अब इतिहास की शिक्षा दी जानी चाहिए। इतिहास के माध्यम से वह बिना दर्शन पढ़े मानव के हृदय को समझ सकता है। वह उन्हें बिना किसी भावना या पक्षपात के निरपेक्ष दर्शक की तरह देखेगा– न्यायाधीश की दृष्टि से देखेगा। ''इतिहास को क्रांति और बर्बादी रूचिकर बनाता है। जब तक राष्ट्र शांतिपूर्ण ढ़ंग से विकास करता है इतिहास उस ओर ध्यान नहीं देता है– पतन की प्रक्रिया पर जोर देता है। शैतान चरित्र सिद्ध हो जाते हैं– अच्छे को भूला दिया जाता है। इस तरह से इतिहास, दर्शन की तरह मानव को गिराता है।'' दूसरी कठिनाई यह है कि इतिहास मानव की जगह क्रिया को दिखाता है। वह मानव को कुछ चुने हुए समय में ही दिखाता है। घटनाओं के धीमे विकास की प्रक्रिया को इतिहास नहीं देख पाता है। युद्ध उन घटनाओं को दिखाता है जो नैतिक कारणों द्वारा सुनिश्चित होता है, जिसे कुछ ही इतिहासकार समझ पाते हैं। इतिहास के चरित्र को आदर्श (मॉडल) नहीं माना जा सकता।

नैतिकता : रूसो प्राचीन जीवनियों जैसे प्लूटार्क की जीवनी पढ़ने का सुझाव देता है वह आधुनिक जीवनियों को महत्व प्रदान नहीं करता है। विद्यार्थी के प्रशिक्षण में बरती गई तमाम सावधानियों के बावजूद गलतियाँ हो सकती हैं– इनका सुधार अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए। ''गलतियों का समय (लोककथाओं) का समय है।'' एक कहानी की सहायता से अगर हम गलतियों का एहसास कराते हैं तो वह अपमानित महसूस नहीं करता है। लेकिन कहानी की शिक्षा अलग से बताने की जरूरत नहीं है– क्योंकि वह तो कहानी में ही स्पष्ट रहता है।

धार्मिक शिक्षा : पन्द्रह वर्षों तक विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा देने का रूसो विरोध करता है। उसके अनुसार अभी तक एमिल ने शायद ही ईश्वर

का नाम सुना होगा। पन्द्रहवें वर्ष तक वह शायद ही यह जान पाया होगा कि उसके पास एक आत्मा है, अठारहवें वर्ष में भी शायद इसकी शिक्षा के लिए तैयार न हुआ हो। रूसो एमिल को किसी सम्प्रदाय से जोड़ने का सुझाव नहीं देता है– वह स्वयं अपनी समझ के अनुसार निर्णय लेगा। यद्यपि रूसो 'दि क्रीड ऑफ ए सवोयाड प्रिस्ट' के पक्ष में है। रूसो यह नहीं बताता है कि क्यों कोई सम्प्रदाय बेहतर है।

रूसो आन्तरिक प्रकाश पर जोर देता है। सत्य स्वयं स्पष्ट है। जिस पर ईमानदारी से विश्वास करने से इन्कार नहीं कर सकता है। रूसो एमिल के लिए प्राकृतिक धर्म दिये जाने का प्रस्ताव रखता है।

सौन्दर्यशास्त्र : रूसो किशोर के लिए सौन्दर्यशास्त्र पढ़ने की अनुशंसा करता है– रूचि के सिद्धान्त का दर्शन। रूचि जो हृदय में प्रवेश करता है, शास्त्रीय ग्रन्थों में ही उपलब्ध है। इन्हें नैतिकता की ही तरह सौन्दर्यशास्त्र के शिक्षण में रूसो उपयोग में लाना चाहता है।

शारीरिक प्रशिक्षण : किशोरावस्था में शारीरिक प्रशिक्षण की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। छात्र को किसी एक व्यवसाय में लगा होना चाहिए जो उसे परिश्रमी बनायेगा। किसी एक पेशे जिसमें वह अत्यधिक रूचि लेने लगता है, जिसमें वह अपने को पूर्णतः लगा देता है उसे और अधिक गहनता से प्राप्त करने का सुझाव देता है।

यौन शिक्षा : रूसो के अनुसार अगर आवश्यक हो तो शुचिता या पवित्रता हेतु नैतिक उपदेश दिए जा सकते है। छात्र को प्रकृति के नियम का संपूर्ण सच बतायें। विवाह पवित्रम तथा मधुरतम सामाजिक सम्बंध है। इसके विरूद्ध जाने वाला निन्दा का पात्र बनते हैं। शुचिता या पवित्रता की इच्छा पर स्वास्थ्य, मजबूती, साहस, नैतिकता, प्यार आदि अच्छे गुण निर्भर करते हैं। यौन–प्रृवत्ति को आदर्श स्त्रियोचित गुण के प्रति अनुराग के रूप में परिष्कृत करना चाहिए। आदर्श संगिनी के रूप में रूसो सोफी, एमिल की भावी पत्नी, के लिए शिक्षा की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

1.5.5 शिक्षण–विधि

रूसो अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को शिक्षण–विधि का आधार बनाता है। बच्चे को पढ़ाये जाने की क्रिया को वह बचपन का अभिशाप मानते है। अगर बच्चे में जानने या सीखने की इच्छा जागृत हो जायेगी तो वह स्वयं

सीख लेगा। रूचि सीखने की पहली शर्त है। हमलोग वैसे पाठ से कुछ भी नहीं सीख सकते जिसे हम नापसन्द करते हैं। उसने शिक्षण–विधि में निम्नलिखित दो सिद्धान्तों को महत्व दिया–

(अ) अनुभव के द्वारा सीखना : रूसो एमिल को किताबों की बजाय अनुभव के द्वारा शिक्षित होते देखना चाहता था। रूसो पुस्तकों का विरोधी था क्योंकि उसकी दृष्टि में पुस्तक वैसी चीजों के बारे में बोलना सिखाता है जिसे हम जानते नहीं हैं। रूसो प्रथम बारह वर्षों तक बच्चे को पुस्तकों की दुनिया से अलग रखना चाहता था। केवल राबिन्सन क्रूसो नामक पुस्तक को छोड़कर। यह किताब मानव की प्राकृतिक आवश्यकताओं का बड़े ही सरल ढ़ंग से विश्लेषण करता है। बच्चा इसे आसानी से समझ सकता है और इन आवश्यकताओं को कैसे संतुष्ट किया जाय यह भी सीख सकता है।

(अ) कर के सीखना : रूसो शब्दों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा उस हद तक प्रभावशाली नहीं मानता था जिस हद तक कर के सीखने की प्रक्रिया को। वह रट कर सीखने का विरोधी था। वह बच्चों में तर्क, विश्लेषण एवं संश्लेषण की शक्ति को विकसित करना चाहता था। रूसो परम्परागत शिक्षण–विधि का प्रबल विरोधी था। वह छात्रों को स्वयं निरीक्षण अनुभव एवं विश्लेषण द्वारा सीखने का पक्षपाती था। बच्चे के मस्तिष्क में अध्यापक अपने ज्ञान को ढूँढ़ने का प्रयास न कर उसकी जिज्ञासा को बढ़ाये ताकि वह स्वयं समस्या का समाधान ढूंढ़ सकें जिससे उसका मस्तिष्क विकसित होगा। विज्ञान जिज्ञासा, निरीक्षण, प्रयोग एवं अनुसंधान के माध्यम से ही सर्वोत्तम ढ़ंग से पढ़ाया जा सकता है। रूसो के इन्हीं विचारों के आधार पर बाद में ह्यूरिस्टिक विधि का विकास किया गया। लम्बे व्याख्यान बच्चे के शिक्षण को अवरोधित करते है क्योंकि यह नई चीजो के लिए बच्चे के भूख को समाप्त करता है। व्याख्यान की जगह बच्चों को स्वयं कर के सीखने का अवसर मिलना चाहिए यह अनुचित है कि पहले हम एक शिक्षण–विधि का विकास कर लें और फिर बच्चे को उस विधि के अनुरूप बनाने का प्रयास करें।

1.5.6 अनुशासन

बच्चे में उचित अनुशासन की भावना की विकास के लिए रूसो के अनुसार, बच्चे को पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए। यह अनुशासन के लिए पहला कदम है। बच्चे को अनावश्यक बंधन में रखने से उसमें अनुशासन की भावना के विकास को बाधित करना है। बच्चा अगर प्राकृतिक वातावरण में स्वतंत्र

रहेगा तो उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का बेहतर विकास होगा। रूसो दण्ड देने के विरूद्ध थे क्योंकि उनका मानना था बच्चे को गलतियों का प्राकृतिक परिणाम के रूप में आना चाहिए। रूसो के अनुसार बच्चे को गलत और सही की समझ नहीं रहती है– लेकिन जब गलती करता है तो उसे पीड़ा या दंड मिलता है और जब वह सही करता है तो आनन्द। इस प्रकार वह प्राकृतिक परिणाम के अनुभव के द्वारा प्रकृति के नियमों को पालन करना सीखता है। अनुशासन के संदर्भ में व्याख्यान उसे अनुशासन से उदासीन बनायेगा। प्रकृति के परिणाम के द्वारा स्वयं बेहतर अनुशासित व्यक्ति बन सकता है। रूसो के अनुसार व्यक्ति को कभी भी आज्ञाकारिता के कारण नहीं बल्कि आवश्यकता के कारण कर्म करना चाहिए।

1.5.7 शिक्षक की भूमिका

रूसो की दृष्टि में अध्यापक की भूमिका प्रशासक की नहीं होनी चाहिए न ही वह सारे ज्ञान का स्रोत है जो बच्चों को मिलना चाहिए। अध्यापक की भूमिका वस्तुतः निरीक्षक (गाइड) एवं सहयोगी की है। अध्यापक उसके दिमाग को सूचनाओं से भरने का प्रयास नहीं करेगा न ही उसके चरित्र को प्रभावित करने का प्रयास करेगा। बच्चा जब किसी चीज को सीखने की आवश्यकता अनुभव करे तो अध्यापक उन परिस्थितयों के निर्माण में सहायता कर सकता है जिससे बच्चा स्वयं सीख सके। मान्टेसरी पद्धति रूसो के इसी सिद्धान्त पर आधारित है। शिक्षा बच्चे की रूचि के अनुसार होनी चाहिए। अध्यापक को अपने को पृष्ठभूमि में रखना चाहिए ताकि बच्चा अपनी रूचि को प्रदर्शित कर सके और उसके अनुरूप शिक्षा ग्रहण कर सके।

रूसो के द्वारा प्रतिपादित निषेधात्मक शिक्षा में अध्यापक बच्चे की गतिविधि में हस्तक्षेप नहीं करेगा पर उसकी गतिविधियों पर अपनी दृष्टि रखेगा। वह बच्चे से सहानुभूति और स्नेह रखेगा। वह बालक की निश्छलता एवं सादगी को अपने में बनाये रखेगा और बच्चों के साथ खेलते, दौड़ते उन्हीं में से एक हो जायेगा तभी वह बच्चों को धनात्मक परिवेश दे सकता है।

1.6 महिलाओं की शिक्षा

एमिल की शिक्षा प्राकृतिक है, सोफी की परम्परागत। रूसो लड़के एवं लड़की की शिक्षा में लगातार अंतर करता है, लेकिन यह अंतर प्राकृतिक कारणों से नहीं है– महिलायें मानव हैं, भिन्नता केवल लिंग की है। अंतर

जीवन के उद्देश्य की भिन्नता के कारण आता है ''पुरूष कार्य करना चाहता है, औरतें प्रसन्न करना चाहती हैं, एक को ज्ञान की आवश्यकता है तो दूसरे को रूचि की।'' लड़के को आवश्यकता को ध्यान में रखना होता है लड़की को उचित–अनुचित का। लड़के की शिक्षा का महत्वपूर्ण लक्ष्य है स्वतंत्रता, लड़कियों का नियंत्रण। तर्क के आधार पर लड़के का धर्म तय हुआ, लड़की का दूसरों के नियंत्रण के आधार पर। मिल्टन की ही तरह रूसो का विचार है ''लडके विद्रोह के लिए तथा लड़कियाँ आज्ञापालन के लिए।''

लड़कियों की शिक्षा लड़कों की शिक्षा का पूरक होनी चाहिए। रूसो कहते हैं महिलाओं को पुरूषों के आनन्द के लिए बनाया गया है अतः उसकी शिक्षा की योजना पुरूषों के संदर्भ में बननी चाहिए तथा पुरूषों की शिक्षा की अनुगामिनी होनी चाहिए। पुरूषों को महिलायें देखने में सुखदायी लगनी चाहिए, पुरूष के सम्मान एवं प्यार को जीतने में सक्षम होनी चाहिए।

नारी सुलभ कमजोरियों को रूसो ने प्राकृतिक एवं सही माना। शिक्षा में अध्यापकों को इसका लाभ उठाना चाहिए।

लड़कियाँ लिखना–पढ़ना पसन्द नहीं करती हैं अतः उसे तब तक उन विषयों को नहीं पढ़ाना चाहिए जब तक वह उसको उपयोगी नहीं पाती तथा उसे सीखने की इच्छा नहीं दिखाती। सिलाई की उसकी इच्छा को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा कढ़ाई–बुनाई को बढ़ावा देना चाहिए। शिक्षक को पसन्द की पोशाक एवं कला के सम्बन्ध को देखना चाहिए तथा इस कला में रूचि बढ़ाना चाहिए। चित्रांकन को लिखने–पढ़ने के पहले सीखना चाहिए।

रूसो के अनुसार लड़कियाँ धर्म के बारे में सही विचार बनाने में असमर्थ है। लड़कों की धार्मिक शिक्षा किशोरावस्था के पूर्व रोकने की बात कही गई पर लड़की के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अगर हम उनको भी धार्मिक शिक्षा देने के लिए तब तक रोकते है जब तक वे इसके बारे में गंभीर विचार–विमर्श के लिए तैयार न हो जाये तो हम इस खतरे में होंगे कि उन्हें धर्म की शिक्षा कभी न दे पायें।

सामान्यतः रूसो की शिक्षा–व्यवस्था एमिल के पक्ष में है पर बुक पाँच में धार्मिक शिक्षा सामान्यतः लड़कियों के पक्ष में दिखती है। ''जब तुम छोटी लड़कियों को धर्म की शिक्षा दे रहे हो तो इसे कभी भी निराशाजनक या थकानेवाला न बनाओ, इसे कभी भी कार्य या दायित्व न बनाओ, इसलिए उसे कुछ भी हृदय से याद करने मत दो– प्रार्थनाओं को भी नहीं... यह महत्वपूर्ण

नहीं है कि एक लड़की कम आयु में धर्म सीखे पर यह महत्वपूर्ण है कि उसे इसे समग्रता में सीखना चाहिए, इससे भी अधिक उसे इसे प्रेम करना सीखना चाहिए।''

रूसो के अनुसार महिलायें सोचने की कला से वंचित नहीं होती है। लेकिन उन्हें तर्कशास्त्र तथा अध्यात्म का ऊपरी जानकारी ही मिलनी चाहिए। सोफी चीजों को आसानी से समझती है लेकिन जल्द ही भूल जाती है। उसे नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र तथा भौतिक विज्ञानों में इस संसार के सामान्य नियमों एवं व्यवस्था की हल्की जानकारी रखनी चाहिए।

रस्क के अनुसार रूसो दो भिन्न एवं परस्पर विरोधाभासी शिक्षा योजना प्रस्तुत करता है पर उन व्यक्तियों में जिनके प्राकृतिक गुण समान हो, यद्यपि उनके जीवन–उद्देश्य भिन्न हों, फिर भी साथ रहते हैं, सही शिक्षा व्यवस्था दोनों के मध्य समन्वय का होगा। एमिल के तर्क परक प्रशिक्षण व्यवस्था सोफी की अतार्किक शिक्षा योजना से समन्वित एवं संतुलित होनी चाहिए– विशेषतः अगर दोनो का एक दूसरे के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा है। यद्यपि व्यावहारिक उद्देश्य की दृष्टि से यह परिवर्तन आवश्यक हो सकता है पर जिस दृढ़ता के साथ रूसो ने इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न दिखलाया है वह एमिल को शिक्षा–साहित्य में स्थायी स्थान दिलाता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. रूसो के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

4. रूसो ने विद्यार्थी जीवन के कौन से चार सोपान बताये हैं?

.....

.....

.....

1.7 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने रूसो के राजनीतिक एवं सामाजिक दर्शन का उल्लेख करते हुए उसके शिक्षा दर्शन को समझने का प्रयास किया। उनके शिक्षा दर्शन की विशेषताओं जैसे निषेधात्मक शिक्षा, विद्यार्थी जीवन के स्तर, प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन, प्रगतिशील शिक्षण विधि आदि का इसमें विश्लेषण किया गया है। साथ ही लड़कों (एमिल) तथा लड़कियों (सोफी) की शिक्षा के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। इस तरह से रूसो के शिक्षा दर्शन की व्यापक समझ इस इकाई से मिलती है।

1.8 अभ्यास प्रश्न

1. 'निषेधात्मक शिक्षा' के सम्प्रत्यय की विवेचना कीजिये।
2. 'रूसो का शिक्षा–दर्शन आधुनिक शिक्षण–विधि का आधार है।' व्याख्या कीजिए।
3. रूसो ने लड़कों एवं लड़कियों की शिक्षा में क्या अन्तर किया?

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. रूसो की शिक्षा सम्बन्धी सर्वप्रमुख कृति 'एमिल' है। इसके बारे में लार्ड मारले ने कहा ''साहित्य के इतिहास में यह एक कालजयी रचना है। यह चरित्र की गहराइयों को छूता है। यह माता–पिता में आत्मसम्मान का भाव भरता है और उनके कार्य को स्पष्ट करता है। यह जमा दुराग्रहों को खत्म करता है। इसने नर्सरी एवं विद्यालयों की कक्षाओं में– जिनके दरवाजे एवं खिड़कियां बन्द रहीं हैं– प्रकाश एवं शुद्ध हवा भर दिया।''
2. रूसो के अनुसार राज्य के अस्तित्व का आधार आम–सहमति है जिसका भाव सबों की भलाई है। अगर राज्य जनसामान्य की भलाई में असमर्थ है तो उसे समाप्त कर देना चाहिए।
3. रूसो के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य हैं
   i. मानव को प्रकृति के अनुरूप जीवन जीने के योग्य बनाना।
   ii. बालकों में अन्तर्निहित प्रकृत स्वभाव एवं गुणों को सुरक्षित रखना।

iii. शिक्षा का सार्वजनीकरण कर अमीर घर के बच्चों को भी गरीबी की शिक्षा देना।

iv. शारीरिक एवं नैतिक रूप से छात्रों का विकास।

4. रूसो ने विद्यार्थी जीवन के चार सोपान बतायें हैं

i. शैशवावस्था (जन्म से पाँच वर्ष)

ii. बाल्यकाल (पाँच से बारह वर्ष तक)

iii. पूर्व किशोरावस्था (बारह से पन्द्रह वर्ष) तथा

iv. किशोरावस्था (पन्द्रह वर्ष से आगे)

1.10 सहायक अध्ययन सामग्री

डूरांट विल (1960), *दि स्टोरी ऑफ फिलॉसफी,* न्यूयार्कः पाकेट बुक्स।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1947), *ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन,* न्यूयार्कः दि मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002), *वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन,* नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (2000), *दि डोकटराइन्स ऑफ ग्रेट एडुकेटर्स,* नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (1990), *शिक्षा के दार्शनिक आधार,* जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, (अनुवादक– लक्ष्मीलाल के0 ओड़)।

रॉस, जे0 एस0 (1950), *ग्राउन्डवर्क ऑफ एडुकेशनल थियोरी,* लन्दनः जार्ज जी0 हार्पर।

इकाई 2: प्लेटो

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 जीवन–वृत्त

2.4 जीवन–दर्शन

2.4.1 प्लेटो की रचनायें

2.5 शिक्षा दर्शन

2.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

2.5.2 पाठ्यक्रम

2.5.3 शिक्षा स्तर

2.5.4 शिक्षण–विधि

2.5.5 सार्वजनिक शिक्षा

2.6 प्लेटो के शिक्षा दर्शन की सीमायें

2.7 सारांश

2.8 अभ्यास प्रश्न

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.10 सहायक अध्ययन सामग्री

2.1 प्रस्तावना

प्लेटो को मानव–जाति के महानतम दार्शनिकों में से एक माना जाता है। उनका लक्ष्य न्याय पर आधारित राज्य की स्थापना है। प्लेटो के आदर्श राज्य के नागरिकों में कौन से गुण होने चाहिए? उन गुणों को कैसे विकसित किया जाये? जैसे प्रश्नों का उत्तर प्लेटो शिक्षा में पाते हैं। प्लेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शिक्षा के माध्यम से ही न्याय पर आधारित आदर्श राज्य की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार प्लेटो की महानतम कृति 'रिपब्लिक' मूलतः शिक्षा पर लिखी गई प्रथम पुस्तक बन जाती है। प्लेटो विश्व का प्रथम

दार्शनिक है जिन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों की विस्तृत व्याख्या की एवं शिक्षा की व्यापक योजना प्रस्तुत की। शिक्षा के सिद्धान्त तथा शिक्षित व्यक्ति के वैचारिक जीवन पर प्लेटो के सिद्धान्तों का व्यापक तथा स्थायी प्रभाव पड़ा।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हमलोग प्लेटो के जीवन–दर्शन और शिक्षा–दर्शन की व्यापक समझ बनाने में सफल होंगे। इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जायेगा।

- प्लेटो का जीवन–वृत्त
- प्लेटो का जीवन–दर्शन
- प्लेटो का शिक्षा–दर्शन
- प्लेटो के शिक्षा–दर्शन की सीमायें
- प्लेटो के शिक्षा–दर्शन का परवर्ती शिक्षा पर प्रभाव

इस तरह से इस इकाई में हमलोग प्लेटो के शिक्षा दर्शन के बारे में स्पष्ट समझ बना सकने में सफल होंगे।

2.3 जीवन–वृत्त

प्लेटो का जन्म 427 ईसा पूर्व में एथेन्स के एक अत्यन्त ही समृद्ध तथा कुलीन परिवार में हुआ था। उसका पालन–पोषण अमीरों की भाँति हुआ। पर वैभव और ऐश्वर्य का यह वातावरण प्लेटो के व्यक्तित्व के विकास को अवरोधित नहीं कर सका। वह बहुआयामी व्यक्तित्व का स्वामी था। उसने तत्कालीन उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वह सुन्दर, आकर्षक और स्वस्थ देह–यष्टि का स्वामी था। व्यायाम में उसकी गहरी रूचि थी और कुश्ती में भी वह प्रवीण था। उसने एथेन्स की सेना में भी काम किया। वह एक महान भाव–प्रवण कवि था और सबसे बढ़कर एक महान दार्शनिक था।

प्रभावशाली राजनीतिक परिवार के होने के बावजूद प्लेटो को राजनीति से अरूचि थी। एथेन्स की तत्कालीन राजनीतिक पतन ने प्लेटो को राजनीति से पूर्णतः विमुख कर दिया। एथेन्स जहाँ अपना प्रभाव खोता जा रहा था वहीं सैनिक शक्ति में विश्वास रखने वाले स्पार्टा का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। मैसेडोनिया भी प्रगति कर रहा था। पेलेपोनेसियन युद्ध के कारण एथेन्स और कमजोर हो गया। प्रजातंत्र के स्थान पर एथेन्स में कुलीन तंत्र का शासन हो

गया। यद्यपि प्रजातांत्रिक व्यवस्था फिर वापस आई– पर इसी शासन में प्लेटो के गुरू सुकरात को मृत्यु–दंड दिया गया। इस घटना ने प्लेटो को राजनीति से पूर्णतः विरत कर दिया।

बीस वर्ष की अवस्था में प्लेटो सुकरात के सम्पर्क में आया तथा सुकरात की मृत्यु तक, यानि 399 ई0पू0 तक प्लेटो सुकरात का प्रिय शिष्य बना रहा। सुकरात के व्यक्तित्व एवं ज्ञान का प्लेटो पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। सुकरात के सान्निध्य में प्लेटो की दर्शन में गहरी रूचि हो गई। 399 ई0 पू0 में जब सुकरात को मृत्युदंड दिया गया, प्लेटो की आयु 28 वर्ष की थी। गुरू की हत्या के कारण उसका एथेन्स से मोह भंग हो गया और उसने अगला दस वर्ष एथेन्स से बाहर मेगारा, मिश्र तथा इटली में बिताया। यह प्लेटो के जीवन का दूसरा भाग माना जा सकता है। मेगारा में प्रसिद्ध गणितज्ञ युक्लिड के सान्निध्य में पार्मेनाइडिस के सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया। मिश्र की सभ्यता के विकास ने प्लेटो को बहुत अधिक प्रभावित किया। इटली में पाइथागोरस के सिद्धान्तों का अध्ययन किया तथा इटली में शासन व्यवस्था की बारीकियों को जाना। इस प्रकार दस वर्षो के लम्बे देशाटन और विद्वानों की संगति ने प्लेटो को बौद्धिक तौर पर और परिपक्व बनाया। एथेन्स वापस आकर प्लेटो ने अपनी विश्व–प्रसिद्ध शिक्षण संस्था 'एकेडमी' की स्थापना की। प्लेटो के जीवन का यह तीसरा और सबसे अधिक रचनात्मक भाग था। अपने जीवन के अगले चालीस वर्षों तक वे इसी संस्था के माध्यम से शिक्षा देते रहे। प्लेटो की मृत्यु 347 ई0पू0 हुई, पर एकेडमी इसके उपरांत भी चलती रही। बाद में रोम के शासक की आज्ञा पर इस एकेडमी को बन्द कर देना पड़ा।

2.4 प्लेटो का जीवन–दर्शन

प्लेटो अपने गुरू सुकरात की ही तरह यह मानते है कि समय की आवश्यकता जीवन में एक नये नैतिक बन्धन (मोरल बॉन्ड) की है। प्लेटो ने जीवन के लिए एक नए नैतिक आधार को तैयार करने की कोशिश की जिसमें व्यक्ति को पर्याप्त अवसर हो तथा संस्थागत जीवन को भी उचित मान्यता मिले। प्लेटो इस नए नैतिक बन्धन का आधार विचारों तथा सार्वभौमिक एवं शाश्वत सत्य को मानते है। उनके अनुसार अच्छाई ज्ञान या पूर्ण विचारों में समाहित होता है जो कि 'मत' से भिन्न होता है।

प्लेटो एक आदर्शवादी चिन्तक थे जिन्होंने यथार्थ तथा अस्थायी की उपेक्षा की है तथा सार्वभौम और स्थायी पर बल दिया है। प्लेटो के लिए दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुएँ कालसत्तात्मक (ऐहिक) है तथा अदृश्य वस्तुएँ ही नित्य हैं। उसके प्रत्यय दिव्य उपपत्तियां है, तथा इनका अनुभव ही विज्ञान अथवा ज्ञान है। इसके विपरीत वे लोग जो सिद्धान्तों का उनके मूर्त प्रतिमूर्तियों से अलग बोध नहीं रखते, ऐसे संसार में रहते हैं, जिसे प्लेटो स्वापनिक स्थिति कहते हैं। उनका वस्तुओं से परिचय मात्र 'मत' के समान होता है, वे यर्थाथ का बोध तो रखते है, किन्तु सत् के ज्ञान से रहित होते है।

आदर्शवादी दर्शन भौतिक पदार्थ की तुलना में विचार को स्थायी और श्रेष्ठ मानता है। प्लेटो महानतम आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री थे। उनके अनुसार पदार्थ जगत, जिसको हम इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, वह विचार जगत का ही परिणाम है। विचार जगत वास्तविक और अपरिवर्तनशील है। इसी से भौतिक संसार का जन्म होता है। भौतिक पदार्थों का अन्त अवश्यम्भावी है।

विचार जगत का आधार प्रत्यय है। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय पूर्ण होता है और इन्द्रियों के सम्पर्क में आने वाले भौतिक वस्तु अपूर्ण। प्लेटो ने फेइडरस में सुकरात से कहलवाया है कि सत्य या वास्तविकता का निवास मानव के मस्तिष्क में होता है न कि बाह्य प्रकृति में। (रॉसः 61) ज्ञानी मानव वह है जो दृष्टि जगत पर ध्यान न देकर प्रत्ययों के ज्ञान की जिज्ञासा रखता है– क्योंकि प्रत्ययों का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। ज्ञान तीन तरह के होते है– (i) इन्द्रिय–जन्य ज्ञान (ii) सम्मति जन्य ज्ञान तथा (iii) चिन्तन या विवेक जन्य ज्ञान। इनमें से प्रथम दो अधूरा, अवास्तविक एवं मिथ्या ज्ञान है जबकि चिन्तन या विवेकजन्य (प्रत्ययों का) ज्ञान इन्द्रियातीत होने के कारण वास्तविक, श्रेष्ठ एवं अपरिवर्तनशील है। व्यक्ति किसी भी पदार्थ को अपनी दृष्टि से देखकर उसकी व्याख्या करता है।– दूसरा व्यक्ति उसी पदार्थ की उससे भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकता है। इस तरह से सम्मति भिन्न हो सकती है। अतः इसे ज्ञान कहना उचित नहीं है। प्लेटो ने रेखागणित के सिद्धान्तों को बेहतर ज्ञान कहा। जैसे त्रिभुज की दो भुजा मिलकर तीसरी भुजा से बड़ी होती है– यह सभी त्रिभुजों के लिए सही है। इससे भी अधिक श्रेष्ठ ज्ञान प्लेटो ने तत्व ज्ञान को माना।

प्लेटो ने संसार को सत् और असत् दोनों का संयोग माना है। प्रत्ययों पर आधारित होने के कारण संसारिक पदार्थ सत् है पर समरूपता का आभाव

एवं क्षणभंगुरता उसे असत् बना देता है। प्लेटो ने दृष्टि जगत को द्रष्टा की क्रिया का फल माना है। प्लेटो आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हुए इसे परम विवेक का अंश मानता है।

नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त को प्लेटो के संवाद में उच्च स्थान मिला है। सोफिस्टों ने यह धारणा फैलायी थी कि गलत और सही परिस्थिति विशेष पर निर्भर करता है। जो एक समय और स्थान पर सही है वह दूसरे समय और स्थान पर गलत हो सकता है। प्लेटो सुकरात के माध्यम से इस अवसरवादी विचारधारा का विरोध करते हुए कहते हैं कि नैतिक मूल्य शाश्वत हैं। फेडो में प्लेटो ने सम्पूर्ण सुन्दरता, सम्पूर्ण अच्छाई तथा सम्पूर्ण महानता की बात की है। इस संसार में जो भी सुंदर या अच्छा है वह इसी सम्पूर्ण सुन्दरता या अच्छाई का अंश है। सर्वोच्च सत्य से ही अन्य जीव एवं पदार्थ अपना अस्तित्व प्राप्त करते हैं।

यद्यपि प्लेटो ने सर्वोच्च सत्य या सत्ता को ईश्वर या गॉड के नाम से नहीं पुकारा (रॉस,71) पर इसी परम सत्य का अंश मानव की आत्मा को माना। प्लेटो के अनुसार इस संसार और जीवन से परे भी एक संसार और जीवन है जो अधिक सत्य, अधिक सुंदर तथा अधिक वास्तविक है। आदर्श जीवन का उद्देश्य शिवत्व (अच्छाई) एवं सुन्दरता प्राप्त करना बताता है (रॉस: 128)।

2.4.1 प्लेटो की रचनायें

शिक्षा की दृष्टि से प्लेटो की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'दि रिपब्लिक' है। रूसो ने 'दि रिपब्लिक' का निरपेक्ष मूल्यांकन करते हुए कहा ''अगर आप जानना चाहते हैं कि पब्लिक (सार्वजनिक) शिक्षा का क्या अर्थ है तो प्लेटो का रिपब्लिक पढ़िये। जो पुस्तकों के संदर्भ में केवल नाम या शीर्षक से निर्णय लेते हैं वे इसे राजनीति से सम्बन्धित मानते हैं, जबकि शिक्षा पर कभी भी लिखी गई यह सर्वोत्तम कृति है।'' इस तरह से *दि रिपब्लिक* को शिक्षा शास्त्रियों ने अपने विषय का उत्कृष्टम ग्रंथ माना है। इसके प्रारम्भिक पृष्ठों में सुकरात को अपने मित्रों एवं शिष्यों के साथ न्याय पर आधारित राज्य की कल्पना करते दिखाया गया है। इसके लिए न्याय प्रिय नागरिक होना चाहिए। इस तरह से न्याय की प्रकृति पर विमर्श वस्तृतः शिक्षा पर विमर्श बन जाता है।

प्लेटो ने अनेक पुस्तक (संवाद) लिखे। इन संवादों को भाषा और शैली के आधार पर सर डेविड रॉस ने रचनाकाल को तय कर क्रमबद्ध करने का

प्रयास किया है।

1. **प्रथम काल (389 ई0पू0 से पहले)**– कैरेमिडेस, लैचेज, यूथाइफ्रो, हिपियस मेजर तथा मेनो।
2. **द्वितीय काल (389 ई0पू0 से 367 ई0पू0)**– क्रेटाइलस, सिम्पोजिसम, फैडो, दि रिपब्लिक, फेयड्रस, परमेन्डिस तथा थियेटिटस।
3. **तृतीय काल (366 ई0पू0 से 361 ई0पू0)**– सोफिस्टस तथा पोलिटिक्स
4. **चतुर्थ काल (361 ई0पू0 के उपरान्त)**– दि लॉज।

इस सूची में पूर्व में लिखे संवादों जैसे दि एपोलॉजी, क्रीटो, लोइसिस, प्रेटागोरस, यूथिडेमस को नहीं रखा है क्योंकि ये संवाद प्लेटो के विचारों पर बहुत ही कम प्रकाश डालते हैं। सभी रचनायें संवाद या वार्त्तालाप पद्धति में हैं। संवादों में सुकरात को सभी ज्ञान का स्रोत दिखाकर प्लेटो अपने गुरू को अद्वितीय श्रद्धांजलि देता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. प्लेटो के अनुसार ज्ञान कितने तरह के होते हैं? इनमें श्रेष्ठ ज्ञान कौन सा है?

.....

.....

.....

2. प्लेटो की रचना 'दि रिपब्लिक' के संदर्भ में रूसो ने क्या कहा?

.....

.....

.....

2.5 प्लेटो का शिक्षा–दर्शन

सुकरात एवं प्लेटो के पूर्व सोफिस्टों का प्रभाव था पर उनकी शिक्षा अव्यवस्थित थी तथा इससे कम ही व्यक्ति लाभान्वित हो सकते थे क्योंकि सोफिस्टों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा निःशुल्क नहीं थी और इस शुल्क को चुकाने में कुछ ही लोग सक्षम थे। सोफिस्टों ने शिक्षा के उद्देश्य को सीधी उपयोगिता से जोड़ दिया इससे भी वे लोगों की घृणा के पात्र बने। क्योंकि ग्रीस की प्रबुद्ध जनता शिक्षा को अवकाश हेतु प्रशिक्षण मानती थी न कि जीवन के भरण–पोषण का माध्यम। पेलोपोनेसियन युद्ध में एथेन्स की हार को लोगों ने सोफिस्टों की शिक्षा का परिणाम माना। फलतः उनका प्रभाव क्षीण हुआ और सुकरात तथा उसके योग्तम शिष्य प्लेटो को एक बेहतर शिक्षा व्यवस्था के विकास के लिए उचित पृष्ठभूमि मिली।

मानव इतिहास में शिक्षा के सम्बन्ध में प्रथम पुस्तक प्लेटो द्वारा रचित 'रिपब्लिक' है। जिसे रूसो ने शिक्षा की दृष्टि से अनुपम कृति माना। इसके अतिरिक्त 'लाज' में भी शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार मिलते हैं। तत्कालीन प्रजातंत्र हो या कुलीनतंत्र, राजनीति स्वार्थ पूर्ति का साधन बन गई था। षड़यंत्रों, संघर्षो एवं युद्धों की जगह समदर्शी शासन जो नागरिकों के बीच सद्भावना को बढ़ा सके के महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्लेटो ने एक नये समाज की रचना आवश्यक माना। इस तरह के समाज की रचना का सर्वप्रमुख साधन प्लेटो ने शिक्षा को माना। समाज संघर्ष विहीन तभी होगा जब अपने–अपने गुणों के अनुसार सभी लोग शिक्षित होंगे।

प्लेटो ने शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय माना है। *दि रिपब्लिक* में प्लेटो इसे युद्ध, युद्ध का संचालन एवं राज्य के शासन जैसे महत्वपूर्ण विषयों में से एक मानता है। *दि लॉज* में शिक्षा को प्रथम तथा सर्वोत्तम वस्तु माना है जो मानव को प्राप्त करनी चाहिए। *दि क्रिटो* में अपनी बात पर बल देते हुए प्लेटो कहते हैं ''वैसे मानव को बच्चों को जन्म नही देना चाहिए जो उनकी उचित देखभाल और शिक्षा के लिए दृढ़ नहीं रह सकते।''

जैसा कि हमलोग देख चुके हैं आदर्शवादी विचारक भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक या वैचारिक जगत को अधिक वास्तविक और महत्वपूर्ण मानते है। अंतिम या सर्वोच्च सत्य भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक या वैचारिक जगत के अधिक समीप है क्योंकि 'सत्य' या 'वास्तविक' की प्रकृति भौतिक प्रकृति न होकर आध्यात्मिक है। अतः आदर्शवादियों के लिए भौतिक

विज्ञानों की जगह मानविकी– यानि जो विषय स्वयं मानव का अध्ययन करता है अधिक महत्वपूर्ण है। वस्तृनिष्ठ तथ्यों के अध्ययन की जगह संस्कृति कला, नैतिकता, धर्म आदि का अध्ययन हमें सही ज्ञान प्रदान करता है।

2.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

प्लेटो शिक्षा को सारी बुराइयों को जड़ से समाप्त करने का प्रभावशाली साधन मानता है। शिक्षा आत्मा के उन्नयन के लिए आवश्यक है। शिक्षा व्यक्ति में सामाजिकता की भावना का विकास कर उसे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम बनाती है। यह नैतिकता पर आधारित जीवन को जीने की कला सिखाती है। यह शिक्षा ही है जो मानव को सम्पूर्ण जीव जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गौरव प्रदान करता है। प्लेटो ने शिक्षा के निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्देश्य बतायेः–

1. **बुराइयों की समाप्ति एवं सद्‌गुणों का विकासः** अपने सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ *रिपब्लिक* में प्लेटो स्पष्ट घोषणा करता है कि 'अज्ञानता ही सारी बुराइयों की जड़ है। सुकरात की ही तरह प्लेटो सद्‌गुणों के विकास के लिए शिक्षा को आवश्यक मानता है। प्लेटो बुद्धिमत्ता को सद्‌गुण मानता है। हर शिशु में विवेक निष्क्रिय रूप में विद्यमान रहता है– शिक्षा का कार्य इस विवेक को सक्रिय बनाना है। विवेक से ही मानव अपने एवं राष्ट्र के लिए उपयोगी हो सकता है।

2. **सत्य, शिव (अच्छाई एवं सुन्दर) की प्राप्तिः**– प्लेटो एवं अन्य प्राच्य एवं पाश्चात्य आदर्शवादी चिन्तक यह मानते हैं कि जो सत्य है वह अच्छा (शिव) है और जो अच्छा है वही सुन्दर है। सत्य, शिव एवं सुन्दर ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जिसे प्राप्त करने का प्रयास आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री लगातार करते रहे हैं। प्लेटो ने भी इसे शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य माना।

3. **राज्य को सुदृढ़ करनाः**– सुकरात एवं प्लेटो के काल में ग्रीस में सोफिस्टों ने व्यक्तिवादी सोच पर जोर दिया था। लेकिन आदर्शवादी शिक्षाशास्त्रियों की दृष्टि में राज्य अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य पूर्ण इकाई है और व्यक्ति वस्तुतः राज्य के लिए है। अतः शिक्षा के द्वारा राज्य की एकता सुरक्षित रहनी चाहिए। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में सहयोग, सद्‌भाव और भातृत्व की भावना का विकास होना चाहिए।

4. **नागरिकता की शिक्षाः**— न्याय पर आधारित राज्य की स्थापना के लिए अच्छे नागरिकों का निर्माण आवश्यक है जो अपने कर्तव्यों को समझें और उसके अनुरूप आचरण करें। प्लेटो शिक्षा के द्वारा नई पीढ़ी में दायित्व बोध, संयम, साहस, युद्ध—कौशल जैसे श्रेष्ठ गुणों का विकास करना चाहते थे। ताकि वे नागरिक के दायित्वों का निर्वहन करते हुए राज्य को शक्तिशाली बना सकें।

5. **सन्तुलित व्यक्तित्व का विकासः**— प्लेटो के अनुसार मानव—जीवन में अनेक विरोधी तत्व विद्यमान रहते हैं। उनमें सन्तुलन स्थापित करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास एवं उचित आचार—विचार हेतु 'स्व' को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है। शिक्षा ही इस महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन कर सकती है।

6. **विभिन्न सामाजिक वर्गों को सक्षम बनानाः**— जैसा कि हमलोग देख चुके हैं प्लेटो ने व्यक्ति के अन्तर्निहित गुणों के आधार पर समाज का तीन वर्गों में विभाजन किया है। ये हैंः संरक्षक, सैनिक तथा व्यवसायी या उत्पादक वर्ग। दासों की स्थिति के बारे में प्लेटो ने विचार करना भी उचित नहीं समझा। पर ऊपर वर्णित तीनों ही वर्णों को उनकी योग्यता एवं उत्तरदायित्व के अनुरूप अधिकतम विकास की जिम्मेदारी शिक्षा की ही मानी गई।

इस प्रकार प्लेटो शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। व्यक्ति और राज्य दोनों के उच्चतम विकास को प्राप्त करना प्लेटो की शिक्षा का लक्ष्य है। वस्तुतः शिक्षा ही है जो जैविक शिशु में मानवीय गुणों का विकास कर उसे आत्मिक बनाती है। इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त ही व्यापक है।

2.5.2 पाठ्यक्रम

हमलोग पहले ही देख चुके हैं कि आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री मानविकी या मानव—जीवन से सम्बन्धित ज्ञान को भौतिक ज्ञान से सम्बन्धित विषयों से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उसके अनुसार जीवन के प्रथम दस वर्षों में विद्यार्थियों को अंकगणित, ज्यामिति, संगीत तथा नक्षत्र विद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। गणित आदि की शिक्षा व्यापार की दृष्टि से न होकर उनमें निहित शाश्वत सम्बन्धों को जानने के लिए होना चाहिए। संगीत के गणित

शास्त्रीय आधारों की सिफारिश करते हुए प्लेटो कहता है यह शिवम् एवं सुन्दरम् के अन्वेषण में एक उपयोगी सत्य है। यदि इसका अन्य उद्देश्य को ध्यान में रखकर अनुसरण किया जाए तो यह अनुपयोगी है।

इसके उपरांत विद्यार्थियों को कविता, गणित, खेल–कूद, कसरत, सैनिक–प्रशिक्षण, शिष्टाचार तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा देने की बात कही गई। प्लेटो ने खेल–कूद को महत्वपूर्ण माना लेकिन उसका उद्देश्य प्रतियोगिता जीतना न होकर स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मनोरंजन प्राप्त करना होना चाहिए। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क तथा आत्मा का निवास संभव है। प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में जिम्नास्टिक (कसरत) एवं नृत्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्लेटो ने इन दोनों के समन्वय का आग्रह किया है। वे मानते थे कि 'कसरत विहीन संगीतज्ञ कायर होगा, जबकि संगीत विहीन कसरती पहलवान आक्रामक पशु हो जायेगा।' प्लेटो ने नृत्य को कसरत का ही अंग मानते हुए उसे युद्धकाल और शांतिकाल– दोनों में ही उपयोगी मानते हैं।

प्लेटो ने साहित्य, विशेषकर काव्य की शिक्षा को महत्वपूर्ण माना है। काव्य बौद्धिक संवेदनशील जीवन के लिए आवश्यक है। गणित को प्लेटो ने ऊँचा स्थान प्रदान किया है। रेखागणित को प्लेटो इतना अधिक महत्वपूर्ण मानते थे कि उन्होंने अपनी शैक्षिक संस्था 'एकेडमी' के द्वार पर लिखवा रखा था कि 'जिसे रेखागणित न आता हो वे एकेडमी में प्रवेश न करें।' इन विषयों में तर्क का प्रयोग महत्वपूर्ण है– और सर्वोच्च प्रत्यय– ईश्वर की प्राप्ति में तर्क सहायक है।

प्लेटो की शिक्षा–व्यवस्था में 'डाइलेक्टिक' या दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो के 'डाइलेक्टिक' में नीतिशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, प्रशासन, कानून, जैसे विषय समाहित हैं। इनका अध्ययन उच्चस्तरीय विद्यार्थियों को कराना चाहिए। यह प्लेटो की शिक्षा–व्यवस्था का सर्वोच्च हिस्सा है। डाइलेक्टिक का अध्ययन वस्तुतः दार्शनिकों के लिए है जो राज्य का संचालन करेंगे। दार्शनिक के पाठ्यविषय में प्लेटो संगीत तथा व्यायाम जैसे विषयों को अपर्याप्त कह कर अस्वीकृत कर देता है, क्योंकि ये विषय परिवर्तनीय हैं, इसके विपरीत जिन विज्ञानों का वह अन्वेषक है उन्हें सत् की विवेचना करनी चाहिएः उनमें सर्वगत अनुप्रयोग तथा साथ ही चितनोन्मुख बनाने की क्षमता होनी चाहिए। जिस पाठ्यक्रम की संस्तुति प्लेटो ने की उसमें गणित, ज्यामिति, ज्योतिष विद्या (खगोल विज्ञान) सम्मिलित थे। हस्तकलाओं

को अपमानजनक कहकर बहिष्कृत करने में वह अपनी कुलीन वर्गीय तथा सीमित रूझान का परिचय देता है।

2.5.2 शिक्षा के स्तर

प्लेटो ने आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की तरह बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास की अवस्था के आधार पर शिक्षा को विभिन्न स्तरों में विभाजित किया है। ये विभिन्न स्तर हैं–

(ii) **शैशवावस्थाः**– जन्म से लेकर तीन वर्ष शैशव–काल है। इस काल में शिशु को पौष्टिक भोजन मिलना चाहिए और उसका पालण–पोषण उचित ढ़ंग से होना चाहिए। चूँकि प्लेटो के आदर्श राज्य में बच्चे राज्य की सम्पत्ति है अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बच्चे की देखभाल में कोई ढ़ील नहीं होने दे।

(iii) **नर्सरी शिक्षाः**– इसके अर्न्तगत तीन से छह वर्ष की आयु के बच्चे आते हैं। इस काल में शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इसमें कहानियों द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए तथा खेल–कूद और सामान्य मनोरंजन पर बल देना चाहिए।

(iv) **प्रारम्भिक विद्यालय की शिक्षाः**– इसमें छह से तेरह वर्ष के आयु वर्ग के विद्यार्थी रहते हैं। वास्तविक विद्यालयी शिक्षा इसी स्तर में प्रारम्भ होती है। बच्चों को राज्य द्वारा संचालित शिविरों में रखा जाना चाहिए। इस काल में लड़के–लड़कियों की अनियन्त्रित क्रियाओं को नियन्त्रित कर उनमें सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। इस काल में संगीत तथा नृत्य की शिक्षा देनी चाहिए। नृत्य एवं संगीत विद्यार्थी में सम्मान एवं स्वतंत्रता का भाव तो भरता ही है साथ ही स्वास्थ्य सौन्दर्य एवं शक्ति की भी वृद्धि करता है। इस काल में गणित एवं धर्म की शिक्षा भी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। *रिपब्लिक* इसी अवधि में अक्षर–ज्ञान देने की संस्तुति करता है पर *दि लॉज* के अनुसार यह कार्य तेरहवें वर्ष में प्रारम्भ करना चाहिए।

(v) **माध्यमिक शिक्षाः**– यह काल तेरह से सोलह वर्ष की उम्र की है। अक्षर ज्ञान की शिक्षा पूरी कर काव्य–पाठ, धार्मिक सामग्री का अध्ययन एवं गणित के सिद्धान्तों की शिक्षा इस स्तर पर दी जानी चाहिए।

(vi) **व्यायाम (जिमनैस्टिक) कालः**— यह सोलह से बीस वर्ष की आयु की अवधि है। सोलह से अठारह वर्ष की आयु में युवक—युवती व्यायाम, जिमनैस्टिक, खेल—कूद द्वारा शरीर को मजबूत बनाते हैं। स्वस्थ एवं शक्तिशाली शरीर भावी सैनिक शिक्षा का आधार है। अठारह से बीस वर्ष की अवस्था में अस्त्र—शस्त्र का प्रयोग, घुड़सवारी, सैन्य—संचालन, व्यूह—रचना आदि की शिक्षा एवं प्रशिक्षण दिया जाता है।

(vii) **उच्च शिक्षाः**— इस स्तर की शिक्षा बीस से तीस वर्ष की आयु के मध्य दी जाती है। इस शिक्षा को प्राप्त करने हेतु भावी विद्यार्थियों को अपनी योग्यता की परीक्षा देनी होगी और केवल चुने हुए योग्य विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा ग्रहण करेंगे। इस काल में विद्यार्थियों को अंकगणित, रेखागणित, संगीत, नक्षत्र विद्या आदि विषयों का अध्ययन करना था।

(viii) **उच्चतम शिक्षाः**— तीस वर्ष की आयु तक उच्च शिक्षा प्राप्त किए विद्यार्थियों को आगे की शिक्षा हेतु पुनः परीक्षा देनी पड़ती थी। अनुत्तीर्ण विद्यार्थी विभिन्न प्रशासनिक पदों पर कनिष्ठ अधिकारी के रूप में कार्य करेंगे। सफल विद्यार्थियों को आगे पाँच वर्षों की शिक्षा दी जाती है। इसमें 'डाइलेक्टिक' या दर्शन का गहन अध्ययन करने की व्यवस्था थी। इस शिक्षा को पूरी करने के बाद वे फिलॉस्फर या 'दार्शनिक' घोषित हो जाते थे। ये समाज में लौटकर अगले पन्द्रह वर्ष तक संरक्षक के रूप में प्रशिक्षित होंगे और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करेंगे। राज्य का संचालन इन्हीं के द्वारा होगा।

2.5.4 शिक्षण—विधि

प्लेटो के गुरू, सुकरात, संवाद (डायलॉग) द्वारा शिक्षा देते थे— प्लेटो भी इसी पद्धति को पसन्द करते थे। प्लेटो ने संवाद के द्वारा मानव जीवन के हर आयाम पर प्रकाश डाला है। *एपालोजी* एक अत्यधिक चर्चित संवाद है जिसमें सुकरात अपने ऊपर लगाए गए समस्त आरोपों को निराधार सिद्ध करते है। 'क्राइटो' एक ऐसा संवाद है जिसमें वे कीड़ो के साथ आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। प्लेटो अपने गुरू सुकरात के संवाद को स्वीकार कर उसका विस्तार करता है। उसने संवाद को 'अपने साथ निरन्तर चलने वाला संवाद'

कहा (मुनरो, 1947: 64)। सुकरात ने इसकी क्षमता सभी लोगों में पाई पर प्लेटो के अनुसार सर्वोच्च सत्य या ज्ञान प्राप्त करने की यह शक्ति सीमित लोगों में ही पायी जाती है। शाश्वत सत्य का ज्ञान छठी इन्द्रिय यानि विचारों का इन्द्रिय का कार्य होता है। इस प्रकार सुकरात अपने समय की प्रजातांत्रिक धारा के अनुकूल विचार रखता था जबकि इस दृष्टि से प्लेटो का विचार प्रतिगामी कहा जा सकता है।

2.5.5 सार्वजनिक शिक्षा

'दि रिपब्लिक' में शिक्षा के वर्गीय चरित्र को प्लेटो ने अपने अंतिम कार्य 'दि लॉज' में प्रजातांत्रिक बनाने का प्रयास किया। वे 'दि लॉज' में लिखते हैं ''बच्चे विद्यालय आयेंगे चाहे उनके माता–पिता इसे चाहे या नहीं चाहे। अगर माता–पिता शिक्षा नहीं देना चाहेंगे तो राज्य अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगी और बच्चे माता–पिता के बजाय राज्य के होंगे। मेरा नियम लड़के एवं लड़कियों दोनों पर लागू होगा। लड़कियों का बौद्धिक एवं शारीरिक प्रशिक्षण उसी तरह से होगा जैसा लड़कों का।'' लड़कियों की शिक्षा पर प्लेटो ने जोर देते हुए कहा कि वे नृत्य के साथ शस्त्र–संचालन भी सीखें ताकि युद्ध काल में जब पुरूष सीमा पर लड़ रहे हों तो वे नगर की रक्षा कर सकें। इस प्रकार मानव जाति के इतिहास में प्लेटो पहला व्यक्ति था जिसने लड़के एवं लड़कियों को समान शिक्षा देने की वकालत की। इस दृष्टि से वह अपने समय से काफी आगे था।

2.6 प्लेटो के शिक्षा दर्शन की सीमायें

प्लेटो के आदर्श राज्य में शासक बनने वाले दार्शनिकों की शिक्षा केवल एकांगी ही नहीं है अपितु उसकी उच्च शिक्षा की योजना समुदाय के इसी वर्ग तक सीमित भी है। रक्षकगण केवल संगीत तथा व्यायाम की सामान्य शिक्षा ही प्राप्त करते हैं, और शिल्पकारों को, जिन्हें राज्य–शासन में भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई थी, या तो अपरिपक्व व्यावसायिक प्रशिक्षण अथवा 'कोई शिक्षा नहीं' से संतुष्ट होना पड़ता है। शासक वर्ग तक ही शिक्षा के लाभों को सीमित रखना आधुनिक प्रजातान्त्रीय शिक्षा के विरूद्ध है।

शिक्षा एवं राज्य की सरकार में शिल्पकारों को भाग लेने से वंचित रखने के कारण प्लेटो के राज्य को 'आदर्श' की संज्ञा नहीं देनी चाहिए।

न्यूमन (1887: 428) ने ठीक कहा है ''सबसे अच्छा राज्य वह है जो पूर्ण स्वर्ण है, वह नहीं है जो स्वर्णजटित है... दस न्यायप्रिय मनुष्यों से अच्छा राज्य नहीं हो जाता, राज्य की श्रेष्ठता का रहस्य इस तथ्य में निहित रहता है कि उसमें उचित रीति से व्यवस्थित श्रेष्ठ नागरिकों का समुदाय हो। प्लेटो ने अपने राज्य के तीन भागों में से किसी एक में भी वांछनीयतम जीवन को अनुभव किए बिना उस सब की बलि दे दी है जो जीवन को प्राप्य बनाता है।'' इस प्रकार आदर्शवादी प्लेटो पर्याप्तरूपेण आदर्शवादी नहीं था।

प्राचीन यूनान में दास प्रथा काफी प्रचलित थी और बड़ी संख्या में दास थे पर प्लेटो उनको सिविल सोसाइटी (नागरिक समाज) का हिस्सा नहीं मानते थे, न ही उन्हें नागरिक का अधिकार देना चाहते थे। अतः उनकी शिक्षा के संदर्भ में प्लेटो कुछ नहीं कहते। वस्तुतः वे उन्हें शिक्षा का अधिकारी नहीं मानते थे और उनके लिए यह व्यवस्था की कि उन्हें पारिवारिक पेशे को ही अपनाकर घरेलू कार्यों में लगे रहना चाहिए।

प्लेटो ने व्यावसायिक शिक्षा को महत्वहीन माना। उनका कहना था कि शिक्षा तो केवल चिन्तन प्रधान–विषय की ही हो सकती है। वे शारीरिक श्रम को निम्न स्तरीय कार्य मानते थे। *दि लॉज* में तो उन्होंने यहाँ तक प्रावधान कर डाला कि अगर नागरिक अध्ययन की जगह किसी कला या शिल्प को अपनाता है तो वह दण्ड का भागी होगा।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्य क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. प्लेटो द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम में डाइलैक्टिक (दर्शन) का क्या स्थान है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.7 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने प्लेटो के शिक्षा दर्शन का अध्ययन किया। हमलोगों ने देखा कि प्लेटो मानव इतिहास के पहले दार्शनिक थे जिन्होंने शिक्षा पर व्यवस्थित विचार व्यक्त किया। एक आदर्शवादी विचारक होने के नाते प्लेटो ने भौतिक जगत की अपेक्षा विचार जगत को अधिक महत्व दिया। उनकी शिक्षा व्यवस्था का लक्ष्य वस्तुतः शाश्वत मूल्यों को प्राप्त करना था। शिक्षण विधि में संवादों का प्रयोग जिस तरह से प्लेटो ने किया उस तरह से किसी अन्य शिक्षाशास्त्री ने नहीं। हमलोगों ने इस इकाई में यह भी देखा कि प्लेटो ने अपने शैक्षिक विचारों को अपनी शैक्षिक संस्था *एकेडमी* में लागू करने का प्रयास किया। ये सारे तथ्य प्लेटो को मानव इतिहास के प्रथम शिक्षाशास्त्री के रूप में स्थापित करते हैं।

2.8 अभ्यास प्रश्न

1. प्लेटो को एक आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री क्यों माना जाता है?
2. शिक्षा के इतिहास में 'दि रिपब्लिक' के महत्व की विवेचना कीजिए।
3. प्लेटो द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम की विवेचना करें।

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. प्लेटो के अनुसार ज्ञान तीन तरह के होते हैं
   (i) इन्द्रिय जन्य ज्ञान
   (ii) सम्मति जन्य ज्ञान

(iii) चिन्तन या विवेक जन्य ज्ञान

इनमें प्रथम दो अधूरा एवं अवास्तविक है जबकि चिन्तन या विवेक जन्य ज्ञान इन्द्रियातीत होने के कारण श्रेष्ठ है।

2. प्लेटो की रचना 'दि रिपब्लिक' के बारे में रूसो ने कहा ''अगर आप जानना चाहते हैं कि पब्लिक (सार्वजनिक) शिक्षा का क्या अर्थ है तो प्लेटो का रिपब्लिक पढ़िये। जो पुस्तकों के संदर्भ में केवल नाम या शीर्षक से निर्णय लेते हैं वे इसे राजनीति से सम्बन्धित मानते हैं, जबकि शिक्षा पर कभी भी लिखी गई यह सर्वोत्तम कृति है।''

3. प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था के निम्नलिखित उद्देश्य थे

   i. बुराइयों की समाप्ति एवं सद्गुणों का विकास।

   ii. सत्य, शिव एवं सुन्दर की प्राप्ति।

   iii. राज्य को सुदृढ़ करना।

   iv. नागरिकता की शिक्षा।

   v. सन्तुलित व्यक्तित्व का विकास।

   vi. विभिन्न सामाजिक वर्गों को सक्षम बनाना।

4. प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में 'डाइलेक्टिक' या दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें नीतिशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, प्रशासन, कानून जैसे विषय समाहित हैं। यह प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था का सर्वोच्च हिस्सा है। डाइलेक्टिक का अध्ययन वस्तुतः दार्शनिकों के लिए है जो राज्य का संचालन करेंगे।

2.10 सहायक अध्ययन सामग्री

डूरांट विल (1960), *दि स्टोरी ऑफ फिलॉसफी,* न्यूयार्कः पाकेट बुक्स।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1947), *ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन,* न्यूयार्कः दि मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002), *वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन,* नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (2000), *दि डोकटराइन्स ऑफ ग्रेट एडुकेटर्स*, नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (1990), *शिक्षा के दार्शनिक आधार*, जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, (अनुवादक– लक्ष्मीलाल के0 ओड़)।

रॉस, जे0 एस0 (1950), *ग्राउन्डवर्क ऑफ एडुकेशनल थियोरी*, लन्दनः जार्ज जी0 हार्पर।

इकाई 3: जॉन डीवी

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 जीवन–वृत्त

3.4 जॉन डीवी की शिक्षा सम्बन्धी रचनायें

3.5 डीवी का दर्शन

- 3.5.1 विमर्शात्मक जाँच
- 3.5.2 अनुभव
- 3.5.3 ज्ञान
- 3.5.4 दर्शन
- 3.5.5 प्रयोगवाद
- 3.5.6 उपकरणवाद
- 3.5.7 सापेक्षवाद
- 3.5.8 सुधारवाद
- 3.5.9 मानवतावाद
- 3.5.10 राजनीतिक दर्शन

3.6 शिक्षा–दर्शन

- 3.6.1 शिक्षा का उद्देश्य
- 3.6.2 पाठ्यचर्चा
- 3.6.3 शिक्षण विधि
- 3.6.4 शिक्षक का दायित्व
- 3.6.5 अनुशासन
- 3.6.6 समालोचना

3.7 डीवी का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.10 सहायक अध्ययन सामग्री

3.1 प्रस्तावना

प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी अमेरिका के सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिक रहे हैं। उन्होंने न केवल दर्शन के विभिन्न पक्षों पर महत्वपूर्ण कार्य किया वरन् शिक्षा एवं मनोविज्ञान जैसे विषयों के अध्ययन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। सत्तर वर्षों तक एक आधिकारिक विद्वान के रूप में क्रियाशील रहते हुए लगभग पचास ग्रन्थों की रचना की तथा आठ सौ से भी अधिक सारगर्भित लेख लिखे। इन कार्यों को विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित किया गया है। उनके कार्यों ने अध्यापकों की कई पीढ़ियों को प्रगतिशील शिक्षा को अपनाने हेतु प्रेरित किया। विश्व की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर डीवी का सर्वाधिक व्यापक प्रभाव है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई हमलोग जॉन डीवी के दर्शन, विशेषतः शिक्षा दर्शन का विस्तृत अध्ययन करेंगे। निम्नलिखित प्रमुख बिन्दुओं के संदर्भ में जॉन डीवी के शिक्षण–दर्शन को प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे –

- जॉन डीवी का जीवन–वृत्त
- जॉन डीवी के दर्शन के विभिन्न पक्ष
- जॉन डीवी का शिक्षा–दर्शन
- डीवी के शिक्षा–दर्शन की आलोचना
- शिक्षा व्यवस्था पर जॉन डीवी के शिक्षा–दर्शन का प्रभाव

3.3 जीवन–वृत्त

जॉन डीवी का जन्म 1859 में संयुक्त राज्य अमेरिका में बर्लिंगटन (वर्मोन्ट) में हुआ था। विद्यालयी शिक्षा बर्लिंगटन के सरकारी विद्यालयों में हुआ। इसके उपरांत उन्होंने वर्मोन्ट विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। जॉन हापकिन्स विश्वविद्यालय से उन्हें पी–एच0डी0 की उपाधि मिली। इसके उपरांत उन्होंने मिनीसोटा विश्वविद्यालय (1888–89), मिशीगन विश्वविद्यालय (1889–94), शिकागो विश्वविद्यालय (1894–1904) में दर्शनशास्त्र पढ़ाया। 1904 में वे कोलम्बिया में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए और तीस वर्षों तक वे इस पद पर रहें।

जीवन के प्रथम बीस वर्षों में वर्मोन्ट में जॉन डीवी ने ग्रामीण सादगी को ग्रहण किया जो प्रसिद्धि के उपरांत भी उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बना रहा। अगले बीस वर्षों में उन्होंने मध्य पश्चिम अमेरिका का अनुभव प्राप्त किया। वह अमेरिका की शक्तियों एवं सीमाओं से परिचित हुए। जब उन्होंने दर्शन लिखना प्रारम्भ किया तो वे किसी एक प्रान्त के न होकर सम्पूर्ण अमेरिका के थे।

शिकागो के 'स्कूल ऑफ एडुकेशन' में उनके कार्यों ने लोगो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इन्हीं वर्षों में उन्होंने अपने कार्यों में प्रयोगवादी झुकाव दिखाया जो 1952 में उनकी मृत्यु के समय तक बना रहा। उनका मस्तिष्क अंत तक शिक्षा में किसी भी नये प्रयोग के लिए खुला रहा। 'स्कूल्स ऑफ टूमॉरो' में उनकी रूचि अंत तक बनी रही।

डीवी की महानतम रचना *डेमोक्रेसी एण्ड एडुकेशन* (1916) है जिसमें उन्होंने अपने दर्शन के विभिन्न पक्षों को एक केन्द्र बिन्दु तक पहुँचाया तथा उन सबका एकमात्र उद्देश्य उन्होंने 'बेहतर पीढ़ी का निर्माण करना' रखा है। प्रत्येक प्रगतिशील अध्यापक ने उनका बौद्धिक नेतृत्व स्वीकार किया। अमेरिका का शायद ही कोई विद्यालय हो जो डीवी के विचारो से प्रभावित न हुआ हो। उनका कार्यक्षेत्र वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व था। 1919 में उन्होंने जापान का दौरा किया तथा अगले दो वर्ष (मई 1919 से जुलाई 1921) चीन में बिताये– जहाँ वे अध्यापकों एवं छात्रों को शिक्षा में सुधार हेतु लगातार सम्बोधित करते रहे। उन्होंने तुर्की की सरकार को राष्ट्रीय विद्यालयों के पुनर्गठन हेतु महत्वपूर्ण सुझाव दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में प्रगतिशील शिक्षा आन्दोलन को चलाने में डीवी की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

3.4 जॉन डीवी की शिक्षा–सम्बन्धी रचनायें

जॉन डीवी ने बड़ी संख्या में पुस्तकों, शोध पत्रों एवं निबन्धों की रचना की। उनके अनेक कार्य दर्शन से सम्बन्धित है। निम्नलिखित ग्रन्थ शिक्षा से सम्बन्धित है–

1899 – दि स्कूल एण्ड सोसाइटी

1902 – दि चाइल्ड एण्ड दि क्यूरीकुलम

1910 – हाउ वी थिन्क

1913 – इन्ट्रेस्ट एण्ड एर्फट इन एडुकेशन

1915 – स्कूल्स ऑफ टूमॉरो

1916 – डेमोक्रेसी एण्ड एडुकेशन

1922 – ह्यूमन नेचर एण्ड कन्डक्ट

1925 – इक्सपीरियन्स एण्ड नेचर

1929 – दि क्वेस्ट फॉर सर्टेन्टिः स्टडी ऑफ रिलेशन ऑफ नॉलेज एण्ड एक्शन

1929 – सोर्सेज ऑफ साइन्स एडुकेशन

डीवी की इन रचनाओं का पूरे विश्व की शिक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

3.5 डीवी का दर्शन

डीवी ने दर्शन के विभिन्न पक्षों पर दूरगामी प्रभाव वाले कार्य किए हैं। अतः कुछ ही बिन्दुओं की चर्चा डीवी के कार्यों के साथा न्याय नहीं है। फिर भी सुविधा की दृष्टि से हम निम्नलिखित महत्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा कर सकते हैं–

3.5.1 विमर्शात्मक या विवेचनात्मक जाँच

जॉन डीवी ने समस्याओं को समझने एवं उनके समाधान हेतु विमर्शात्मक या विवेचनात्मक जाँच पर सर्वाधिक जोर दिया। समस्या का समाधान कैसे किया जाय या किसी समस्या में क्या निहित है? या आलोचनात्मक अन्वेषण क्या है? मानव–संदर्भों में बुद्धि का प्रयोग कैसे किया जाये? अपने इन प्रश्नों का उत्तर डीवी ने अपनी पुस्तकों 'हाउ टू थिंक' और 'लॉजिकः दि थ्योरी ऑफ इन्क्वायरी' में दिया। उन्होंने विमर्शात्मक चिन्तन के निम्नलिखित सोपान बतायेः

(i) समस्या का आभासः इस चरण में कुछ गलत होने की अनुभूति होती है। हमारे किसी विचार पर प्रश्न चिन्ह लगता अनुभव होता है या इस पर कार्य करने से द्वन्द्व या भ्रम की स्थिति का आभास होता है।

(ii) द्वितीय सोपान में समस्या का स्पष्टीकरण होता है। विश्लेषण और निरीक्षण के द्वारा हम पर्याप्त तथ्य संग्रहित करते हैं जिससे समस्या को समझा जा सकता है और परिभाषित किया जा सकता

है।

(iii) समस्या को स्पष्ट करने के बाद समाधान हेतु परिकल्पनाओं का निर्माण किया जाता है।

(iv) चतुर्थ चरण में निगनात्मक विवेचना द्वारा विभिन्न परिकल्पनाओं के निहितार्थ को समझने का प्रयास करते हैं और उस परिकल्पना तक पहुँचते हैं जो सबसे उपयुक्त हो तथा जिसका वास्तव में परीक्षण किया जाये।

(v) पाँचवा पद जाँच का है जब परिकल्पना के स्वीकार किए जाने की संभावना का निरीक्षण या प्रयोग द्वारा निर्धारण होता है। अब परिस्थिति या असमंजस की जगह– समाधान या स्पष्टता मिल जाती है।

3.5.2 अनुभव

डीवी के विचारों के केन्द्र में अनुभव है जो कि बार–बार उसके लेखन में दिखता है। उसने अपने कार्यों *इक्सपिअरेन्स एण्ड नेचर, आर्ट इज इक्सपिअरेन्स* या *इक्सपिअरेन्स एण्ड एडुकेशन* जैसे अपने कार्यों में अनुभव पर अत्यधिक जोर दिया। उनके लिए मानव का ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध या व्यवहार का हर पक्ष अनुभव है। प्रकृति एवं वस्तुओं की अन्तर्क्रिया को महसूस करना अनुभव है।

रूढ़िवादी दृष्टिकोण अनुभव को ज्ञान से सम्बन्धित मानता है पर डीवी इसे जीवित प्राणी एवं उसके सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण के मध्य की अन्तर्क्रिया मानते हैं। रूढ़िवादी इसे आत्मनिष्ठ, आन्तरिक तत्व मानते हैं जो वस्तुनिष्ठ वास्तविकता से भिन्न है। पर डीवी ने वस्तुनिष्ठ विश्व को महत्व दिया है जो मानव की क्रिया एवं पीड़ा में प्रवेश करता है और मानव के द्वारा वह परिवर्तित भी किया जा सकता है। डीवी दिए हुए तथ्य या परिस्थिति में परिवर्तन का पक्षधर है ताकि मानव के उद्देश्य पूरे हो सकें। डीवी अनुभव को भविष्य से जोड़ता है। अगर हम परिवर्तन चाहते हैं तो हमें भविष्य की ओर उन्मुख होना होगा अतः अनुस्मरण की जगह प्राज्ञान या पूर्वाभास पर जोर देना चाहिए। अतः डीवी ने अनुमान पर जोर दिया है।

3.5.3 ज्ञान

डीवी परम्परागत ज्ञानशास्त्र, जिसमें जानने वाले को संसार से बाहर मानकर सम्भावनायें, विस्तार तथा ज्ञान की वैद्यता के बारे में पूछा जाता है, को

अस्वीकार करता है। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि जाननेवाला तथ्यों के सही विवरण देता है या नहीं वरन् महत्वपूर्ण यह है कि वह अनुभवों के एक समूह का अन्य परिस्थितियों में कैसे प्रयोग करता है।

डीवी की दृष्टि में ज्ञान को समस्यागत या अनिश्चित परिस्थितियों तथा चिन्तनशील अन्वेषण के संदर्भ में रखा जाना चाहिए। तथ्यों का संकलन से ज्ञान अधिक है। ज्ञान हमेशा अनुमान सिद्ध होता है तथा समस्या यह होती है कि किसी तरह अनुमान की प्रक्रिया को विश्वसनीय या सही निष्कर्ष प्राप्त करने हेतु निर्देशित किया जाये। इसमें नियंत्रित निरीक्षण, परीक्षण तथा प्रयोग किये जाते हैं। यह अन्वेषण की उपज है। डीवी ने बेकन के विचार 'ज्ञान शक्ति है' को माना और उसके अनुसार इसकी जाँच सामाजिक प्रगति का मूल्यांकन कर किया जा सकता है।

3.5.4 दर्शन

'दि नीड फॉर ए रिकवरी ऑफ फिलासफी' में डीवी दर्शन को दर्शन की समस्याओं के अध्ययन का शास्त्र के रूप में उपयोग करने की जगह मानव की समस्याओं के अध्ययन की विधि बनाने पर जोर देता है। डीवी के अनुसार मानव की समस्यायें लगभग सभी परम्परागत समस्याओं एवं अनेक उभरती समस्याओं को समाहित करता है।

'रिकंसट्रक्सन ऑफ फिलासफी' में डीवी दर्शन के सामाजिक कार्यों पर बल देता है। दर्शन का कार्य सामाजिक एवं नैतिक प्रश्नो पर मानव की समझ बढ़ाना है, नैतिक शक्तियों का विकास करना है तथा मानव की आकांक्षाओं को पूरा करने में योगदान कर अधिक व्यवस्थित मानसिक प्रसन्नता प्राप्त करना है।

डीवी की दृष्टि में दर्शन मानव संस्कृति की उपज है। साथ ही वह एक साधन है मानव संस्कृति की आलोचना और विश्लेषण कर उसे एक दिशा और रूप देने का। 'इक्सपीरियन्स एण्ड नेचर' में वह दर्शन को 'आलोचना की आलोचना' कहता है– यह आलोचना के एक सिद्धान्त का रूप ले लेती है– मूल्यों एवं विश्वासों के मूल्यांकन का अनेक माध्यम प्रदान करती है। हम आलोचना करते हैं कि ताकि बेहतर मूल्यों का विकास कर सकें। दर्शन की सभी शाखायें इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं।

जीव विज्ञानी दृष्टिकोण – डीवी ने आनुवंशिक (जेनेटिक) दृष्टिकोण पर बल दिया। दूसरा, उनका मानना था कि जाँच का एक जीव विज्ञानी साँचा या मैट्रिक्स होता है। डार्विन और जेम्स के अध्ययन से डीवी को यह स्पष्ट हुआ कि जीवित प्राणियों का पर्यावरण से अनुकूलन या समायोजन अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा बुद्धि व्यवहार का विशेष प्रकार है। यह भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु उपयुक्त साधन से सम्बन्धित है। मस्तिष्क पर्यावरण (वातावरण) को नियन्त्रित करने का साधन जीवन प्रक्रिया के उद्देश्यों के संदर्भ में है। डार्विन का दर्शन पर प्रभाव को दर्शाते हुए डीवी कहते है कि दर्शन वस्तुतः समाधान के लिए उपायों को प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करना है।

3.5.5 प्रयोगवाद

यह डीवी के प्रक्षेपित जाँच से सम्बन्धित है– जिसके लिए परिकल्पना, प्रयोग तथा भविष्यवाणी केन्द्रीय है। प्रयोग कार्य की योजना है जो परिणाम को निर्धारित करती है। बुद्धि को परिणाम में शामिल करने की यह एक विधि है। सामाजिक योजना या शिक्षा में भी डीवी प्रयोग की जरूरत बताते हैं।

3.5.6 उपकरणवाद (इन्स्ट्रुमेन्टलिज्म)

विचार बाह्य वस्तु की प्रतिकृति नहीं है वरन् उपकरण या साधन है। यह किसी जीव के व्यवहार को सुगम बनाने का साधन है। तात्विक या अन्तरस्थ एवं कारक (इन्स्ट्रुमेन्टलिज्म) का अन्तर करना नैतिक या तात्विक अच्छाइयों को दिन प्रतिदिन के जीवन से और दूर करना है।

3.5.7 सापेक्षवाद

डीवी का सापेक्षवाद निरपेक्षवाद के विपरीत है तथा यह एक संदर्भ, परिस्थिति एवं सम्बंध के महत्व पर जोर देता है किसी वस्तु या तथ्य को संदर्भ से हटाकर देखना उसे उसके मूल्य या अर्थ से अलग कर देना है। निरपेक्ष या असीम को उन्होंने कोर्द स्थान नहीं दिया है तथा अबाधित सामान्यीकरण गलत दिशा में ले जा सकता है। एक विशेष परिस्थिति में एक आर्थिक नीति या योजना अच्छी हो सकती है– जो इसे वांछनीय बनाता है पर दूसरी परिस्थिति में हो सकता है वह अवांछनीय हो जाय। एक चाकू पेन्सिल को छीलने हेतु अच्छा हो सकता है पर रस्सी काटने के लिए बुरा हो सकता है। लेकिन उसे बिना प्रतिबन्ध अच्छा या बुरा कहना अनुचित होगा।

3.5.8 सुधारवाद

डीवी 'रिकंसट्रक्सन इन फिलासफी' में कहते हैं कि पूर्ण अच्छा या बुरा की जगह जोर वर्तमान परिस्थिति में सुधार या प्रगति पर होना चाहिए।

3.5.9 मानवतावाद

डीवी के दर्शन में अलौकिकता एवं धार्मिक रूढ़िवादिता का कोई स्थान नहीं है। *ए कॉमन फेथ* में डीवी कहते है कि सभ्यता में सर्वाधिक मूल्यवान चीजें निरन्तर चला आ रहा मानव समुदाय है जिसकी हम एक कड़ी हैं तथा हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने मूल्यों की परम्परा को सुरक्षित रखें, हस्तान्तरित करें, सुधार करें और इसको विस्तृत भी करें ताकि हमारे उपरांत जो पीढ़ी आती है वह इसे अधिक उदारता तथा विश्वास भाव से अपना सके। हमारा सामूहिक विश्वास इसी उत्तरदायित्व पर आधारित है।

डीवी का मानवतावाद उसके प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण से भी स्पष्ट होता है। जीवन जीने के तरीके के रूप में प्रजातंत्र मानव स्वभाव की सम्भावनाओं पर आधारित है। डीवी ने विमर्श, आग्रह, परामर्श सम्मेलन एवं शिक्षा को मतभेद समाप्त करने का साधन माना जो कि प्रजातंत्र और मानवतावाद दोनों के लिए समाचीन है। उसने शक्ति और दंड के आधार पर किसी मत को थोपने का हर संभव विरोध किया।

3.5.10 राजनीतिक दर्शन

डीवी के अनुसार सर्वाधिक 'विकास' महत्वपूर्ण है। सर्वांग उत्तम उद्देश्य नहीं है। ''संपूर्णता अंतिम लक्ष्य नहीं है, बल्कि संपूर्णता की ओर अग्रसर समझदारी और बेहतरी जीवन का लक्ष्य है।'' अच्छा होने का यह अर्थ नहीं है कि आज्ञाकारी और हानि न पँहुचाने वाला हो; बिना योग्यता के अच्छाई विकलांग है। बुद्धि नहीं हो तो संसार की कोई शक्ति हमें नहीं बचा सकती है। अज्ञानता सुखद नहीं है, यह मूढ़ता तथा दासता है; केवल बुद्धि ही हमें अपने भाग्य के निर्माण में कर्ता बना सकता है। हमारा जोर विचारों पर होना चाहिए न कि भावनाओं पर।

डीवी ने प्रजातांत्रिक पद्धति को स्वीकार किया, यद्यपि वह इसकी कमियों से अवगत थे। राजनीतिक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति को अधिकतम विकास में सहायता पँहुचाना है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार, अपने समूह की नीति को निश्चित करने तथा भविष्य को निर्धारित

करने में भूमिका निभाये। अभिजात तंत्र तथा राजतंत्र अधिक कार्यकुशल है पर साथ ही अधिक खतरनाक भी है। डीवी को राज्य पर संदेह था। वह एक सामूहिक व्यवस्था पर विश्वास करता था जिसमें जितना अधिक संभव हो कार्य स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा की जानी चाहिए। उन्होंने संस्थाओं, दलों, श्रम संगठनों आदि की बहुलता में व्यक्तिवाद का समन्वय किया।

डीवी की दृष्टि में राजनीतिक पुनर्संरचना तभी संभव है जब हम सामाजिक समस्याओं के समाधान में भी प्रयोगवादी विधि तथा मनोवृत्ति का प्रयोग करे जो कि प्राकृतिक विज्ञानों में बहुत हद तक सफल रहा है।

हमलोग अभी भी राजनीतिक दर्शन के आध्यात्मिक स्तर पर ही हैं। हमलोग सामाजिक बीमारियों को बड़े–बड़े विचारों, शानदार सामान्यीकरणों जैसे व्यक्तिवाद या समाजवाद, प्रजातंत्र या अधिनायकवाद या सामन्तवाद आदि से समाप्त नहीं कर सकते। हमलोग को प्रत्येक समस्या को विशिष्ट परिकल्पना से समाधान करने का प्रयास करना चाहिए न कि शाश्वत सिद्धान्तों से। सिद्धान्त जाल है जबकि उपयोगी प्रगतिशील जीवन को त्रुटि एवं सुधार पर निर्भर करना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. जॉन डीवी की शिक्षा से सम्बन्धित प्रमुख रचनायें कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

2. जॉन डीवी ने विमर्शात्मक चिन्तन के कौन से सोपान बताये?

.....

.....

.....

3.3 डीवी का शिक्षा दर्शन

विमर्शक अन्वेषण या खोज डीवी के सम्पूर्ण विचार क्षेत्र का महत्वपूर्ण पक्ष है। डीवी के अनुसार शिक्षा समस्या समाधान की प्रक्रिया है। हम कर के सीखते हैं। वास्तविक जीवन परिस्थितियों में क्रिया या प्रतिक्रिया करने का अवसर प्राप्त है। खोज शिक्षा में केन्द्रीय स्थान रखता है। केवल तथ्यों का संग्रह नहीं वरन् समस्या समाधान में बुद्धि का प्रयोग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा को प्रायोगिक होना चाहिए न कि केवल आशुभाषण या व्याख्यान।

डीवी के अनुसार शिक्षा में पुनर्रचनात्मक उद्देश्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अनुभव में कहीं भी। डीवी ने *डेमोक्रेसी एण्ड एडुकेशन* में कहा है ''शिक्षा लगातार अनुभव की पहचान तथा पुनर्रचना है।'' वर्तमान अनुभव इस तरह से निर्देशित हो कि भावी अनुभव अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हो। शिक्षा में यदि भूतकाल के मूल्य एवं ज्ञान दिए जाते हैं तो इस तरह से दिए जाने चाहिए कि वे विस्तृत, गहरे तथा बेहतर हो सके। शिक्षा में आलोचना, न कि निष्क्रिय स्वीकृति आवश्यक है। डीवी ने शिक्षा एवं विकास को समान माना है। अध्यापक के रूप में हम बच्चे के साथ वहाँ से शुरू करते है जहाँ वह अभी है, उसकी रूचि एवं ज्ञान में विस्तार कर हम उसे समुदाय एवं समाज में योग्य व्यक्ति बनाते है। वह अपने विकास के लिए उत्तरदायित्व के साथ कार्य करना सीखता है तथा समाज के सभी सदस्यों के विकास में सहयोग प्रदान करता है। शिक्षा किसी और चीज का साधन नहीं होना चाहिए। यह केवल भविष्य की तैयारी नहीं होनी चाहिए। विकास की प्रक्रिया आनन्दप्रद तथा आंतरिक रूप से सुखद होनी चाहिए, ताकि शिक्षा के लिए मानव को अभिप्रेरित करें। डीवी का शिक्षा दर्शन शिक्षा की सामाजिक प्रकृति पर जोर देता है, प्रजातंत्र से इसका घनिष्ठ एवं बहुआयामी सम्बन्ध है।

स्पेन्सर की मांग 'शिक्षा में अधिक विज्ञान और कम साहित्य' से आगे बढ़कर डीवी ने कहा विज्ञान किताब पढ़कर नहीं सीखना चाहिए वरन् उपयोगी व्यवसाय/कार्य करते हुए आना चाहिए।' डीवी के मन में उदार शिक्षा के प्रति बहुत सम्मान नहीं था इसका उपयोग एक स्वतंत्र व्यक्ति की संस्कृति का द्योतक है– एक आदमी जिसने कभी काम नहीं किया हो इस तरह की शिक्षा एक अभिजात्य तंत्र में सुविधा प्राप्त सम्पन्न वर्ग के लिए तो उपयोगी है पर औद्योगिक एवं प्रजातांत्रिक जीवन के लिए नहीं। डीवी के अनुसार अब हमें वह शिक्षा चाहिए जो व्यवसाय/पेशे से मिलती है न कि

किताबों से। विद्वत संस्कृति अहंकार को बढ़ाता है पर व्यवसाय/कार्य में साथ में मिलकर काम करने से प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास होता है। एक औद्योगिक समाज में विद्यालय एक लघु कार्यशाला और एक लघु समुदाय होना चाहिए– जो कार्य या व्यवहार तथा प्रयास एवं भूल (भूल एवं सुधार) द्वारा सिखाये। कला एवं अनुशासन जो कि सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है, की शिक्षा दी जानी चाहिए। विद्यालय केवल मानसिक वृद्धि का साधन प्रदान कर सकता है, शेष चीजें हमारे द्वारा अनुभव को ग्रहण एवं व्याख्या करने पर निर्भर करता है। वास्तविक शिक्षा विद्यालय छोड़ने पर प्रारम्भ होती है– तथा कोई कारण नहीं है कि ये मृत्यु के पूर्व रूक जाये।

3.6.1 शिक्षा का उद्देश्य

डीवी शिक्षा के पूर्व निर्धारित उद्देश्य के पक्ष में नहीं हैं। पर उनके कार्यों में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य स्पष्टतः दिखते हैं–

बच्चे का विकास– शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है बच्चे की शक्ति एवं क्षमता का विकास। प्रत्येक बच्चे की अपनी विशेष क्षमता होती है अतः एक ही प्रकार के विकास का सिद्धान्त लागू करना व्यर्थ है क्योंकि एक बच्चे का विकास दूसरे से अलग होता है। बच्चे की क्षमता के अनुरूप अध्यापक को विकास को दिशा देनी चाहिए। डीवी शिक्षा के उद्देश्य को अनुत्तरित रखना चाहते हैं। अगर शिक्षा के लिए एक निश्चित उद्देश्य तय किया जाता है तो यह अत्यधिक हानिप्रद हो सकता है। बिना आंतरिक क्षमताओं को ध्यान दिये अध्यापक विवश होगा एक विशेष दिशा में छात्रों को ले जाने के लिए। सामान्यतः शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें बच्चे को क्रियाशील होने का अवसर मिलता है। साथ ही दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य है मानव जाति की सामाजिक जागरूकता को बढ़ाना प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से शिक्षा बच्चे में सामाजिक क्षमता का विकास करता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है जिसका विकास समाज के मध्य ही होना चाहिए, समाज के बाहर उसका विकास नहीं हो सकता है अतः शिक्षा को सामाजिक क्षमता एवं कौशल का विकास करना चाहिए।

प्रजातांत्रिक व्यक्ति एवं समाज का सृजन– प्रयोजनवादी शिक्षा का लक्ष्य है व्यक्ति में प्रजातांत्रिक मूल्य एवं आदर्श को भरना, प्रजातांत्रिक समाज की रचना करना जिसमें व्यक्ति–व्यक्ति में भिन्नता न हो। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र हो तथा एक दूसरे का सहयोग करने को तत्पर रहे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी

इच्छा पूरी करने तथा क्षमता का विकास करने का अवसर मिले। व्यक्तियों के मध्य समानता होनी चाहिए। डीवी के अनुसार व्यक्ति एवं समूह के मध्य हितों में कोई अंतर नहीं होता है अतः शिक्षा का उद्देश्य है प्रजातांत्रिक समाज के व्यक्तियों के मध्य सहयोग एवं सद्भव को बढ़ाना। अतः नैतिक शिक्षा और विकास आवश्यक है। नैतिकता का विकास विद्यार्थियों द्वारा विद्यालय की विभिन्न गतिविधियों में भाग लेने से होता है जिससे उनमें जिम्मेदारी उठाने की भावना का विकास हो सके। इससे बच्चे का चरित्र विकसित होता है तथा सामाजिक कुशलता बढ़ती है। अवसर की समानता विद्यार्थियों को अपनी रूचि एवं रूझान के अनुरूप विकास का अवसर देता है।

भावी जीवन की तैयारी– प्रयोजनवादी शिक्षा वस्तुतः इस अर्थ में उपयोगी है कि यह व्यक्ति को भावी जीवन हेतु तैयार करता है ताकि वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर आत्मसंतोष प्राप्त कर सके। भावी जीवन की शिक्षा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन हेतु तैयारी करती है। डीवी परम्परागत शिक्षा पद्धति के विरोध में है। अतः उन्होंने प्रगतिशील शिक्षा की योजना बनायी तथा प्रगतिशील स्कूल की स्थापना की– ताकि बच्चे के व्यक्तित्व एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास हो सके।

3.6.2 पाठ्यचर्चा

डीवी के अनुसार शिक्षा प्रक्रिया के दो पक्ष हैं– मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक।

1. **मनोवैज्ञानिक पक्ष**– बच्चे की रूचि एवं क्षमता के अनुसार पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधि निर्धारित किए जाने चाहिए। बच्चे की रूचि को जानने के उपरांत शिक्षा दी जानी चाहिए। तथा इनका उपयोग विभिन्न स्तरों पर शिक्षा की पाठ्यचर्चा के निर्धारण में किया जाना चाहिए।
2. **सामाजिक पक्ष**– शिक्षा की शुरूआत व्यक्ति द्वारा जाति की सामूहिक चेतना में भाग लेने से होती है। अतः विद्यालय का ऐसा वातावरण होना चाहिए कि बच्चा समूह की सामाजिक चेतना में भाग ले सके। यह उसके व्यवहार में सुधार लाता है और व्यक्तित्व तथा क्षमता में विकास कर उसकी सामाजिक कुशलता बढ़ाता है।

पाठ्यचर्चा के सिद्धान्त– डीवी ने पाठ्यचर्चा की संरचना के लिए चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन कियाः

1. **उपयोगिता**– पाठ्यक्रम को उपयोगिता पर आधारित होनी चाहिए– अर्थात् पाठ्यचर्चा बच्चे के विकास के विभिन्न सोपानों में उसकी रूचि एवं रूझान पर आधारित होना चाहिए। बच्चों में चार प्रमुख रूचि देखी जा सकती हैं– बात करने की इच्छा तथा विचारों का आदान–प्रदान, खोज, रचना तथा कलात्मक अभिव्यक्ति। पाठ्यचर्चा इन चार तत्वों द्वारा निर्धारित होने चाहिए तथा पढ़ना, लिखना, गिनना, मानवीय कौशल, संगीत एवं अन्य कलाओं का अध्यापन करना चाहिए। सारे विषयों को एक साथ नहीं वरन् जब मानसिक विकास के विशेष स्तर पर इसकी आवश्यकता एवं इच्छा जाहिर हो तब पढ़ाया जाना चाहिए।

2. **नमनीयता**– अनम्य या पूर्वनिर्धारित की जगह पाठ्यचर्चा लचीली होनी चाहिए। ताकि बच्चे की रूचि या रूझान में परिवर्तन को समायोजित किया जा सके।

3. **प्रायोगिक कार्य**– पाठ्यचर्चा को बच्चे के तत्कालिक अनुभवों से जुड़ा होना चाहिए। समस्या के रूप में विभिन्न तरह की गतिविधियों को उपस्थित कर इनके अनुभव को बढ़ाया जा सकता है और मजबूत किया जा सकता है। इस प्रकार अनुभवों के प्रकार को बढ़ाया जा सकता है। यथासंभव विषयों का अध्यापन बच्चे के अनुभव पर आधारित होना चाहिए।

4. **सामीप्य**– जहाँ तक संभव हो पाठ्यचर्चा में उन्हीं विषयों को रखा जाये जो बच्चे के तत्कालीन विकास की स्थिति में उसके जीवन की प्रक्रिया से जुड़ा है। इससे उसको दिए जा रहे ज्ञान में ऐक्य हो सकेगा। जिससे इतिहास, भूगोल, गणित, भाषा में समन्वय स्थापित हो सके। डीवी वर्तमान में ज्ञान को विभिन्न विषयों में बाँटकर पढ़ाये जाने की विधि के कटु आलोचक थे क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसा विभाजन अप्राकृतिक है। जहाँ तक संभव हो पाठ्यचर्चा के सभी विषय सम्बन्धित या एकीकृत हो।

3.6.3 शिक्षण–विधि

आधुनिक शिक्षण विधि के विकास में जॉन डीवी की भूमिका महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी शिक्षण विधि में निम्न पक्षों पर जोर दिया।

1. **कर के सीखना**– डीवी ने अपनी दो पुस्तकों *हाउ वी थिन्क* एवं *इन्ट्रेस्ट एण्ड एफोर्टस इन एजुकेशन* में अनेक नवीन एवं उपयोगी शिक्षण विधियों का प्रतिपादन किया है। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है अगर बच्चा स्वयं कर के कोई विषय सीखता है तो वह सीखना अधिक प्रभावशाली होता है। अध्यापक को यह नहीं चाहिए कि जीवन भर जितनी सूचनाओं को उसने संग्रहित किया है वह छात्र के मस्तिष्क में जबरन डाले। वरन् अध्यापक ऐसी परिस्थिति का निर्माण करे कि छात्र स्वयं प्राकृतिक क्षमता एवं गुणों का विकास करने में समर्थ हो। छात्रों को तथ्यों की जानकारी तब दी जाय जब वह उन तथ्यों से सम्बन्धित कार्य कर रहे हों। साथ ही बच्चे को वास्तविक समस्याओं एवं कठिनाइयों से जूझने का अवसर मिलना चाहिए ताकि वह उन समस्याओं/कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयास करे। समस्या समाधान एक अच्छी पद्धति है जो कि बच्चे के अनुभव में वृद्धि करता है।

2. **एकीकरण**– बच्चे के जीवन, उसकी क्रियाओं एवं पढ़े जाने वाले विषयों (विषय वस्तु) में ऐक्य हो। सभी विषयों को उसकी क्रियाओं के इर्द–गिर्द– जिससे कि बच्चे अभ्यस्त हैं पढ़ाया जाना चाहिए। महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों में इसकी झलक दिखती है।

3. **बाल केन्द्रित पद्धति**– बच्चे की रूचि के अनुसार शिक्षा दी जानी चाहिए। डीवी रूचि एवं प्रयास को शिक्षा में सर्वोच्च मानते हैं। शिक्षक को छात्र की रूचि क्रियाकलापों की योजना बनाने के पूर्व, अवश्य समझनी चाहिए। अगर बच्चों को स्वयं कार्यक्रम बनाने का अवसर दिया जाय तो वह रूचि के अनुसार बनायेंगे। बेहतर यह होगा कि उसे कोई भय या दबाव के अन्दर कार्य करना न पड़े ताकि वह स्वतंत्रता पूर्वक कार्यक्रम बना सके। अगर यह हो जाये तो विद्यालय के सारे क्रियाकलाप स्वेच्छा से लिए गए क्रियाकलाप होंगे।

यद्यपि यह सिद्धान्त शिक्षा–मनोविज्ञान के अनुरूप है पर इसकी कमी यह है कि बच्चे बहुत से विषयों के ज्ञान से वंचित रह जायेंगे तथा जो भी ज्ञान मिलेगा वह अनियोजित होगा।

4. **योजना पद्धति**– डीवी के विचारों के आधार पर बाद में योजना

पद्धति का विकास हुआ जिससे छात्रों में उत्साह, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, सहयोग तथा सामाजिक भाव का विकास का होता है।

3.6.4 शिक्षक का दायित्व

विद्यालय में ऐसे वातावरण का निर्माण करे जिससे बच्चे का सामाजिक व्यक्तित्व विकसित हो सके ताकि वह एक उत्तरदायी, प्रजातांत्रिक नागरिक बन सके। डीवी अध्यापक को इतना महत्वपूर्ण मानता है कि वह अध्यापक को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि कहता है।

प्रजातांत्रिक निदेशक– शिक्षक का व्यक्तित्व एवं कार्य प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों एवं शिक्षा मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए। विद्यालय में समानता एवं स्वतंत्रता का महत्व समझाने हेतु अध्यापक को, अपने को विद्यार्थियों से श्रेष्ठ नहीं मानना चाहिए। उसे अपने विचारों, रूचियों एवं प्रकृतियों को विद्यार्थियों पर नहीं लादना चाहिए। उसे बच्चों की रूचियों एवं व्यक्तित्व की विशेषताओं को देखते हुए पाठ्यचर्चा का निर्धारण करना चाहिए। अतः अध्यापक को लगातार बच्चों की भिन्नता का ध्यान रखना चाहिए। अध्यापक बच्चों को ऐसे कार्यों मे लगाए जो उसे सोचने और निदान ढूँढ़ने के लिए प्रेरित करे।

3.6.5 अनुशासन

1. **समाजीकरण द्वारा अनुशासन**– अगर बच्चें ऊपर वर्णित योजना के अनुसार कार्य करे तो विद्यालय में अनुशासन बनी रहती है। कठिनाई तब होती है जब बाह्य शक्तियों द्वारा बच्चों को अपनी प्राकृतिक इच्छाओं को प्रकट करने से रोका जाय। डीवी के अनुसार अनुशासन बच्चे के अपने व्यक्तित्व और उसके सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। वास्तविक अनुशासन सामाजिक नियंत्रण का रूप लेती है– जब बच्चा विद्यालय के सामूहिक क्रियाकलापों में भाग लेता है। अतः विद्यालय का वातावरण ऐसा हो कि बच्चे को पारस्परिक सद्भाव एवं सहयोग के साथ जीने को प्रेरित करे। बच्चे में अनुशासन एवं नियमबद्धता का विकास इससे हो सकता है कि वे समूह में एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करे।
2. **विद्यालय कार्यक्रम के द्वारा आत्मअनुशासन**– विद्यालय के

कार्यक्रम बच्चों के चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अतः बच्चों को ऐसा सामाजिक वातावरण दिया जाना चाहिए जिससे उसमें आत्मअनुशासन की भावना का विकास हो सके ताकि वास्तव में वह एक सामाजिक प्राणी बन सके। शांत वातावरण अच्छे और शीघ्र कार्य के लिए आवश्यक है, पर शांति एक साधन है, साध्य नहीं। बच्चे आपस में झगड़े नहीं पर इसके लिए बच्चों को डाँटना या दंडित करना उचित नहीं है वरन् दायित्व की भावना का विकास कर उसमें अनुशासन का विकास हो सके। इसके लिए अध्यापक को स्वयं उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार करना होगा।

3. **सामाजिक कार्यों में सहभागिता**– सामाजिक कार्यों में सहभागिता शैक्षिक प्रशिक्षण का एक अनिवार्य हिस्सा है। विद्यालय स्वयं एक लघु समाज है। अगर बच्चा विद्यालय के सामाजिक कार्यों में भाग लेता है तो भविष्य में वह सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों में भाग लेने के लिए प्रशिक्षित हो जायेगा। इस तरह से एक प्रौढ़ के रूप में वह एक अनुशासित जीवन जीने का अभ्यस्त हो जायेगा।

3.6.6 समालोचना

यद्यपि डीवी के विचारों को शिक्षा जगत में उत्साह के साथ स्वीकार किया गया परन्तु साथ ही साथ उसकी आलोचना भी की गई। आलोचना के निम्नलिखित आधार थे–

1. **सत्य को स्थायी न मानने में कठिनाई**– डीवी सत्य को समय एवं स्थान के सापेक्ष परिवर्तनशील मानते हैं। डीवी के अनुसार कोई भी दर्शन सर्वदा सही या सत्य नहीं हो सकता। कुछ विशेष स्थितियों में ही इसकी उपयोगिता होती है। उपयोगिता ही सत्य की अंतिम कसौटी है। अतः आदर्शवादियों ने डीवी की आलोचना की।
2. **भौतिकवादी आग्रह**– आदर्शवादी दर्शन के विरोध में विकसित होने के कारण आदर्शवदियों आध्यात्मिक आग्रह के विपरीत इनमें भौतिकता के प्रति आग्रह है।
3. **शिक्षा के किसी भी उद्देश्य की कमी**– शिक्षा के द्वारा प्रजातांत्रिक

आदर्श की प्राप्ति का उद्देश्य डीवी के शिक्षा सिद्धान्त में अन्तर्निहित है पर वह शिक्षा का कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं बताता है। उसके लिए शिक्षा स्वयं जीवन है तथा इसके लिए कोई उद्देश्य निर्धारित करना संभव नहीं है। अधिकांश विद्वान इससे असहमत है। उनके मत में शिक्षा का विकास तभी हो सकता है जब उसका कुछ निश्चित लक्ष्य एवं उद्देश्य हो। बच्चे को विद्यालय भेजने का कुछ निश्चित उद्देश्य होता है। यद्यपि विद्यालय कई अर्थों मे समाज के मध्य इसका एक अलग अस्तित्व है।

4. **व्यक्तिगत भिन्नता पर अत्यधिक जोर**– आधुनिक दृष्टिकोण बच्चे की भिन्नता को शिक्षा देने में अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता है। बच्चे को उसकी रूचि एवं झुकाव के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए। पाठ्यक्रम तथा विधियाँ इसे ध्यान में रखकर तय की जाये। सिद्धान्ततः यह बात बिल्कुल सही प्रतीत होती है पर वास्तविक स्थिति में इसे लागू करने पर कई कठिनाईयाँ सामने आती है। यह लगभग असंभव है कि हर बच्चे के लिए अलग–अगल शिक्षा योजना बनाई जाये। किसी विषय में किसी बच्चे की रूचि बिल्कुल नहीं हो सकती है, फिर भी अध्यापक को पढ़ाना पड़ता है।

3.7 डीवी का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव

डीवी के विचारों का आधुनिक शिक्षा पर व्यापक प्रभाव है। आधुनिक शिक्षा पर डीवी के प्रभाव को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

1. **शिक्षा के उद्देश्य पर प्रभाव**– प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास आधुनिक शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सामाजिक गुणों का विकास भी डीवी के कारण शिक्षा में महत्वपूर्ण माना जाने लगा।
2. **शिक्षण विधि पर प्रभाव**– आधुनिक शिक्षण विधि पर डीवी के विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ा। शिक्षा बच्चे के अनुभव पर आधारित होनी चाहिए। बच्चे की क्षमता, रूचि एवं रूझान के अनुसार शिक्षण विधि बदलनी चाहिए। इन विचारों ने आधुनिक शिक्षण विधि को प्रभावित किया। 'एक्टीविटी स्कूल' इसी का परिणाम है।

प्रोजेक्ट विधि भी डीवी के विचारों का ही फल है। दूसरे विद्यालयों में

भी बच्चे के मनोविज्ञान पर ध्यान दिया जाने लगा। साथ ही बच्चों में सामाजिक चेतना के विकास का भी प्रयास किया जाता है।

3. **पाठ्यचर्चा पर प्रभाव**– डीवी क अनुसार मानव श्रम को पाठ्यचर्चा में स्थान दिया जाना चाहिए। यह शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष बन गया। विभिन्न तरह के खेलों, वस्तुओं, विभिन्न उपकरणों के उपयोग पर आज अधिक जोर दिया जाता है। पढ़ाये जाने हेतु विषयों के चलन में भी बच्चे की रूचि एवं क्षमता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

4. **अनुशासन पर प्रभाव**– आज बच्चों को विद्यालय में अधिक से अधिक जिम्मेदारियाँ सौपी जाती हैं ताकि उनमें आत्म नियंत्रण और प्रजातांत्रिक नागरिकता के गुणों का विकास हो सके। जिम्मेदारी बच्चे को सही ढ़ंग से सोचने एवं कार्य करने की प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

5. **सार्वजनीन शिक्षा**– डीवी के आदर्शों एवं विचारों ने सार्वजनिक एवं अनिवार्य शिक्षा की माँग को बल प्रदान किया। हर व्यक्ति को शिक्षा के द्वारा अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलना चाहिए। इस सिद्धान्त को सर्वत्र मान्यता मिल गयी। वर्तमान वैज्ञानिक एवं सामाजिक रूझान की जड़ें डीवी के विचारों में है। उन्होंने शिक्षा को सामाजिक आवश्यकता बताया। यह जीने की तैयारी नहीं स्वयं जीवन है। यह व्यक्ति एवं समाज दोनों का विकास करता है। इससे व्यक्ति का समग्र विकास होता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. जॉन डीवी ने शिक्षा के क्या उद्देश्य बताये?

.....

.....

.....

4. जॉन डीवी ने पाठ्यचर्चा निर्माण के लिए किन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया?

.....

.....

.....

.....

.....

5. जॉन डीवी के अनुसार प्रमुख शिक्षण विधियाँ कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3.8 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी के शिक्षा दर्शन का अध्ययन किया। हमलोगों ने देखा कि वे एक महान प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री थे जिन्होंने न केवल संयुक्त राज्य अमेरिका वरन् पूरे विश्व की शिक्षा व्यवस्था को व्यापक रूप से प्रभावित किया। उन्होंने सत्य को परिवर्तनशील बताकर मानव को आधुनिक जीवन की अनिश्चितता के प्रति सावधान किया। पाठ्यक्रम एवं शिक्षण–विधि को जॉन डीवी ने वैज्ञानिक दिशा दी। अनवरत विकास को लक्ष्य माना गया। कर के सीखने पर जोर दिया गया। बच्चे की प्रकृति के अनुरूप शिक्षा देने की बात कही गई। साथ ही प्रोजेक्ट विधि की सैद्धान्तिक आधारशिला डीवी ने ही रखी। इस प्रकार डीवी के शिक्षा–दर्शन ने पूरे विश्व की शिक्षा के परिदृश्य को परिवर्तित कर दिया।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. जॉन डीवी की शिक्षा सम्बन्धी प्रमुख रचनायें हैं–

दि स्कूल एण्ड सोसाइटी (1899), दि चाइल्ड एण्ड दि क्यूरीकुलम (1902), हाउ वी थिन्क (1910), इन्ट्रेस्ट एण्ड एर्फट इन एडुकेशन (1913), स्कूल्स ऑफ टूमॉरो (1915), डेमोक्रेसी एण्ड एडुकेशन (1916),

ह्यूमन नेचर एण्ड कन्डक्ट (1922), इक्सपीरियन्स एण्ड नेचर (1925), दि क्वेस्ट फॉर सर्टेन्टिः स्टडी ऑफ रिलेशन ऑफ नॉलेज एण्ड एक्शन (1929), सोर्सेज ऑफ साइन्स एडुकेशन (1929)

2. जॉन डीवी ने विमर्शात्मक चिन्तन के निम्नलिखित पद बताये–

   I. समस्या का आभास

   II. समस्या का स्पष्टीकरण

   III. समाधान हेतु परिकल्पना का निर्माण

   IV. निगनात्मक विवेचना

   V. परिकल्पना का परीक्षण या जाँच

3. जॉन डीवी की शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताये–

   I. बच्चे का विकास।

   II. प्रजातांत्रिक व्यक्ति एवं समाज का सृजन।

   III. भावी जीवन की तैयारी।

4. जॉन डीवी ने पाठ्यचर्चा निर्माण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया–

   I. उपयोगिता का सिद्धान्त।

   II. नमनीयता का सिद्धान्त।

   III. प्रायोगिक कार्य।

   IV. जीवन से सामीप्य।

5. डीवी के अनुसार प्रमुख शिक्षण विधियाँ निम्नलिखित हैं–

   I. कर के सीखना।

   II. जीवन, क्रिया एवं पाठ्यवस्तु का एकीकरण।

   III. बालकेन्द्रित शिक्षा।

3.10 सहायक अध्ययन साम्रगी

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1947*), ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन,* न्यूयार्कः दि

मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002), *वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन,* नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (2000), *दि डोकटराइन्स ऑफ ग्रेट एडुकेटर्स,* नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (1990), *शिक्षा के दार्शनिक आधार,* जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, (अनुवादक– लक्ष्मीलाल के0 ओड़)।

रॉस, जे0 एस0 (1950), *ग्राउन्डवर्क ऑफ एडुकेशनल थियोरी,* लन्दनः जार्ज जी0 हार्पर।

इकाई 4: कमेनियस

संरचना

1.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 जीवन–वृत्त

4.4 कमेनियस की प्रमुख कृतियां

4.5 कमेनियस का शिक्षा–सिद्धान्त

4.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

4.5.2 शिक्षा–मनोविज्ञान

4.5.3 तत्कालीन शिक्षा–व्यवस्था की आलोचना

4.5.4 लड़के एवं लड़कियों दोनों के लिए शिक्षा

4.5.5 विद्यालयी शिक्षा का महत्व

4.5.6 विद्यालय का संगठन

4.5.7 पाठ्यक्रम

4.5.8 शिक्षण–विधि

4.5.9 अनुशासन और दण्ड

4.6 कमेनियस का शिक्षा पर प्रभाव

4.7 सारांश

4.8 अभ्यास प्रश्न

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.10 सहायक अध्ययन सामग्री

4.1 प्रस्तावना

जॉन एमोस कमेनियस शिक्षा में यथार्थवादी आन्दोलन के एक अग्रगण्य प्रतिनिधि थे। कमेनियस के पूर्व के शिक्षाशास्त्री एवं दार्शनिक समाज के अभिजात्य वर्ग को ही शिक्षित करना शिक्षा का कार्य मानते थे। इसके विपरीत कमेनियस ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि 'सबों को

हर ज्ञान' की शिक्षा दी जाय। साथ ही उन्होंने व्यावहारिक रूप में सार्वजनिक शिक्षा के प्रबन्ध का प्रयास किया। उन्होंने शिक्षा के सन्दर्भ में सैद्धान्तिक पक्ष के साथ–साथ कक्षा की समस्याओं की भी स्पष्ट विवेचना की। कमेनियस ने भाषा, विशेषतः लैटिन की शिक्षा हेतु वैज्ञानिक सिद्धान्त विकसित किये। साथ ही स्कूल–पुस्तकों की भी रचना की जिसमें नई शिक्षण–विधि के प्रयोग पर जोर है। इस प्रकार कमेनियस ने शिक्षा में नवीन प्रयोग किए और आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा की आधारशिला रखी।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप कमेनियस के शिक्षा सम्बन्धी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कार्यों को समझ सकेंगे। जिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा की जायेगी, वे हैं–

1. कमेनियस का जीवन–वृत्त।
2. कमेनियस की शिक्षा सम्बन्धी प्रमुख कृतियां।
3. विश्वज्ञान या 'पानसोफिया' का संप्रत्यय।
4. कमेनियस का शिक्षा–दर्शन, विशेषतः शिक्षा के स्तर पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधि के सन्दर्भ में।
5. कमेनियस के कार्यों का शिक्षा पर प्रभाव।

4.3 जीवन–वृत्त

जॉन एमस कमेनियस का जन्म 1592 ई0 में मोरेविया के निवनिज नामक ग्राम में एक अत्यन्त ही विद्यानुरागी एवं प्रगतिशील समुदाय में हुआ था। इस सम्प्रदाय ने धार्मिक सुधार हेतु प्रगतिशाील कदम उठाये। साथ ही साथ शिक्षा हेतु विभिन्न स्तर के शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की। इस तरह के वातावरण में पलने–बढ़ने से शिक्षा के प्रति कमेनियस का अनुराग स्वभाविक था।

कमेनियस के माता–पिता की मृत्यु उसकी बाल्यावस्था में ही हो गई थी। पिता के द्वारा छोड़ी गई सम्पति पर उसके संरक्षकों का अधिकार हो गया। अतः कमेनियस को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के विद्यालय में हुई, जहाँ उसने लिखना–पढ़ना और प्रारम्भिक गणित सीखा। उस काल में लैटिन का ज्ञान शिक्षित व्यक्ति के लिए

आवश्यक माना जाता था। कमेनियस ने सोलह वर्ष की अवस्था में लैटिन सीखना प्रारम्भ किया जबकि उसके सहपाठी छह–सात वर्ष के ही थे। परिपक्व होने के कारण कमेनियस ने लैटिन के शिक्षण–अधिगम विधि की कमियों को महसूस किया और उसमें सुधार को जरूरी मानने लगा।

कमेनियस ने नासाऊ में कॉलेज ऑफ हरवार्न में उच्च शिक्षा ली। मोरेविया वापस आकर उसने पादरी एवं अध्यापक के रूप में कार्य करते हुए कई पुस्तकों की रचना की। प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनुयायी होने के कारण कमेनियस को 1628 ई0 में देश निकाला मिला। इसके उपरांत पोलैण्ड में लिस्सा नामक स्थान पर एक जिमनैजियम का निदेशक नियुक्त हुआ। लिस्सा में रहते हुए कमेनियस ने शिक्षा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पुस्तकें 'दि ग्रेट डाइडेक्टिक', 'गेट ऑफ टंग्स अनलॉक्ड' आदि की रचना की।

कमेनियस शिक्षा सम्बन्धी विचारों के कारण पूरे यूरोप में लोकप्रिय हो चला था। ब्रिटिश संसद उसे एक शोध संस्थान हेतु इंग्लैंड बुलाना चाहती थी पर यह योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। कमेनियस शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन हेतु स्वीडन गया जहाँ उसने छह वर्ष के कठिन परिश्रम से लैटिन की स्कूली पुस्तकों को तैयार किया। इस क्रम–बद्ध पाठ्यपुस्तकों की श्रृंखला को पूरे यूरोप में ख्याति मिली।

स्वीडन के उपरांत कमेनियस 1650 ई0 में हंगरी गया जहाँ उसे एक विद्यालय स्थापित करने हेतु आमंत्रित किया गया था। कमेनियस इस विद्यालय को अपने सिद्धान्तों के अनुरूप बनाना चाहता था पर इस कार्य में उसे असफलता ही मिली। जीवन के अन्तिम वर्षों को कमेनियस ने एम्सटर्डम में बिताया जहाँ 1670 ई0 में उसकी मृत्यु हो गई।

4.4 कमेनियस की प्रमृख कृतियाँ

कमेनियस ने अनेक पुस्तकों की रचना की। इनमें सर्वप्रमुख 'दि ग्रेट डाइडेक्टिक' है जो उनकी प्रारम्भिक रचना है। इस काल में कमेनियस के कार्यों पर धर्म का अधिक प्रभाव था। इस पुस्तक में कमेनियस ने ''प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक विषय पढ़ाने' सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा इसे पढ़ाने की विधि बतलायी। इस पुस्तक का उपशीर्षक कमेनियस की प्रजातांत्रिक विचारधारा को स्पष्ट करता है ''ईसाई साम्राज्य के उपनगर, नगर

एवं गाँव में बिना किसी अपवाद के सभी लड़के एवं लड़कियों के लिए ऐसे विद्यालयों की स्थापना करना जहाँ वे शीघ्रता एवं आनन्द से व्यापक रूप में विज्ञान, नैतिकता एवं धार्मिकता में प्रशिक्षित होंगे तथा उन सभी चीजों में शिक्षित होंगे जिसकी आवश्यकता वर्तमान एवं भविष्य में पड़ेगी।''

कमेनियस की दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक है 'गेट ऑफ टंगस अनलॉक्ड'। इस पुस्तक की रचना लैटिन सीखने वालों के लिए की गई। इसमें इस शास्त्रीय भाषा के संदर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी देते हुए इसे सीखने की विधि बनाई गई है। स्वेडन प्रवास के दौरान उन्होंने स्कूली बच्चों द्वारा लैटिन सीखने के लिए क्रमिक पाठ्यपुस्तकों की रचना की। इनमें से 'जनुआ लिंग्वारम' पूरे विश्व में प्रसिद्ध है और अनेक भाषाओं में प्रकाशन किया गया। इसमें 100 अध्याय है। शीर्षक क्रमबद्ध ढ़ंग से दिया गया है, जैसे– संसार की उत्पत्ति, आग, पानी, पत्थर, धातु, वृक्ष तथा फल, जड़ी–बूटी, पशु, मानव, उसका शरीर, बाह्य सदस्य, आन्तरिक सदस्य, शरीर का गुण, रोग, अल्सर एवं घाव, बाह्य इन्द्रियां, आन्तरिक इन्द्रियां, मस्तिष्क, इच्छा, स्नेह, यांत्रिक कला, घर एवं उसके भाग, विवाह, परिवार, राज्य एवं नागरिक अर्थव्यवस्था, व्याकरण, भाषण कला, द्वन्दवाद तथा ज्ञान की अन्य शाखायें आदि। इस बात का ध्यान रखा गया कि प्रत्येक में व्याकरण की संरचना दी जाये ताकि एक कुशल अध्यापक आगमन पद्धति से व्याकरण का भी संपूर्ण ज्ञान छात्रों में विकसित कर सके।

'दि लेबरिन्थ ऑफ दि वर्ल्ड' तथा 'दि पैराडाइज ऑफ दि अर्थ' में उसने अपने धार्मिक सुधार के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। दि लेबरिन्थ में उसने विद्यार्थियों को दिए जा रहे अमानवीय दंड का उल्लेख किया है। 'दि पैराडाइज ऑफ दि अर्थ' में उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य ईसामसीह के बताये मार्ग का अवलम्बन करना बताया है।

1633 में कमेनियस ने वेस्टिबुलम (द्वार) प्रकाशित किया– जो कि पहले की व्याकरण की पुस्तकों से बहुत सरल था। बाद में दूसरे ग्रंथों की भी रचना की। दि एटरियम दि जनुआ का विस्तार था– उसी योजना को स्वीकार किया गया– उन्हीं विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया तथा व्याकरण पर भी अधिक ध्यान दिया गया। साथ में लैटिन में लिखे व्याकरण का भी उपयोग किया जाना था। इस सीरीज की अंतिम पुस्तक दि पैलेस या थेजारस में संक्षेप

में लैटिन भाषा में उपलब्ध साहित्य को संकलित किया गया।

दि ओरबिस पिक्चस सेन्सुअलियम 1657 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में परिचय, प्रतीकों या शब्दों की जगह– वस्तुओं के चित्रों द्वारा दिया गया है। दि ओरबिस पिक्चस बच्चों हेतु चित्र सहित पहली पाठ्य पुस्तक होने के कारण प्रसिद्ध है। लेकिन वस्तुओं को प्रस्तुत करने की विधि तथा आगमन विधि से सामान्य ज्ञान की ओर बढ़ना और अधिक महत्वपूर्ण है। पाठ्य वस्तु तो जनुआ की ही है पर प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में अनेक नम्बर सहित चित्र दिए गए है। नम्बर पंक्ति का बोध करता है।

यद्यपि कमेनियस ने 100 से भी अधिक पुस्तकों एवं पाठ्य पुस्तकों की रचना की पर यह सब उसके एक सैद्धान्तिक कार्य *दि डाइडेक्टिक मैग्ना* में समाहित है जो 1632 में पूरी हुई– पर इसका लैटिन अनुवाद 1657 तक प्रकाशित नहीं हुआ पाल मुनरो (246) के अनुसार यह अब तक शिक्षा से सम्बन्धित लिखे गए सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में एक है। यह वर्तमान समय में भी अध्यापकों के लिए बेहद उपयोगी है। इसने भावी शैक्षिक विकास की विस्तृत आधारशिला रखी।

विश्वज्ञान (पॉनसोफिक)

कमेनियस का शिक्षा–सुधार का प्रयास धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित था। धर्म के अलावा उसकी रूचि विश्व–ज्ञान या सार्वभौमिक ज्ञान में था। यह विश्व–कोष (इनसाइक्लोपेडिया) के ज्ञान से भिन्न था, जो कि मध्यकाल में एक सामान्य प्रक्रिया थी। इसका उद्देश्य था ''ब्रह्माण्ड की संरचना का उपयुक्त विश्लेषण, सभी अंगो एवं शिराओं का विच्छेदन इस तरह से करना कि ऐसा कुछ भी शेष नहीं हो जो दिखे नहीं। बिना किसी भ्रम के, सभी अंग अपने उपयुक्त स्थल पर दिखेंगे।'' पहले विश्वकोष तथ्यों का संकलन मात्र था, लेकिन कमेनियस ने तथ्यों को सार्वभौमिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित किया। प्रत्येक कला एवं विज्ञान विषय में सार्वभौमिक नियम को आधार बनाया। अर्थात् जो सर्वाधिक ज्ञात ज्ञान है से प्रारम्भ कर क्रमशः कम ज्ञान या अज्ञात की ओर बढ़ना– तब तक जब तक सारा ज्ञान समाहित न हो जाये। अतः कमेनियस की हर पाठ्यपुस्तक में प्रत्येक अध्याय एवं पैराग्राफ एक बिन्दु से दूसरे की ओर क्रमबद्ध ढ़ंग से बढ़ता है और इस तरह से उसने सार्वभौमिक सिद्धान्त के आधार पर पाठ्यपुस्तकों की रचना की।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. कमेनियस की शिक्षा सम्बन्धी प्रमुख पुस्तकें कौन सी थी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. 'दि ग्रेट डाइडेक्टिक' में कमेनियस ने किस प्रजातांत्रिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 कमेनियस का शिक्षा–सिद्धान्त

कमेनियस ने शिक्षा के सभी आयामों–उद्देश्य, संरचना, पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधि, अनुशासन और दंड पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये और उन्हें व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया। वस्तुतः कमेनियस के शिक्षा–सिद्धान्तों में आधुनिक शिक्षा के बीज निहित है।

4.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि ग्रेट डाइडेक्टिक' में कमेनियस ने मानव जीवन के मूल उद्देश्य की चर्चा करते हुए कहा ''मानव का सर्वप्रमुख उद्देश्य है

ईश्वर के साथ शाश्वत खुशी या प्रसन्नता ''शिक्षा का उद्देश्य है इस महान कार्य में सहायता प्रदान करना। यहाँ तक उस समय के सभी दार्शनिक सहमत थे। लेकिन साधन के रूप में शिक्षा के संप्रत्यय के संदर्भ में भिन्नता थी। कमेनियस के पूर्व के दार्शनिक नैसर्गिक इच्छा, मूल प्रवृत्ति और संवेगो को नियन्त्रित या समाप्त कर मानसिक एवं नैतिक अनुशासन लाना चाहते थे। कमेनियस ने बिल्कुल दूसरी धारा पर कार्य किया– जो आधुनिक शैक्षिक प्रयत्नों का मार्ग बन गया। कमेनियस के अनुसार अंतिम या सर्वप्रमुख धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति अपने ऊपर नैतिक नियन्त्रण रखकर किया जा सकता है। इसे स्वयं के बारे में ज्ञान तथा दूसरे पदार्थों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर हासिल किया जा सकता है। कमेनियस के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है क्रमशः ज्ञान, सद्‌गुण तथा धर्मपरायणता को प्राप्त करना। कमेनियस ने संगत रूप में इन उद्देश्यों को तर्क एवं मनोविज्ञान के आधार पर एक सूत्र में पिरो दिया। ज्ञान, सदाचार एवं धर्मपरायणता यही आत्मोन्नयन का क्रम है और यही शिक्षा का उद्देश्य है।

कमेनियस ने अपने प्रथम पानसोफिक कार्य (विश्वज्ञान) में कहा कि ज्ञान प्राप्ति के तीन माध्यम हैंः (अ) इन्द्रियाँ (ब) बुद्धि तथा दैविक दृष्टि या दिव्य ज्ञान। मानव से गलतियां नहीं होंगी अगर इन तीनों में समन्वय बनाया जाय। अतः शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है ज्ञान के इन तीनों माध्यमों में समन्वय स्थापित कर मानव–जीवन को बेहतर बनाना।

कमेनियस सबों को शिक्षा देना चाहते थे क्योंकि उन्हें हर आदमी में अनन्त संभावनायें दिखती थी। साथ ही भाग्य की अनिश्चितता से मानव को बचाने हेतु कमेनियस सबों को हर चीज की शिक्षा देने का उद्देश्य रखते हैं। इस तरह से शिक्षा के सार्वजनीकरण का उद्देश्य का आधार धार्मिक था।

4.5.2 कमेनियस का शिक्षा–मनोविज्ञान

कमेनियस पौधों एवं जन्तुओं के विकास, प्राकृतिक घटनाओं, बच्चों की रूचि, शिल्पों एवं मानवीय कलाओं के गम्भीर अवलोकनकर्ता थे। उनका मानना था कि बच्चे का प्राकृतिक विकास ही शिक्षा का सही आधार होना चाहिए। वे मानव के पाँच *इन्द्रियों* को आत्मा क द्वार मानते थे। वे इस पुराने कहावत को सही मानते थे ''बुद्धि में ऐसा कुछ भी नहीं होता है जो पहले इन्द्रियों में न हो।'' शिशु एवं वर्नाक्यूलर विद्यालयों की शिक्षा को कमेनियस ने इसी सिद्धान्त पर आधारित किया।

कमेनियस ने *कल्पना शक्ति* को छठी इन्द्रिय कहा। कमेनियस ने बच्चे के ज्ञान तथा अध्यात्मिक पक्ष के विकास के लिए कल्पना शक्ति को आवश्यक माना। उसने यह माना कि *याद* करने की शक्ति को अभ्यास के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। लेकिन याद करने के पूर्व विषय वस्तु की विवेचना एवं समझ आवश्यक है। अतः उसने श्यामपट्ट, चित्र, रेखाचित्र आदि के उपयोग को आवश्यक बताया। केवल महत्वपूर्ण चीजों को ही याद किया जाना चाहिए।

कमेनियस ने *तर्क एवं विवेक* को महत्वपूर्ण माना। इसके द्वारा मानव को किसी भी चीज को कहाँ और कैसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए या उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, को तय कर पाता है।

शिक्षा में *संवेगो* की भूमिका को कमेनियस ने महत्वपूर्ण माना। इसके पूर्व किसी भी शिक्षाशास्त्री ने संवेग को महत्व नहीं दिया था। उसने बच्चे की प्राकृतिक जिज्ञासा को जगाना शिक्षा के लिए लाभदायक माना। उसने *संकल्प* तथा *नैतिक प्रकृति* को मानव अनुभव में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना।

कमेनियस ने बच्चों के मध्य की भिन्नता को भी स्वीकार किया तथा अध्यापकों को सुझाव दिया कि कक्षा में समूह में शिक्षा देते समय भिन्नता पर भी ध्यान रखा जाय। कमेनियस ने पाठ्यक्रम एवं शिक्षण कार्य के निर्धारण में बच्चे के विकास के स्तर को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। यह शिक्षा को उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है। वह विकास के भिन्न–भिन्न स्तरों पर बच्चे की आवश्यकताओं, रूचियों तथा समझ की शक्ति को महसूस करता था उसी के आधार पर उसने पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया। यह कमेनियस की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

कमेनियस यह नहीं चाहते थे कि छोटे बच्चे लगातार छह से आठ घंटे तक लगातार अध्ययन करें। उन्होंने छोटे बच्चों को एक दिन में चार घंटे और बड़े बच्चों को छह घंटे कार्य करने को कहा। गृह–कार्य न देने की संस्तुति की। बीच में तीस मिटन का अवकाश देने की आवश्यकता बताया। जिन कार्यों में मस्तिष्क को अधिक लगाने की आवश्यकता होती है उसे पहले करने को कहा तथा शेष कार्यों जैसे हस्तकला, संगीत आदि का अभ्यास अपराह्न में करने का सुझाव दिया। यह सब सुझाव दिखाता है कि कमेनियस का आधुनिक शिक्षा में महत्वपूर्ण योगदान है।

कमेनियस के पूर्व बच्चों को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दी जाती थी। कक्षा का स्वरूप स्थापित नहीं हुआ था। कमेनियस ने एक कक्षा में एक साथ

अनेक विद्यार्थियों को शिक्षा देने की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया। विद्यालयों में हर कक्षा और विषय के लिए अलग–अलग निश्चित पाठ्यपुस्तक की आवश्यकता पर कमेनियस ने जोर दिया और आगनात्मक पद्धति के अनुसार उसने स्वयं पाठ्यपुस्तकों की रचना की।

4.5.3 तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की आलोचना

तत्कालीन प्रचलित शिक्षा व्यवस्था और विद्यालयों की कमेनियस ने कटु आलोचना की। ''विद्यालय लड़को के लिए आतंक है और मस्तिष्क के लिए बूचड़खाना। यहाँ दस वर्ष व्यतीत करने के उपरांत बच्चे उतना ही सीख पाते है जो एक वर्ष में सिखाया जा सकता है। जिस ज्ञान को स्नेहसिक्त कोमलता के साथ दिया जाना चाहिए उसे हिंसक ढ़ंग से शारीरिक दंड के द्वारा दिया जाता है।'' कमेनियस ने ज्ञान को सरल और स्पष्ट रूप से देने की आवश्यकता बताई जबकि अत्यंत ही जटिल और भ्रमित करने वाले शब्दों के माध्यम से शिक्षा दी जाती है।

4.5.4 लड़के एवं लड़कियों–दोनों के लिए शिक्षा

कमेनियस ने अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट डाइडैक्टिक' लिखा में अमीर–गरीब, सम्मानित–सामान्य, शक्तिशाली–शक्तिहीन, सभी वर्ग के लड़के–लड़कियों को शिक्षा देनी चाहिए चाहे वह गाँव में रहता हो या कस्बा में या शहर में। हर जगह विद्यालय की व्यवस्था होनी चाहिए। सभी बच्चे को स्कूल जाना चाहिए– अगर भगवान ने स्वयं उसे बुद्धि या बोध न देकर शिक्षा से वंचित न किया हो। लड़कियों की शिक्षा के संदर्भ में कमेनियस ने स्पष्ट शब्दों में कहा– ''उनमें लड़के समान ही तेज मस्तिष्क और ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता होती है। साथ ही वे सर्वोच्च पदों को प्राप्त कर सकती हैं क्योंकि स्वयं ईश्वर ने उसे राष्ट्रों पर शासन करने को कहा है। तो क्यों हमलोग उसे अक्षरों के लिए प्रवेश देते हैं पर बाद में पुस्तक से बाहर कर देते है।''

4.5.5 विद्यालयी शिक्षा का महत्व

कमेनियस के अनुसार गृह–शिक्षा से बेहतर विद्यालय द्वारा दी जाने वाली शिक्षा है। विद्यालय अनिवार्य है क्योंकि अभिभावकों में प्रायः शिक्षा देने की योग्यता नहीं होती और न ही उनके पास इसके लिए समय होता है। कमेनियस के अनुसार अगर माता–पिता के पास बच्चों को शिक्षा देने हेतु योग्यता एवं अवकाश भी हो तो भी बच्चों को कक्षाओं में, समूह में शिक्षा देना

अधिक लाभदायक है। जब किसी बच्चे को उदाहरण और अभिप्रेरणा के रूप में सामने रखकर सिखाया जाता है तो अच्छा परिणाम आता है और सीखना भी आनन्दप्रद हो जाता है। जो दूसरे को करते देखते हैं वही हमलोग करते हैं, वहाँ जाना चाहते हैं जहाँ दूसरे लोग जाते है, उनलोगों के साथ चलने का प्रयास करना जो हमसे आगे हैं और उनके आगे रहने का जो हमसे पीछे हैं– ऐसा करना हमारा प्राकृतिक गुण है। उपदेश की तुलना में छोटे बच्चे उदाहरण के द्वारा अधिक प्रभावित होते हैं। अगर अध्यापक उन्हें उपदेश देता है तो यह बच्चों पर अत्यल्प प्रभाव डालता है पर जब अध्यापक उन्हें दिखाता है कि दूसरे ऐसा कर रहे हैं तो वह भी ऐसा करने लगता है। कमेनियस सबों के लिए समान विद्यालय चाहता है। वह कहता है मैं चाहता हूँ सभी मानव को सभी गुणों की शिक्षा दी जाय, विशेषतः सरलता, समाजिकता तथा विनम्रता की। इस छोटी आयु में वर्ग विभेद को बढ़ावा देकर कुछ विद्यार्थियों को अपने को श्रेष्ठता की दृष्टि से देखना और दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखने का अवसर देना अवांछित है।''

4.5.6 विद्यालय का संगठन

विद्यालय के संगठन के संदर्भ में भी कमेनियस अपने समकालीनों से दो शताब्दी आगे था। कमेनियस ने अपनी पुस्तक 'दि स्कूल ऑफ दि मर्दस नी' में माताओं को बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा पर ध्यान देने को कहा है। साथ ही शिशुओं की शारीरिक देखभाल, व्यवहार का प्रशिक्षण, स्थान तथा समय का सामान्य अनुभव तथा विभिन्न घटनाओं के मध्य कार्य–कारण सम्बन्ध का ज्ञान देना चाहिए। इस तरह से नर्सरी विद्यालय की आधारशिला कमेनियस ने तैयार की।

कमेनियस विद्यालयों का गठन निम्नलिखित योजना के आधार पर करना चाहते थे–

i. **मातृ या नर्सरी विद्यालय**– जन्म से छह वर्ष की उम्र के बच्चों के लिए।

ii. **वर्नाक्यूलर (जनभाषा) या प्राथमिक विद्यालय** – यह छह से बारह वर्ष तक के विद्यार्थियों के लिए प्रत्येक गाँव में होना चाहिए।

iii. **लैटिन या माध्यमिक विद्यालय**– यह बारह से अठारह वर्ष तक के विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए प्रत्येक नगर में होना चाहिए।

v. **विश्वविद्यालय**– यह सामान्यतः अठारह से चौबीस वर्ष के विद्यार्थियों के लिए प्रत्येक प्रांत में होना चाहिए।

vi. विश्वविद्यालय से ऊपर 'कॉलेज ऑफ लाइट' था जहाँ सभी विषयों में अन्वेषण किया जाता था।

कमेनियस के अनुसार एक स्तर से दूसरे स्तर में केवल योग्यता के आधार पर जाने की अनुमति मिलनी चाहिए।

जब बच्चा केवल छह वर्ष का होता है तो यह कहना कठिन होता है कि वह भविष्य में क्या बनेगा, वह बौद्धिक कार्य के लिए उपयुक्त है या शारीरिक परिश्रम के लिए। अतः उनकी रूचि का स्पष्ट ज्ञान इस स्तर पर नहीं हो सकता है। कमेनियस ने लैटिन स्कूल को केवल धनी, प्रभावशाली और प्रशासक वर्ग के बच्चों के लिए सुरक्षित रखने का विरोध करते हुए सभी वर्ग के योग्य बच्चों के लिए इसके द्वार खोलने की वकालत की। विश्वविद्यालय में प्रवेश के नियम कड़े होने चाहिए। केवल योग्यतम विद्यार्थियों को ही विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलना चाहिए। चुने विद्यार्थी जो कि मानवों में श्रेष्ठ है, बेहतर प्रगति करेंगे। शेष को अपना ध्यान किसी उद्योग, व्यापार या कृषि में लगाना चाहिए।

4.5.7 पाठ्यक्रम

कमेनियस ने पाठ्यक्रम निर्माण में भी विश्व ज्ञान या पानसोफिया के सिद्धान्त का अनुसरण किया। जिसका उदाहरण शिशु या मातृ विद्यालय के लिए सुझाये गये पाठ्यक्रम से स्पष्ट है। वे कहते हैं कि शारीरिक देखभाल, व्यवहार प्रशिक्षण के साथ–साथ शिशुओं को इतिहास, भूगोल और यहाँ तक कि धर्म की शिक्षा दी जाये।

वर्नाक्यूलर स्कूल में मातृभाषा की शिक्षा पर जोर देते हुए कमेनियस ने इसे ही शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दिया। मातृभाषा का अध्ययन प्राचीन भाषाओं– लैटिन, ग्रीक, हिब्रू से अधिक आवश्यक बताया। पाठ्यक्रम में सामान्य गणित, गीत, धर्म, नैतिकता, अर्थशास्त्र, राजनीति, सामान्य इतिहास एवं कला को स्थान दिया।

लैटिन स्कूलों का उद्देश्य तर्कशक्ति का विकास करना था। अतः कमेनियस ने इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में तर्कशास्त्र, व्याकरण, अलंकार शास्त्र, विज्ञान एवं कला को रखा। इस स्तर पर विद्यार्थियों को चार भाषाओं

को सीखने की संस्तुति की। ये भाषायें हैं– मातृभाषा, लैटिन, ग्रीक और हिब्रू।

कमेनियस ने लैटिन विद्यालयों का पाठ्यक्रम छह वर्षों को रखा। प्रत्येक वर्ष में शिक्षा देने का एक मुख्य विषय निर्धारित कर कक्षाओं का नामाकरण भी उसी आधार पर किया, यथा

प्रथम वर्ष	–	व्याकरण–कक्षा
द्वितीय वर्ष	–	प्राकृतिक दर्शन–कक्षा
तृतीय वर्ष	–	गणित–कक्षा
चतुर्थ वर्ष	–	नीतिशास्त्र–कक्षा
पंचम वर्ष	–	डाइलेक्टिक–कक्षा
अंतिम वर्ष	–	अलंकार शास्त्र–कक्षा

इस नामाकरण से यह नहीं समझना चाहिए कि उस वर्ष मात्र उसी विषय की पढ़ाई होनी थी। पढ़ाई सभी विषयों की होनी थी– केवल जोर उस विषय पर होना था जिस पर नाम रखा गया।

विश्वविद्यालय स्तर के पाठ्यक्रम में धर्मशास्त्र की शिक्षा का प्रावधान किया गया– जिससे युवक आत्मा के सम्पर्क में आ सकें। मस्तिष्क के विकास के लिए दर्शन पढ़ाने की व्यवस्था की गई। स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए चिकित्साशास्त्र एवं सामाजिक सम्बन्धों को बेहतर बनाने हेतु न्यायशास्त्र को भी पाठ्यक्रम में रखने का सुझाव कमेनियस ने दिया। परम्परागत रूप से तीनों प्रोफेशन– वकील, पादरी एवं चिकित्सा की भी शिक्षा एवं प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई। शासन के संचालन हेतु नेताओं एवं प्रशासकों को भी तैयार करने की जिम्मेदारी विश्वविद्यालयों की ही थी। कमेनियस के अनुसार विश्वविद्यालयों को शोध केन्द्र को रूप में कार्य करना चाहिए। ज्ञान के विकास हेतु कमेनियस ने भ्रमण को महत्वपूर्ण माना। उसके अनुसार विश्वविद्यालयी शिक्षा पूर्ण करने के उपरांत व्यक्ति को भ्रमण करना चाहिए, विद्वानों से विचार–विनिमय करना चाहिए ताकि ज्ञान का प्रसार और सृजन हो सके।

कमेनियस ने विश्वज्ञान के संप्रत्यय पर काफी जोर दिया। विश्वज्ञान के प्रमुख विषय हैंः व्याकरण, अलंकार शास्त्र, अंकगणित, खगोल विद्या, भौतिकी, भूगोल, इतिहास, नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र। इतिहास के अध्ययन को कमेनियस अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता था। उनका कहना थाः मानव की शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है उसका इतिहास से परिचय और यह परिचय

उसके सम्पूर्ण जीवन में तीसरे नेत्र के समान है। अतः यह विषय छह कक्षाओं में से प्रत्येक में पढ़ना चाहिए, ताकि हमारे विद्यार्थी अतीत से आज तक की घटनाओं से अनभिज्ञ न रह जाएँ।''

कमेनियस ने पाठ्यक्रम में उपयोगी विषयों के अध्यापन पर भी जोर दिया। इस संदर्भ में उन्होंने कहा ''जो कुछ भी पढ़ाया जाय वह दैनिक जीवन की व्यावहारिक एवं निश्चित उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही पढ़ाया जाय। कहने का तात्पर्य है कि बालक को यह समझना चाहिए कि जो कुछ सीख रहा है; वह प्लेटो के प्रत्ययों की दुनिया की चीज अथवा काल्पनिक वस्तु ही नहीं है वरन् वह हमारे वातावरण का तथ्य है और उस तथ्य से उसका परिचय जीवन के लिए बड़ा उपयोगी होगा। इस प्रकार उसकी शक्ति एवं शुद्धता में वृद्धि की जा सकती है।''

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कमेनियस द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम काफी विस्तृत था जिसमें ज्ञान एवं जीवन के हर पक्ष को समाहित किया गया है।

4.5.8 शिक्षण–विधि

कमेनियस ने पिछली गलतियों को समाप्त करने एवं अपने सिद्धान्तों को कार्यरूप देने हेतु 'क्रम के सिद्धान्त' को अपनाने पर दिया। उसके अनुसार क्रम का सिद्धान्त (प्रिन्सिपुल ऑफ आर्डर) ईश्वर एवं शिक्षा दोनो का प्रथम नियम है। अतः कमेनियस के अनुसार शिक्षण कला में समय, पढ़ाये जाने वाले विषयों एवं विधि का उपयुक्त समन्वय होना चाहिए।

कमेनियस के अनुसार सही या उपयुक्त शिक्षण–विधि वही है जो प्रकृति के नियमों का पालन करे। सबों को सभी विषय पढ़ाने हेतु प्राकृतिक क्रियाओं से सही विधि को सीखा जा सकता है। और अगर एक बार यह विधि विकसित हो जाती है तो शिक्षण उतना ही स्वभाविक हो जाता है जितना प्राकृतिक घटनायें। उदाहरण देते हुए कमेनियस कहते है कि चिड़ियाँ अपनी प्रजाति बढ़ाने हेतु प्रजनन क्रिया कष्टकारी शीत ऋतु या दुखदायी ग्रीष्म ऋतु में नहीं करती वरन् जीवनदायी बसन्त ऋतु में करती है, जब सूरज सबमें जीवन और शक्ति वापस लाता है। इसी तरह से माली उपयुक्त ऋतु में ही पौधों को लगाता है। लेकिन विद्यालयों में बौद्धिक कार्य हेतु उपयुक्त समय का चुनाव नहीं किया जाता है। कार्यों को विभिन्न सोपानों में विभाजित

कर क्रमबद्ध ढंग से नहीं पढ़ाया जाता है। अतः बच्चों की शिक्षा जीवन के बसन्त यानि लड़कपन में प्रारम्भ होनी चाहिए। प्रभात बेला (जीवन के संदर्भ में) शिक्षा हेतु सर्वाधिक उपयुक्त है। पढ़ाये जाने वाले विषयों को इस तरह से क्रमबद्ध कर पढ़ाना चाहिए कि वह बच्चे की उम्र और विकास की अवस्था के अनुरूप हो। ऐसी कोई भी चीज नहीं पढ़ाई जानी चाहिए जिसे समझने की अवस्था विद्यार्थियों की नहीं हो।

कमेनियस को शिक्षण के कई सूत्रों के विकास का श्रेय जाता है, जैसेः

(i) **सरल से कठिनः** कमेनियस ने अध्यापकों को सुझाव दिया कि जो आसान है उससे प्रारम्भ कर कठिन की ओर बढ़ो।

(ii) **विषयों का समन्वयः** जो विषय एक दूसरे से सम्बन्धित हैं उन्हें पढ़ाते समय एक–दूसरे के सम्बन्धों के बारे में स्पष्ट ज्ञान देना चाहिए।

(iii) **शिक्षण की आगमन–विधिः** कमेनियस ने कहा ''नियमों के पूर्व उदाहरण आना चाहिए।''

(iv) **रूचि का सिद्धान्तः** कमेनियस ने कहा कि रूचि के बिना सीखना संभव नहीं है अतः अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों में रूचि जगाने का हर संभव प्रयास करे।

(v) **विकास का सिद्धान्तः** कमेनियस के कार्यों में पेस्टालॉजी के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के बीज देखे जा सकते है। जिसके अनुसार बच्चे को वैसा कुछ भी नहीं पढ़ाया जाना चाहिए जिसके लिए बच्चे की उम्र और मानसिक बौद्धिक शक्ति की माँग न हो।

4.5.9 अनुशासन और दण्ड

कमेनियस अध्यापकों से यह उम्मीद करता है कि वे छात्रों को पुत्रवत मानेंगे। साथ ही वे विद्यालय में कड़ा अनुशासन चाहते हैं। छात्रों में सुधार हेतु कमेनियस शारीरिक दंड देने की भी अनुशंसा करते हैं। वे कहते हैं ''विद्यार्थियों और अध्यापकों को ध्यान और सावधानी की आवश्यकता है। सावधानी के बावजूद छात्रों में बुराई आ सकती है। अतः अनुशासन हीनता एवं बुरी प्रवृतियों को रोकने हेतु विद्यार्थियों को शारीरिक दंड भी दिया जाना चाहिए। विद्यार्थी को गलती करते ही दंड देना चाहिए ताकि बुराई को समूल समाप्त किया जा

सके।''

यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कमेनियस ने गलती करने वाले छात्रों को ही दण्डित करने को कहा। साथ ही दण्ड का उद्देश्य बच्चों को गलत प्रवृतियों एवं बुराइयों के शिकार होने से रोकना था। सामान्य स्थिति में तो कमेनियस अध्यापकों से छात्र के लिए स्नेहशील होने की उम्मीद रखता था। कमेनियस ने कहा ''अध्यापकों को चाहिए कि वे अपने बेरूखे व्यवहार से विद्यार्थियों को विलग न करे वरन् पिता की तरह भावनाओं एवं शब्दो के प्रयोग से उन्हें आकृष्ट करें।''

4.6 कमेनियस का शिक्षा पर प्रभाव

कमेनियस के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों का शिक्षा के भावी विकास पर व्यापक प्रभाव पड़ा। आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा व्यवस्था की नींव कमेनियस ने ही रखी। उन्होंने प्रथम बार शिक्षा पर अभिजात्य या प्रभावशाली वर्ग के एकाधिकार के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए शिक्षा को सभी बच्चों के लिए, चाहे वे अमीर परिवार के हो या गरीब परिवार के, अनिवार्य करने की आवश्यकता बताई। इस प्रकार शिक्षा में प्रजातांत्रिक पद्धति की शुरूआत करने का श्रेय कमेनियस को जाता है।

बच्चे के विकास के स्तर को ध्यान में रखते हुए शिक्षा देने के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर वे अपने समय से काफी आगे की बात कर रहे थे। साथ ही रूचि एवं अभिप्रेरणा जैसे संप्रत्ययों पर जोर देकर वे आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा की नींव रख रहे थे।

विद्यालयों में अनिवार्य शिक्षा, कक्षा का संगठन, शिक्षण–विधि, पाठ्यपुस्तक आदि को कमेनियस ने व्यावहारिक एवं व्यवस्थित स्वरूप दिया। आधुनिक शिक्षा इन्हीं आधारों पर टिकी है।

शिक्षा में इन्द्रियों, संवेगो, प्रकृति के नियमों आदि को उपयोगी मानकर, परम्परागत मध्यकालीन शिक्षा सिद्धान्तों से भिन्न एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित शिक्षा व्यवस्था के विकास में कमेनियस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

भाषा–शिक्षण के क्षेत्र में कमेनियस का योगदान उल्लेखनीय है। लैटिन भाषा को सीखने हेतु उन्होंने अनेक पाठ्यपुस्तकों की रचना की–जिसका विश्व के अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। साथ ही मातृभाषा का शिक्षा में

अधिक से अधिक प्रयोग करने की आवश्यकता पर जोर देकर कमेनियस ने शिक्षा को मध्यकालीन बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास किया और उसे एक प्रजातांत्रिक और प्रगतिशील स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आधुनिक शिक्षा के स्वरूप के निर्धारण में कमेनियस के विचारों और कार्यों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. कमेनियस के अनुसार शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य क्या है?

.....

.....

.....

.....

4. कमेनियस ने शिक्षा को किन स्तरों में विभाजित किया?

.....

.....

.....

.....

5. बच्चों को दण्ड देने के सम्बन्ध में कमेनियस के क्या विचार थे?

.....

.....

.....

.....

.....

4.7 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने कमेनियस के जीवन–वृत्त, रचनाओं एवं शिक्षा–सिद्धान्त के संदर्भ में अध्ययन किया। हमलोगों ने देखा कि मूलरूप से

धार्मिक उद्देश्यों को लेकर चलाने वाले कमेनियस ने वस्तुतः आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा व्यवस्था की नींव रख दी। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की कमियों को समाप्त करने हेतु अनेक अभिनव प्रयोग किया। शिक्षालयों के द्वार सबके लिए खुले। शैक्षिक संस्थाओं का संगठन सुनिश्चित हुआ, पाठ्यक्रम का निर्धारण बच्चे के विकास के स्तर को देखते हुए किया जाने लगा। कक्षा–शिक्षण को कमेनियस ने आवश्यक माना। शिक्षण–विधि को बाल–मनोविज्ञान पर आधारित किया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कमेनियस ने आधुनिक शिक्षा–व्यवस्था की नींव रखी।

4.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'कमेनियस आधुनिक शिक्षा–व्यवस्था का जनक है।' विवेचना कीजिए।
2. कमेनियस ने किन शिक्षण–सूत्रों का प्रतिपादन किया?
3. कमेनियस द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रम की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. कमेनियस की प्रमुख कृतियां हैं–
   - i. दि ग्रेट डाइडेक्टिक
   - ii. दि गेट ऑफ टंग्स अनलॉक्ड
   - iii. जनुआ लिंग्वारम
   - iv. दि लेवरिन्थ ऑफ दि वर्ल्ड
   - v. दि पैराडाइज ऑफ दि अर्थ
   - vi. दि ऑरबिस पिक्चस
   - vii. दि डाइडेक्टिक मैग्ना आदि।
2. दि ग्रेट डाइडेक्टिक में कमेनियस ने निम्नलिखित प्रजातांत्रिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया–

   '' प्रत्येक उपनगर, नगर तथा गाँव में बिना किसी अपवाद के सभी लड़के एवं लड़कियों के लिए ऐसे विद्यालयों की स्थापना करना जहाँ वे शीघ्रता एवं आनन्द से व्यापक रूप में विज्ञान, नैतिकता एवं धार्मिकता में प्रशिक्षित होंगे तथा उन सभी चीजों में शिक्षित होंगे

जिसकी आवश्यकता वर्तमान एवं भविष्य में पड़ेगी।''

3. कमेनियस के अनुसार शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य है ईश्वर के साथ शाश्वत खुशी या प्रसन्नता प्राप्त करने के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता प्रदान करना।

4. कमेनियस के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित स्तर हैं–

   (i) मातृ या नर्सरी विद्यालय

   (ii) वर्नाक्यूलर या प्राथमिक विद्यालय

   (iii) लैटिन या माध्यमिक विद्यालय

   (iv) विश्वविद्यालय

   (v) कॉलेज ऑफ लाइट

5. कमेनियस ने अनुशासनहीनता और बुराइयों को रोकने हेतु विद्यार्थियों को दण्ड देना उचित बताया। साथ ही कहा कि दंड गलती करने पर तत्काल देना चाहिए ताकि भविष्य में ऐसी गलती की पुनरावृति न हो और बुराई को जड़ से समाप्त किया जा सके।

4.9 सहायक अध्ययन सामग्री

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1947), *ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन,* न्यूयार्कः दि मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002), *वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन*, नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (2000), *दि डोकटराइन्स ऑफ ग्रेट एडुकेटर्स,* नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (1990), *शिक्षा के दार्शनिक आधार,* जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, (अनुवादक– लक्ष्मीलाल के0 ओड़)।

रॉस, जे0 एस0 (1950), *ग्राउन्डवर्क ऑफ एडुकेशनल थियोरी,* लन्दनः जार्ज जी0 हार्पर।

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

2

प्रमुख पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री

इकाई-5
फ्रोबेल 5

इकाई-6
मारिया मान्टेसरी 23

इकाई-7
हरबर्ट 39

इकाई-8
टी0पी0 नन 52

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादक

प्रो0 एस0 पी0 गुप्ता	निदेशक शिक्षा विद्या शाखा उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 एन0 पी0 भोक्ता	वरिष्ठ उपाचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, जून 2009,
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

MAED-08 : शैक्षिक विचारक

खण्ड 1. पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 1. रूसो

इकाई 2. प्लेटो

इकाई 3. जॉन डीवी

इकाई 4. कमेनियस

खण्ड 2. प्रमुख पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री

इकाई 5. फ्रोबेल

इकाई 6. मारिया मान्टेसरी

इकाई 7. हरवर्ट स्पेन्सर

इकाई 8. टी. पी. नन

खण्ड 3. भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 9. शंकराचार्य

इकाई 10. दयानन्द सरस्वती

इकाई 11. विवेकानन्द

इकाई 12. श्री अरविन्द

खण्ड 4. प्रमुख भारतीय शिक्षा शास्त्री

इकाई 13. रवीन्द्र नाथ टैगोर

इकाई 14. पं0 मदन मोहन मालवीय

इकाई 15. महात्मा गाँधी

इकाई 16. राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन

खण्ड-परिचय- 2 प्रमुख पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री

इस खण्ड में उन चार महान शिक्षाशास्त्रियों के शैक्षिक सिद्धान्तों एवं कार्यों का समावेश किया गया है, जिन्होंने आधुनिक शिक्षा व्यवस्था की आधारशिला रखी थी। ये चार शिक्षाशास्त्री हैं– फ्रोबेल, मारिया मान्टेसरी, हरबर्ट स्पेन्सर एवं टी0 पी0 नन।

फ्रोबेल किण्डरगार्टेन (बालोद्यान) आन्दोलन के जनक हैं। वे खेल एवं क्रिया द्वारा शिशु एवं बच्चे को शिक्षा देने के पक्षधर हैं। वे सारी क्षमताओं को, बीज की तरह शिशु में अन्तर्निहित मानते हैं। शिक्षा एवं शिक्षक का कार्य है उन्हें आत्माभिव्यक्ति एवं विकास का अवसर प्रदान करना। फ्रोबेल मानव को शुद्ध और विकार रहित मानता है। अतः वह मानवीय शक्तियों के स्वाभाविक विकास में हस्तक्षेप का विरोधी है।

पेशे से चिकित्सक मारिया मान्टेसरी ने मन्द बुद्धि छात्रों की शिक्षा के लिए खेल पर आधारित विधि का विकास किया। मानसिक रूप से पिछड़े बच्चों की शिक्षा में इस विधि के प्रयोग से आश्चर्यजनक सफलता मिली। बाद में मान्टेसरी ने इसी विधि का उपयोग सामान्य बच्चों की शिक्षा के लिए सफलता पूर्वक किया। इस विधि से बच्चों को अल्प समय में प्रभावशाली ढ़ंग से शिक्षित किया जाने लगा। उन्होंने शिशु शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उनकी विधि को पूरे विश्व में शिशु शिक्षा हेतु सर्वाधिक उपयुक्त विधि माना जाता है।

हरबर्ट स्पेन्सर ने आधुनिक शिक्षा को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। वे शिक्षा को पूर्ण जीवन हेतु तैयारी मानते थे। उन्होंने उपयोगिता के आधार पर विषयों को क्रमबद्ध ढ़ंग से सजाया और विज्ञान की शिक्षा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। इस प्रकार पुनर्जागरण द्वारा भाषा एवं साहित्य पर दिए गए जोर की उपेक्षा कर स्पेन्सर ने शिक्षा को व्यक्ति की आवश्यकताओं से जोड़ा।

सर टी0 पी0 नन ने भी आधुनिक शिक्षा को व्यापक रूप से प्रभावित किया। उन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्तित्व तथा वैयक्तिकता के विकास को शिक्षा का परम लक्ष्य माना। उन्होंने शिक्षा में स्वतंत्रता के साथ–साथ आत्म–अनुशासन पर जोर दिया। इनकी कृति 'एडुकेशन : इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स' का शिक्षा–जगत पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

इकाई 5: फ्रोबेल

संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 जीवन–वृत्त

5.4 फ्रोबेल के दार्शनिक विचार

5.4.1 एकता का सिद्धान्त

5.4.2 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त

5.4.3 विकास का सिद्धान्त

5.4.4 स्वतः क्रिया का सिद्धान्त

5.5 शिक्षा–दर्शन

5.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

5.5.2 शिक्षा की योजना

5.5.3 शैक्षिक प्रक्रिया में क्रिया का सिद्धान्त

5.5.4 खेल : शिक्षा का माध्यम

5.5.5 विद्यालयी पाठ्यक्रम

5.5.6 किण्डरगार्टन

5.5.7 शिक्षण–विधि

5.5.8 अध्यापक का कार्य

5.5.9 फ्रोबेल के शिक्षा–दर्शन की सीमायें

5.6 सारांश

5.7 अभ्यास प्रश्न

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.9 सहायक अध्ययन सामग्री

5.1 प्रस्तावना

पूरे विश्व में शिशु शिक्षा को लोकप्रिय बनाने का श्रेय जर्मनी के प्रसिद्व शिक्षाशास्त्री फ्रेडरिक फ्रोबेल को जाता है। शिशु शिक्षा में 'किण्डरगार्टन' (बालोद्यान) का अत्यधिक महत्व है– इस संप्रत्यय के प्रतिपादक फ्रोबेल हैं। उन्होंने शिक्षा में खेल के महत्व को रेखांकित करते हुए शिक्षण–अधिगम में उत्पादक क्रिया पर जोर दिया। उनके द्वारा शिशु एवं बालक को दिये जाने वाले 'उपहारों' का आधार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है– जहाँ वस्तुओं के माध्यम से सरलता से सीखने पर जोर है। यद्यपि फ्रोबेल के सिद्धान्त कई बार जटिल और आत्मनिष्ठ लगते हैं पर यह तथ्य संदेह से परे है कि शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करने में फ्रोबेल की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साथ ही साथ उन्होंने शिक्षा के सामाजिक आधार पर जोर दिया।

5.2 उद्देश्य

वर्तमान इकाई में हम लोग फ्रोबेल के शिक्षा सिद्धान्त एवं शिक्षा के क्षेत्र में फ्रोबेल के व्यावहारिक कार्यों का अध्ययन करेंगे। जिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं के आधार पर फ्रोबेल के शिक्षा सिद्धान्त को समझने का प्रयास किया जायेगा, वे हैं:–

- फ्रोबेल का जीवन–वृत्त
- फ्रोबेल का जीवन–दर्शन
- फ्रोबेल का शिक्षा–दर्शन
- 'खेल' एवं 'उपहार' का संप्रत्यय
- किण्डरगार्टन की अवधारणा
- फ्रोबेल के शिक्षा–दर्शन की सीमायें।

5.3 जीवन–वृत्त

फ्रेडरिक फ्रोबेल का जन्म 21, अप्रैल, 1782 को दक्षिणी जर्मनी के एक गाँव में हुआ था। जब वह नौ महीने का ही था उसकी माता का देहान्त हो गया। पिता से बालक फ्रोबेल को उपेक्षा मिली। विमाता उससे घृणा करती थी। इससे फ्रोबेल प्रारम्भ से ही नितान्त एकाकी हो गया। फ्रोबेल पर इस एकाकीपन का प्रभाव पड़ा और वह आत्मनिष्ठ हो गया। वह प्रकृति के

सान्निध्य में अपना समय व्यतीत करने लगा। इसके दो परिणाम हुए : पहला, उसमें अन्तदर्शन की क्षमता विकसित हो गई। दूसरा, जड़ और प्रकृति में भी उसे अपना स्वरूप दिखने लगा। इसी के आधार पर उसने 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

कुछ समय फ्रोबेल ने अपने मामा के साथ बिताये। इस दौरान उसे विद्यालय जाने का अवसर मिला पर शिक्षा में उसकी प्रगति असन्तोषजनक रही। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में एक फोरेस्टर के अधीन कार्य सीखने का अवसर मिला पर प्रकृति–प्रेम के अतिरिक्त वह कोई प्रशिक्षण नहीं ले सका। सत्रह वर्ष की अवस्था में फ्रोबेल ने जेना विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया पर अपनी निर्धनता के कारण वह शिक्षा पूरी नहीं कर पाया। घर वापस आकर कृषि–कार्य में हाथ बटाँने लगा। 1802 में पिता की मृत्यु के बाद फ्रोबेल ने इधर–उधर भटकते हुए विभिन्न तरह की नौकरियाँ की पर वह सफल नहीं हुआ। अंततः फ्रेंकफर्ट में हेर ग्रूनर के निमन्त्रण पर एक नार्मल स्कूल में ड्राइंग का अध्यापक बन गया। सन् 1808 में फ्रोबेल पेस्टोलॉजी की शिक्षा व्यवस्था के अवलोकन हेतु वरडेन पहुँचा। उसने वहाँ बच्चों के संदर्भ में दो बातों को गहराई से महसूस किया। पहला, बच्चों के आत्मभाव प्रकाशन हेतु संगीत आवश्यक है, तथा, दूसरा, बच्चों की ड्राइंग में विशेष रूचि होती है।

फ्रोबेल की रूचि वैज्ञानिक सिद्धान्तों में बढ़ती जा रही थी। उसने गणित और खनिज विज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु पहले गोरिन्जन विश्वविद्यालय और बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। बर्लिन में उन्होंने प्रख्यात विद्वान प्रोफेसर वीज के संरक्षण में गहन अध्ययन किया। नेपोलियन ने जब जर्मनी पर आक्रमण किया तो फ्रोबेल उसके विरूद्ध जर्मनी की सेना में भर्ती हुआ। 1814 ई0 में फ्रोबेल बर्लिन म्यूजियम का सहायक क्यूरेटर नियुक्त हुआ। वह खनिज–विज्ञान का अध्यापक नियुक्त हुआ।

फ्रोबेल के जीवन का सर्वाधिक रचनात्मक काल की शुरूआत 1817 ई0 में होती है जब उसने अपने दो भतीजों एवं कुछ अन्य लड़को को लेकर कीलहाऊ में एक विद्यालय की स्थापना की। यहीं पर 1826 ई0 में फ्रोबेल ने विल्हेमिन होफमिस्टर नामक सम्पन्न महिला से विवाह किया। इससे फ्रोबेल के सारे आर्थिक संकट समाप्त हो गए। कीलहाऊ में ही उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एडुकेशन ऑफ मैन' की रचना की। इसके उपरान्त स्विटजरलैंड में फ्रोबेल ने कई संस्थाओं का संचालन किया। अब फ्रोबेल पूर्व विद्यालय शिक्षा

में सुधार हेतु व्यावहारिक कार्य करना चाहता था। इस उद्देश्य से 1837 ई0 में जर्मनी के पहाड़ी क्षेत्र के ब्लैकनवर्ग नामक गाँव में प्रथम 'किण्डरगार्टेन' की स्थापना की। इसके उपरान्त फ्रोबेल जीवन पर्यन्त 'किण्डरगार्टेन' के आन्दोलन को आगे बढ़ाने में लगा रहा। अन्ततः 1852 में इस महान शिक्षाशास्त्री की मृत्यु हो गई।

5.4 फ्रोबेल के दार्शनिक विचार

फ्रोबेल के दार्शनिक विचारों पर पश्चिम के कई आदर्शवादी दार्शनिकों यथा काण्ट, फिक्टे, शैलिंग, हीगल आदि के विचारों का व्यापक प्रभाव है। काण्ट के अनुसार दो जगत है, एक जो हमें विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से दिखता है तथा दूसरा सारभूत या वास्तविक जगत जिसका ज्ञान आत्मबोध से होता है। फिक्टे ने प्राकृतिक जगत को मिथ्या घोषित करते हुए सारभूत जगत को ही एकमात्र सत्य जगत माना। शैलिंग ने प्रकृति एवं आत्मा दोनो में ही 'पूर्ण' को समान रूप से देखा। हीगल भी आत्म एवं अनात्म यानि प्रकृति में एक ही सार तत्व पाता है।

दार्शनिक विचारधारा के विकास के इस बिन्दु पर फ्रोबेल के विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। शैलिंग एवं हीगल के दर्शन के आधार पर फ्रोबेल ने अपना 'एकता का सिद्धान्त' का विकास किया। वह 'एडुकेशन ऑफ मेन' में लिखता है ''यह एकता का सिद्धान्त बाह्य–प्रकृति एवं आत्म–प्रकृति में एक–सा ही व्यक्त है। जीवन भौतिक एवं आत्मन् के समन्वय का परिणाम है। बिना पदार्थ के आत्मन् आकारहीन है और बिना मनस् के पदार्थ प्राणहीन है।''

फ्रोबेल पर हीगल के द्वन्द्वात्मक विचारों का भी प्रभाव दिखता है। फ्रोबेल कहते हैं ''प्रत्येक सत्ता तभी प्रत्यक्ष होती है जब वह अपने से भिन्न सत्ता के साथ उपस्थित होती है और जब उस तत्व से उसकी समानता–असमानता स्पष्ट हो चुकी होती है।'' फ्रोबेल पर जर्मन दार्शनिक के0सी0एफ0 क्राउस का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। जिसने ज्ञान की विभिन्न विधियों एवं क्षेत्रों में समन्वय स्थापित किया। क्राउस प्रकृति एवं तर्क (विचार) दोनों में ही ईश्वर का दर्शन करता है।

फ्रोबेल पर आधुनिक विज्ञान के अध्ययन का भी प्रभाव पड़ा। साथ ही उन्होंने प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों जैसे कमेनियस, रूसो आदि के कार्यों का अध्ययन किया तथा पेस्टोलॉजी के प्रयोगों का स्वयं निरीक्षण किया। इन

सबने फ्रोबेल के दर्शन को प्रभावित किया। इतने व्यापक अध्ययन, निरीक्षण एवं अनुभवों ने फ्रोबेल के विचारों में जटिलता भरी है पर इन सबमें उसकी निरीक्षण शक्ति सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। फ्रोबेल प्रारम्भ से ही शिशुओं एवं बच्चों की स्वप्रेरित क्रियाओं का निरीक्षण करता था। बाद में उसने इसे अधिक व्यवस्थित रूप दिया। बच्चों के स्वभाविक रूप से कार्य करने एवं सीखने की विधियों का फ्रोबेल ने सूक्ष्म निरीक्षण किया और इसी का परिणाम फ्रोबेल के दार्शनिक सिद्धान्त हैं।

5.4.1 एकता का सिद्धान्त

फ्रोबेल के अनुसार ईश्वर एक है। जिस प्रकार पत्ते, फूल, फल, शाखायें पेड़ के तने से जुड़ी रहती हैं उसी तरह से हम सभी ईश्वर से जुड़े हैं।

फ्रोबेल शिक्षा को सृष्टि की विकास–प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग एवं माध्यम मानता है। शिक्षा ही व्यक्ति में आत्म–चेतना को जागृत करती है। आत्म–जागृत व्यक्ति प्राकृतिक पशुजीवन से ऊपर उठ जाता है। फ्रोबेल के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया का एक संचालक है जो स्वयं में पूर्ण है। भौतिक जगत में वह 'भौतिक शक्ति' के रूप में तथा चेतनायुक्त मनुष्य में 'चिन्तन शक्ति' के रूप में उपस्थित है। दोनों में वही कर्त्ता है। फ्रोबेल ने इसे 'अनेक में व्याप्त एकता' के नाम से पुकारा। उदाहरण स्वरूप वह कहता है अँगुली अपने में पूर्ण होते हुए भी हाथ का अंश है, हाथ शरीर का, शरीर प्राणी जगत का और प्राणी जगत ब्रह्माण्ड का अंश है। ब्रह्माण्ड ईश्वर का अंश है। ईश्वर अनेक रूप होते हुए सभी चीजों में एकता कायम रखता है।

इसी तरह की एकता फ्रोबेल मन और शरीर में देखता है। मन शरीर से भिन्न नहीं है। जो भी उत्पादक काम होता है मन और शरीर की एकता से होता है। किसी भी वस्तु के निर्माण में व्यक्ति की स्मृति, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण, तर्क के साथ–साथ स्नायु, मांसपेशियां, इन्द्रियां एवं सारा शरीर कार्यरत होता है।

फ्रोबेल के अनुसार संस्कृति मानव की एकता का द्योतक है क्योंकि यह सामाजिक जीवन का फल है। स्वंय में पूर्ण होते हुए भी मानव समाज का अविभाज्य हिस्सा है। वह सामाजिक एकता हेतु विशिष्ट मूल्यों की सृष्टि करता है तथा भौतिक प्रगति के द्वारा जीवन को आसान बनाता है। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में एक अन्तर्निहित एकता है।

5.4.2 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त

फ्रोबेल के अनुसार बच्चे को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलना चाहिए। मानव किसी न किसी रूप में अपने को निरन्तर अभिव्यक्त करना चाहता है। उसकी अभिव्यक्ति सामान्यतः आत्मप्रेरित एवं स्वचालित क्रिया के माध्यम से होती है। इसी का व्यावहारिक रूप आत्मक्रिया विधि है। बच्चे स्वयं कार्य करके बेहतर ढंग से सीखते हैं। इस प्रकार उन्होंने बच्चों के आत्माभिव्यक्ति के नियम को सीखने की अच्छी विधि माना है।

5.4.3 विकास का सिद्धान्त

फ्रोबेल ने शिक्षा का उद्देश्य बच्चे का विकास माना। उनके अनुसार बच्चों के विकास में वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार पौधा बीज के छोटे आकार में सम्पूर्ण वृक्ष को समाहित किये रहता है और उचित धरातल एवं जलवायु पाते ही भीतर से बाहर की ओर प्रस्फुटित होने लगता है, इसी तरह से मनुष्य भीतर से ही स्वसंचालन के माध्यम से उपयुक्त वातावरण पाकर विकास की ओर अगसर होता है। विकास का यही नियम बौद्धिक, नैतिक, कौशल एवं अन्य क्षेत्रों में काम करता है। विकास का यह सिद्धान्त गत्यात्मक है जो कि हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वय (थीसिस, ऐण्टीथीसिस तथा सिन्थिसिस) पर आधारित है।

फ्रोबेल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विकास की पाँच भिन्न–भिन्न अवस्थाओं से गुजरता है। ये हैं–

(i) शैशव काल (जन्म से तीन वर्ष की अवधि)– इस काल में बच्चे के इन्द्रिय या संवेदी विकास पर जोर दिया जाना चाहिए।

(ii) बाल्यकाल (तीन से पाँच वर्ष तक की अवधि)– इस काल में भाषा का विकास होता है। शरीर की जगह मस्तिष्क पर ध्यान दिया जाने लगता है। सभी वस्तुओं का सही नाम बच्चों को इस काल में बताया जाना चाहिए। साथ ही सही उच्चारण का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(iii) कैशोर्य (छह से चौदह वर्ष तक की अवधि),

(iv) तरूण (चौदह से अठारह वर्ष तक की कालखंड), तथा

(v) प्रौढ़ (अठारह वर्ष के बाद की अवधि)।

प्रत्येक भावी स्तर का विकास बहुत हद तक पिछले स्तर के विकास पर निर्भर करता है।

5.4.4 स्वतः क्रिया का सिद्धान्त

फ्रोबेल के अनुसार बच्चे को अगर स्वप्रेरित सृजनात्मक क्रियाओं का अवसर मिले तो उनमें भावनाओं एवं क्षमताओं का विकास होता है। फ्रोबेल के अनुसार मानव निर्माण कार्य इसलिए करता है क्योंकि परमेश्वर ने अपनी ही तरह उसे भी सृष्टा एवं कर्ता बनाया है। वह क्रियाशील केवल भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु नहीं रहता वरन् वह क्रियाशील इसलिए रहता है कि उसका दिव्य–स्वभाव प्रकट हो सके और दैवी कार्य को पूरा कर सके।

फ्रोबेल को मानव की जन्मजात उच्चता में विश्वास था। वह मानव को शुद्ध और विकार रहित मानता है। अतः वह मानवीय शक्तियों के स्वभाविक विकास में हस्तक्षेप का विरोधी है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. फ्रोबेल के दर्शन पर किन पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों का प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

2. फ्रोबेल के दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

5.5 फ्रोबेल का शिक्षा–दर्शन

जैसा कि हमलोग देख चुके हैं फ्रोबेल इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं कि सारी संभावनायें, क्षमतायें एवं शक्तियाँ बालक के अन्दर निहित है। शिक्षा व्यवस्था का कार्य विद्यार्थियों को उपयुक्त वातावरण एवं अवसर प्रदान करता है ताकि विद्यार्थी अन्तर्निहित संभावनाओं एवं क्षमताओं के अनुरूप अधिक से अधिक विकास कर सके। विकास वस्तुतः अन्दर से आरम्भ होता है। बाहर से इसे थोपा नहीं जा सकता है। शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया में बालक को बाहर से उतना नहीं देना पड़ता है जितना अन्तर्निहित शक्तियों का प्रकाशन करना। बिना आवश्यकता अनुभव किए बालक शायद ही कुछ सीख सके। इन्हीं सिद्धान्तों पर फ्रोबेल ने शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किया है।

5.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

फ्रोबेल ने शिक्षा के द्वारा निम्नलिखित लक्ष्यों की प्राप्ति का उद्देश्य निर्धारित कियाः

i. **एकता या सामन्जस्य का बोध**– सर्वेश्वरवादी होने के नाते फ्रोबेल का यह मानना है कि ईश्वर सबमें व्याप्त है। जीवन–प्रकृति के सभी अंगों में व्याप्त एकता एवं सामन्जस्य का बोध करवाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। इससे जीवन एवं संस्कृति की पूर्णता का बोध होता है एवं बहुमुखी विकास की प्रक्रिया तीव्र होती है।

ii. **व्यक्ति में आध्यात्मिक प्रकृति को जागृत करना**– शिक्षा का उद्देश्य मानव में उसकी आध्यात्मिक प्रवृति को जागृत करना है। रूसो की ही तरह फ्रोबेल मानव को जन्मजात अच्छा मानता है। वह मनुष्य की जन्मजात उच्चता यानि देवत्व में आस्था रखता है। उसके अनुसार मनुष्य के विकार या पतन के नीचे एक दमित भलाई छिपी है। विकार को दूर करने का उपाय है मनुष्य की मौलिक उच्चता की खोज कर पुनः स्थापित किया जाय। शिक्षा का यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

iii. **स्वतंत्रता एवं आन्तरिक संकल्प शक्ति का विकास**– फ्रोबेल सही शिक्षा एवं प्रशिक्षण हेतु बच्चे की स्वतंत्रता को आवश्यक मानता है। शिक्षा हेतु बच्चे का सहयोग प्राप्त करना

आवश्यक है। साथ ही शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है बालक में आन्तरिक संकल्प शक्ति का विकास करना। संकल्प चरित्र और व्यक्तित्व के गठन का आधार है। अतः शिक्षा का उद्देश्य संकल्प विकास है।

iv. **सामाजिक भावना का विकास**– फ्रोबेल बच्चों में सामाजिकता का विकास शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य मानते हैं। बच्चा परिवार, समुदाय, समाज एवं विद्यालय से सीख लेकर सामाजिक भावना का विकास करते हैं।

फ्रोबेल ने सामाजिक शिक्षा पर बल दिया जो कि उसकी 'एकता' के सिद्धान्त के अनुरूप है। फ्रोबेल ने अपने किण्डरगार्टनों में सामूहिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया। किण्डरगार्टेन के केन्द्रीय कक्ष में फर्श पर वृत्त या गोला बना होता है। इस गोले में बैठकर बालक समूह का अंश बन कर शिक्षा पाता है। इस वृत्त को फ्रोबेल ने समूह–भावनाओं का प्रतीक माना है। परिवार, समाज एवं विद्यालय से बच्चे को भाषा, सहयोग, प्रेम, सहानुभूति आदि सामाजिक गुण प्राप्त होते है।

v. **चरित्र निर्माण**– फ्रोबेल शिक्षा के द्वारा बच्चे की मौलिक अच्छाई को बनाये रखने के पक्ष में था पर जहाँ विकार आ गया हो वहाँ उचित शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा चरित्र की मौलिक अच्छाई को पुनः प्राप्त करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है।

इस प्रकार फ्रोबेल ने शिक्षा के अत्यन्त व्यापक उद्देश्य निर्धारित किए।

5.5.2 शिक्षा की योजना

फ्रोबेल ने बच्चों की शिक्षा के लिए व्यापक योजना बनाई। अपनी शैक्षिक योजना में फ्रोबेल ने बच्चे की आत्म–क्रिया एवं खेल को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना।

फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा वस्तुतः विकास की प्रक्रिया है। बालक निरन्तर विकासशील रहता है। उसका विकास ज्ञान पक्ष में, संवेदना से सुव्यवस्थित चेतना की ओर कार्य–क्षेत्र में प्रवृति मूलक क्रियाओं से संकल्प–युक्त आचरण की ओर होता है। आत्मप्रेरित क्रियायें ही उपयोगी होती हैं। विकास के परिणाम स्वरूप बच्चे नवीन क्रियाओं में संलग्न होते हैं पर इन सबमें एक

कार्यमूलक एकता बनी रहती है। क्रियाओं के परिणामस्वरूप अभिरूचियों का विकास होता है। अभिरूचि शिक्षा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार फ्रोबेल के अनुसार सीखने का आधार क्रिया ही है।

5.5.3 शैक्षिक प्रक्रिया में क्रिया का स्थान

फ्रोबेल ने शिक्षा में तीन प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख किया है :–

(i) आवृत्यात्मक या लयात्मक क्रियायें

(ii) वस्तुओं पर आधारित क्रियायें

(iii) कार्य एवं व्यवसाय

आवृत्यात्मक या लयात्मक क्रियाओं से अवयवों का विकास होता है। ध्वन्यात्मक क्रियाओं द्वारा आत्मा का विकास होता है तथा अन्य आवृत्यात्मक क्रियाओं द्वारा इन्द्रियों को विकसित किया जाता है।

वस्तुओं पर आधारित क्रियाओं से विभिन्न अंगों (अवयवों) की शक्ति बढ़ती है। अगर बच्चों को वस्तु न मिले तो उनके काल्पनिक एवं अर्न्तमुखी होने का खतरा रहता है। अतः शिशुओं एवं बच्चों को विभिन्न तरह के वस्तु दिये जाने चाहिए। किस समय किस तरह के पदार्थ दिये जायें, इस पर फ्रोबेल ने गम्भीर विचार करते हुए तीन आकार के वस्तुओं को देने का सुझाव दिया। जिन्हें वह गिफ्ट या उपहार कहता है। ये तीन आकार के होते हैं– गोला, घन एवं बेलनाकार। फ्रोबेल के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण इन तीन आकारों पर आधारित है।

बच्चे को सबसे पहले गेंद देना चाहिए। फ्रोबेल के अनुसार गेंद सभी चीजों का केन्द्र या धुरी है। फ्रोबेल गेंद को अपने में पूर्ण मानता है जो स्थिरता, गति, समग्रता, एकरूपता, बहुपार्श्व, एकपार्श्व, दृश्य–अदृश्य आदि गुणों को अपने में संजाये रहता है। इस प्रकार गेंद फ्रोबेल के प्रिय सिद्धान्त 'अनेकता में एकता' का प्रतिनिधित्व करता है। बच्चे गेंद का उपयोग कई तरह से कर सकते हैं– उछाल कर, रस्सी से लटकाकर, रबर में बाँधकर आदि। इन गतिविधियों से विज्ञान के कई मूलभूत सिद्धान्तों को आसानी से समझा जा सकता है। भिन्न–भिन्न रंग के गेंदों को उपहार के रूप में देकर बच्चों को रंग का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाना चाहिए। ये रंग हैं : नीला, लाल पीला, बैंगनी, हरा एवं नारंगी। विभिन्न वस्तुओं की जैसे ऊन, मखमल आदि की गेंद देनी चाहिए। इनसे बच्चा स्पर्श, गति, दिशा आदि को समझता है।

उपहारों की दूसरी श्रृंखला में ठोस, गोलों, बेलनों एवं घनों को दिया जाना चाहिए। अधिक भारी एवं अपेक्षाकृत स्थिर रहने के कारण इससे खेलने में अधिक शक्ति एवं कौशल की आवश्यकता पड़ती है। इससे बालक को समानता–असमानता, हल्का–भारी, गति आदि का बोध होता है।

अन्य सभी उपहार घनों से सम्बन्धित है। इन्हें विभिन्न संख्याओं में विभाजित कर या एकत्रित कर बच्चे विभिन्न आकारों का निर्माण करते हैं। घन बड़े एवं छोटे दोनों ही आकार के होते हैं। इनसे बच्चों में क्रियाओं द्वारा सृजनात्मकता का विकास किया जाता है। इनसे गणित विशेषतः रेखागणित का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त होता है।

फ्रोबेल ने तीसरे तरह की क्रिया कार्य एवं व्यवसाय को माना है। व्यवसाय को परिभाषित करते हुए फ्रोबेल ने कहा ''व्यवसाय से तात्पर्य बालक की उस क्रिया से है जो उत्पादक और सामाजिक जीवन के किसी उपयोगी कार्य के समान हो।'' कार्य मांसपेशियों एवं बुद्धि दोनों को क्रिया का अवसर देता है। शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमताओं का विकास उत्पादन कार्य के लिए आवश्यक है। लेकिन फ्रोबेल के कार्य एवं व्यवसाय का उद्देश्य धन उपार्जन नहीं है। इनकी उपयोगिता क्रिया का अवसर देने में है। फ्रोबेल ने कार्यों एवं व्यवसायों में बालू से खेलना, कागज काटना, मिट्टी के मॉडल बनाना, ड्राइंग बनाना, सिलाई, कताई, बुनाई आदि को स्थान दिया है। इन कार्यों से बच्चा जीवन के समीप आता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि फ्रोबेल का शिशु क्रिया सम्बन्धी सिद्धान्त बालक के मनोविज्ञान के गहन और व्यवस्थित निरीक्षण का परिणाम है। फ्रोबेल सर्वप्रथम शिशुओं को शिशु–गीतों एवं आवृत्यात्मक क्रियाओं में व्यस्त रखता है। इसके उपरांत बच्चों को क्रिया एवं व्यवसाय के द्वारा व्यावहारिक प्रशिक्षण मिलता है। इस तरह से आत्मप्रेरित क्रियायें क्रमशः आत्म–नियन्त्रित क्रियाओं का रूप ले लेती है। बच्चे अपनी स्वतंत्रता एवं दायित्व की सीमायें महसूस करने लगता है।

5.5.4 खेल

फ्रोबेल खेल को बालक की शिक्षा का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हिस्सा मानता है। फ्रोबेल ने खेल के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा ''खेल मनुष्य के लिए, विशेषतः बालक के लिए उसके अन्तःजगत एवं बाह्य–जगत का दर्पण है और इस दर्पण की भीतर से आवश्यकता है। अतः यह जीवन एवं

लगन–शक्ति को व्यक्त करने वाली प्रवृति है।'' इस प्रकार मानव–शिक्षा के इतिहास में फ्रोबेल पहला व्यक्ति है जिसने खेल के शैक्षिक महत्व को समझा और इसे शिक्षा का माध्यम बना दिया। फ्रोबेल ने खेल को आत्मप्रेरित, आत्मनियन्त्रित एवं स्वचालित क्रिया माना। 'उपहार' भी खेल साम्रगी है। फ्रोबेल के अनुसार प्रारम्भिक जीवन में मनोरंजनात्मक खेल उपयोगी है। दूसरे स्तर पर रचनात्मक एवं उत्पादक खेलों को बौद्धिक एवं कलात्मक विकास हेतु आवश्यक माना गया। साथ ही समाजिकता के विकास हेतु समूह नृत्य, समूह गायन जैसे सामूहिक खेलों का भी आयोजन किया जाता है। शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक विकास हेतु 'उपहारों' से सम्बन्धित खेल महत्वपूर्ण हैं।

फ्रोबेल ने खेल को अध्यापिकाओं या अध्यापकों के निर्देशन में आयोजित करने का सुझाव दिया। बच्चों के मनमाने ढ़ंग से खेलने से शैक्षिक उद्देश्य पूरे नहीं होते हैं। बच्चों को किण्डरगार्टन में इस तरह से खेलने के लिए प्रेरित करना चाहिए कि प्रकृति द्वारा निर्धारित लक्ष्य यानि बच्चे के विकास के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके।

बचपन में खेल बच्चे की सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रिया है तो किशोरावस्था में कार्य। अब प्रक्रिया की जगह किशोर की रूचि उत्पादन में होती है। अब उसके सामने एक निश्चित उद्देश्य रहता है। ये कार्य उसके वातावरण पर आधारित होते हैं। फ्रोबेल कार्य को ईश्वरीय रूप का बाह्य स्वरूप मानता है। वह कहता है ''आदमी अपने दैवीय अस्तित्व को बाह्य स्वरूप प्रदान करने के लिए कार्य करता है जिससे वह अपनी अध्यात्मिक एवं दिव्य प्रकृति को पहचान सके। यह वस्तुतः आत्म–साक्षात्कार की प्रक्रिया है।''

फ्रोबेल खेल, उपहार एवं अन्य वस्तुओं के व्यावहारिक उपयोग के अतिरिक्त उन्हें प्रतीक के तौर पर भी महत्वपूर्ण मानते हैं। उपहार विकास के नियमों का प्रतिनिधित्व करता है तो किण्डरगार्टन के फर्श पर का वृत्त सामूहिक जीवन का। फ्रोबेल का यह मानना था कि बच्चों में प्रतीकों के माध्यम से असीम कल्पनाशक्ति है। जैसे खेल में बच्चे डंडे को जांघों के मध य रखकर घोड़े पर बैठने की कल्पना करता है। फ्रोबेल के अनुसार इस कल्पनाशक्ति का प्रयोग शिक्षा में कर बच्चे की सृजनशीलता बढ़ायी जानी चाहिए। प्रतीकों को महत्वपूर्ण मानने के कारण फ्रोबेल को रहस्यवादी माना जाता है।

5.5.5 विद्यालयी पाठ्यक्रम

फ्रोबेल विभिन्न विषयों के अध्ययन–अध्यापन को साध्य न मानकर बच्चे के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का साधन माना है। इनसे बच्चा अपनी क्षमताओं को जान पाता है। फ्रोबेल का कहना है कि जीवन में चाहे जो स्थान हो प्रत्येक बच्चे लड़के और जवान को कम से कम एक–दो घंटे किसी अर्थपूर्ण उत्पादन कार्य में लगाना चाहिए। वर्तमान में विद्यार्थी और अभिभावक काम को भावी जीवन हेतु हानिप्रद मानते हैं। शैक्षिक संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि उनके इन पूर्वाग्रहों को समाप्त करे। वर्तमान बौद्धिक शिक्षा बच्चों आलसी बनाती है और मानव शक्ति के बड़े हिस्से का उपयोग नहीं हो पाता है और वह बेकार जाता है। अतः उत्पादक कार्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

अन्य विषय जिनका अध्यापन किया जाना चाहिए वे हैं कला, प्रकृति अध्ययन तथा विद्यालय बगवानी। फ्रोबेल पाठ्यक्रम का विभाजन चार प्रमुख भागों में करते हैंः (अ) धर्म एवं धार्मिक शिक्षा (ब) प्राकृतिक विज्ञान एवं गणित (स) भाषा एवं (द) कला एवं कलात्मक वस्तु। इन विषयों के अध्ययन से छात्रों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास संभव हो सकता है। शिक्षा के इतिहास में फ्रोबेल पहला व्यक्ति था जिसने 'क्रिया' को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया।

5.5.6 किण्डरगार्टन

अपने जीवन के बाद के वर्षों को फ्रोबेल ने किण्डरगार्टन की स्थापना की और विकास में लगाया। यही उसकी प्रसिद्धि का कारण भी है। किण्डरगार्टन शब्द जर्मन भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ 'किण्डर' अर्थात् बालक तथा 'गार्टन' अर्थात बाग होता है। फ्रोबेल के सिद्धान्त के अनुसार इस उद्यान में बालक पौधे, पाठशाला बगीचा तथा शिक्षक माली होता है।

'किण्डरगार्टन' नाम फ्रोबेल के मस्तिष्क में 1840 ई0 में आया जब वह बसन्त ऋतु में एक दिन अपने मित्रों के साथ किलहाउ से बेन्कनड्रग जा रहा था। उसने एक पहाड़ी से रीने नदी की घाटी को देखा जो उसे एक अतिसुन्दर बगीचे की तरह मनमोहक लगी। वह चिल्ला उठा ''मुझे मिल गया। मेरी संस्था का नाम किण्डरगार्टन होगा।'' यद्यपि वास्तविक रूप में 1843 ई0 के पहले किण्डरगार्टन की स्थापना नहीं की गई पर उपर्युक्त घटना के आधार पर किण्डरगार्टन की स्थापना का वर्ष 1840 बताया जाता है।

5.5.7 शिक्षण–विधि

फ्रोबेल ने निम्नलिखित शिक्षण विधियों के प्रयोग पर जोर दिया–

(i) **खेल विधि** : फ्रोबेल प्रथम शिक्षाशास्त्री हैं जिन्होंने शिक्षा में खेल को महत्व को समझते हुए उसका उपयोग किया। उनके अनुसार खेल बालक की स्वभाविक क्रिया है और इसमें उन्हें आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। फ्रोबेल के अनुसार खेल के द्वारा ही शिशु सर्वप्रथम संसार में अपने मौलिक रूप को प्रस्तुत करता है।

(ii) **आत्मक्रिया विधि** : फ्रोबेल आत्मक्रिया विधि या स्वयं कर के सीखने की विधि को शिक्षा में महत्वपूर्ण मानता है। इसमें बालक स्वयं क्रिया करता है और सीखता है। इसके लिए उन्होंने अपनी किण्डरगार्टन पद्धति में अनेक प्रकार के उपहारों का विकास किया जिनमें गोलाकार, आयताकार, बेलनाकार, घनाकार, वर्गाकार तथा त्रिभुजाकार आकृति के लकड़ी, लोहे एवं ऊन से बनी वस्तुएं मुख्य हैं।

(iii) **स्वतंत्र एवं निरन्तर सीखने की विधि** : फ्रोबेल सीखने के लिए स्वतंत्रता एवं निरन्तरता को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार बच्चों को स्वयं सीखने के लिए प्रेरित करना चाहिए तथा इनकी स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न नहीं करना चाहिए।

(iv) **वस्तुओं से सीखने की विधि** : फ्रोबेल की यह विधि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। उसके अनुसार बच्चे अमूर्त संप्रत्ययों की तुलना में मूर्त एवं ठोस वस्तुओं से कम ही समय में प्रभावशाली ढंग से सीखते हैं। वर्तमान समय में श्रव्य–दृश्य सामग्रियों का शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया में उपयोग किया जाता है। फ्रोबेल ने इसके स्थान पर उपहारों का उपयोग किया।

5.5.8 अध्यापक का कार्य

किण्डरगार्टन या बालोद्यान के प्रवर्तक फ्रोबेल के अनुसार अध्यापक का कार्य है– गीतों, खेलों और चित्रों आदि का सही चयन करना। गीत गाते हुए, खेल खेलते हुए, चित्रों को देखते तथा बनाते समय, बालक–बालिकाएं भी भाषा का प्रयोग करते हैं। फ्रोबेल का यह मानना था कि विद्यार्थियों को शिक्षण–अधिगम में गीत, गति और रचना तीन स्वतंत्र इकाइयाँ नहीं है। ये

एक–दूसरे से अलग महत्वहीन हैं।

फ्रोबेल के अनुसार बालक की खेल प्रवृतियों का ठीक दिशा में संचालन किया जाना चाहिए। समुचित निर्देशन के आभाव में खेल एक उद्देश्यहीन क्रिया बनकर रह जाती है। खेल का उचित दिशा में संचालन में अध्यापकों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। शिक्षक को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि किण्डरगार्टन (बालोद्यान) पद्धति में बालक–बालिकाएं इस प्रकार खेलें कि उनका स्वभाविक विकास हो सके।

5.5.9 फ्रोबेल के शिक्षा–दर्शन की सीमाएं

फ्रोबेल ने शिक्षा के दार्शनिक पक्ष पर अत्यधिक जोर देकर शिक्षा की दार्शनिक संकल्पना को अध्यापकों एवं छात्रों के लिए अत्यधिक जटिल बना दिया है। डीवी के अनुसार ''एक निष्पक्ष निरीक्षक को उसके (फ्रोबेल के) अधिकांश कथन बड़े विचित्र एवं असम्बद्ध लगेंगे इनमें उसने व्यर्थ में ही साधारण सरल तथ्यों को आत्मगत दार्शनिक तर्कों के आधार पर समझाया है।

फ्रोबेल ने आन्तरिक विकास पर बहुत अधिक जोर दिया है। इससे बाह्य विकास की उपेक्षा हुई। वस्तुतः आन्तरिक एवं बाह्य दोनों पक्षों का ही समन्वित विकास होना चाहिए।

फ्रोबेल के द्वारा प्रस्तावित चित्र और गीत बहुत पूराने हो गये हैं। सभी स्थानों और संदर्भों में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता है।

उपहारों और कार्यों को उपस्थित करने में जड़ता एवं नियन्त्रण है। 'उपहार' आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुरूप नहीं है। डीवी ने इस तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा ''वस्तुओं को यथासंभव वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होना चाहिए।''

साथ ही किण्डरगार्टन के गीत, खेल उपहारों के प्रयोग में अनुकरण एवं निर्देश पर काफी जोर है। वस्तुतः बच्चों को स्वतः क्रिया करने का अवसर मिलना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान

कीजिए।

3. फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

4. फ्रोबेल ने किन शिक्षण–विधियों के उपयोग पर जोर दिया?

.....

.....

.....

.....

5.6 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने फ्रेडरिक फ्रोबेल के शिशु–शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त का व्यापक अध्ययन किया। फ्रोबेल के जीवन की उन घटनाओं का उल्लेख किया गया जिसका उसके शिक्षा–सिद्धान्त पर प्रभाव पड़ा। फ्रोबेल के प्रमुख सिद्धान्तों : एकता का सिद्धान्त, आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त, विकास का सिद्धान्त तथा स्वतः क्रिया के सिद्धान्त को समझने का प्रयास किया गया। साथ ही फ्रोबेल के शिक्षा सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की गई। शैक्षिक प्रक्रिया में उपहारों, क्रिया, खेल के संदर्भ में फ्रोबेल के विचारों का विश्लेषण किया गया। फ्रोबेल का शिशु–शिक्षा के संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान 'किण्डरगार्टेन' है। किण्डरगार्टेन की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए फ्रोबेल के शिक्षा सम्बन्धी विचारों एवं कार्यों की सीमाओं का भी उल्लेख किया गया।

5.7 अभ्यास प्रश्न

1. फ्रोबेल द्वारा प्रतिपादित 'एकता सम्बन्धी सिद्धान्त' की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. फ्रोबेल ने उपहार एवं खेल का शिशु–शिक्षा के संदर्भ में किस तरह से उपयोग करने का सुझाव दिया।
3. 'किण्डरगार्टेन' की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. फ्रोबेल के दर्शन पर काण्ट, हीगल, फिक्टे, शैलिंग तथा क्राउस के दर्शनों का व्यापक प्रभाव पड़ा।

2. फ्रोबेल के दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं

   i. एकता का सिद्धान्त,

   ii. आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त,

   iii. विकास का सिद्धान्त,

   iv. स्वक्रिया का सिद्धान्त।

4. फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्देश्य हैः

   (i) एकता या सामन्जस्य,

   (ii) व्यक्ति में आध्यात्मिक प्रकृति को जागृत करना,

   (iii) स्वतंत्रता एवं आन्तरिक संकल्प शक्ति का विकास,

   (iv) सामाजिक भावना का विकास,

   (v) चरिण का निर्माण।

5. फ्रोबेल ने निम्नलिखित शिक्षण–विधियों के प्रयोग पर जोर दिया–

   (i) खेल–विधि

   (ii) आत्मक्रिया विधि

   (iii) स्वतंत्र एवं निरन्तर सीखने की विधि

   (iv) वस्तुओं से सीखने की विधि

5.9 सहायक अध्ययन सामग्री

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1947), *ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन,* न्यूयार्कः दि मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002), *वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन,* नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (2000), *दि डोकटराइन्स ऑफ ग्रेट एडुकेटर्स*, नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (1990), *शिक्षा के दार्शनिक आधार*, जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, (अनुवादक– लक्ष्मीलाल के0 ओड़)।

इकाई 6: मारिया मान्टेसरी

संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 जीवन–वृत्त

6.4 मान्टेसरी पद्धति का विकास

6.5 शिक्षा सिद्धान्त

6.6 मान्टेसरी पद्धति का क्रियान्वयन

6.6.1 व्यावहारिक जीवन के कार्यों का अभ्यास

6.6.2 इन्द्रिय या संवेदी प्रशिक्षण

6.6.3 शिक्षा से सम्बन्धित कार्य

6.7 डाइरेक्ट्रेस की योग्यता

6.8 मान्टेसरी पद्धति की विशेषतायें

6.9 मान्टेसरी पद्धति की सीमायें

6.10 सारांश

6.11 अभ्यास प्रश्न

6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.13 सहायक अध्ययन सामग्री

6.1 प्रस्तावना

डॉ0 मारिया मान्टेसरी ने शिशु शिक्षा हेतु एक आधुनिक और प्रगतिशील शिक्षण पद्धति का विकास किया जो मान्टेसरी पद्धति के नाम से शिक्षा के इतिहास में प्रसिद्ध है। प्रशिक्षण एवं पेशे से मारिया मान्टेसरी एक चिकित्सक थी। इन्होंने मानसिक रूप से विकलांग बच्चों की चिकित्सा करते हुए उनकी शिक्षा पर ध्यान दिया और सफलतापूर्वक उन्हें शिक्षित किया। मान्टेसरी ने यह निष्कर्ष निकाला कि अगर इस नवीन पद्धति का उपयोग सामान्य बच्चों की शिक्षा के लिए किया जाये तो वे शीघ्रता से और बेहतर ढ़ंग से सीखेंगे। मान्टेसरी खेल के माध्यम से शिक्षा देनी चाहती थी। उनके अनुसार बच्चों में

खेलने की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। अतः उन्हें खेलों के माध्यम से सीखाना अधिक उचित होगा। उनकी इस नवीन पद्धति को पूरे विश्व में शिशु शिक्षा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधि माना जाता है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई में हमलोग मारिया मान्टेसरी के शिक्षा–सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे। जिन्होंने शिशु शिक्षा को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उनकी विधि का प्रभाव शिशु एवं प्राथमिक शिक्षा पर व्यापक रूप से पड़ा। निम्नलिखित बिन्दुओं के संदर्भ में मान्टेसरी के शैक्षिक सिद्धान्तों एवं कार्यों का अध्ययन किया जायेगाः–

- मारिया मान्टेसरी का जीवन–वृत्त
- मान्टेसरी विधि का उद्‌भव
- मान्टेसरी का शिक्षा–सिद्धान्त
- मान्टेसरी पद्धति का व्यावहारिक स्वरूप
- मान्टेसरी पद्धति की सीमायें।

6.3 जीवन–वृत्त

मारिया मान्टेसरी का जन्म 1870 ई0 में इटली के एक सम्पन्न तथा सुशिक्षित परिवार में हुआ था। मारिया मान्टेसरी ने व्यवस्थित ढ़ंग से शिक्षा प्राप्त की और 1894 में, चौबीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने रोम विश्वविद्यालय से चिकित्सा में एम0डी0 की उपाधि प्राप्त की। इसके उपरान्त इसी विश्वविद्यालय में उन्हें मन्द बुद्धि बालकों की शिक्षा का दायित्व दिया गया। इस कार्य के सम्पादन के दौरान उनकी रूचि शिक्षण पद्धति में जगी। मान्टेसरी ने पाया कि मन्द बुद्धि बालकों के पिछड़ेपन का कारण उनकी ज्ञानेन्द्रियों का कमजोर होना है। मान्टेसरी ने अनुभव किया कि तत्कालिन शिक्षा पद्धति की एक प्रमुख कमी है सभी विद्यार्थियों को एक ही विधि से समान शिक्षा का दिया जाना। ऐसी स्थिति में मन्द बुद्धि बालक का पिछड़ना स्वभाविक है। परम्परागत विधि में इन पिछड़े विद्यार्थियों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। मान्टेसरी ने इनकी शिक्षा के लिए अनेक प्रयोग किये। उनके द्वारा विकसित की गई शिक्षा एवं प्रशिक्षण की विधि 'मान्टेसरी विधि' कहलाती है।

मान्टेसरी विधि के उपयोग से पिछड़े बालकों ने आश्चर्यजनक ढ़ंग से प्रगति की। इटली की सरकार ने मान्टेसरी की सफलताओं को देखते हुए उन्हें बाल–गृह (हाउस ऑफ चाइल्डहुड) का अध्यक्ष बनाया। बाल गृह की अधीक्षक के रूप में उन्होंने कई प्रयोग किए, प्रयोगात्मक मनोंविज्ञान का अध्ययन किया, लोम्ब्रोसे और सर्गी जैसे विचारकों द्वारा प्रयुक्त शिक्षण विधि की जानकारी प्राप्त की। उन्होंने शिक्षण–प्रशिक्षण को वैज्ञानिक बनाने हेतु लगातार निरीक्षण एवं प्रयोग किये। मंद–बुद्धि बालकों के संदर्भ में सफलता मिलने पर मान्टेसरी ने इसी विधि का उपयोग सामान्य बच्चों की शिक्षा के लिए भी किया। मान्टेसरी के अनुसार जो पद्धति छह वर्ष के मंद–बुद्धि बालक के लिए उपयुक्त है वही पद्धति तीन वर्ष के सामान्य बुद्धि के बालक के लिए उपयोगी है। अतः उन्होंने अपनी विधि का उपयोग दोनों ही तरह के विद्यार्थियों को शिक्षित करने के लिए किया।

मान्टेसरी ने अपनी विधि के संदर्भ में एक पुस्तक 'मान्टेसरी मेथड' की रचना की। पूरे यूरोप में मान्टेसरी की विधि लोकप्रिय होती गई। 1939 में थियोसोफिकल सोसाइटी के निमन्त्रण पर मारिया मान्टेसरी भारत आई और मान्टेसरी विधि के संदर्भ में अनेक व्याख्यान दिये। मद्रास में मान्टेसरी संघ की शाखा स्थापित की और अहमदाबाद में बड़ी संख्या में अध्यापकों को मान्टेसरी पद्धति का प्रशिक्षण दिया। वे इण्डियन ट्रेनिंग कोचर्स इंस्टीट्यूट, अडियार की निर्देशिका भी रहीं। इस तरह से उन्होंने न केवल यूरोप वरन् भारत में भी मान्टेसरी पद्धति को लोकप्रिय बनाया। वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व में शिशु शिक्षा के क्षेत्र में मान्टेसरी के प्रयोगों ने क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। वे लगातार शिशु शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत रहीं। अन्ततः 1952 ई0 में इस महान अध्यापिका का देहावसान हो गया।

6.4 मान्टेसरी पद्धति का विकास

आवास स्थिति के संदर्भ में सामाजिक प्रयोग के द्वारा शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए विकसित की गई शिक्षा विधि का सामान्य बच्चों के संदर्भ में उपयोग मान्टेसरी पद्धति के जन्म का कारण है।

रोम के निर्धनतम परिवारों के आवास से सम्बन्धित सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने हेतु 'असोसिएशन ऑफ गुड बिल्डिंग' बनाया गया– इसने

आवासीय क्वार्टरों को तो पुनर्निमित किया पर स्कूल नहीं जाने योग्य छोटे बच्चों की समस्या बनी रही। ये दिन में भवन को गंदा करते रहते थे। इस समस्या के समाधान हेतु रोम के 'असोसिएशन ऑफ गुड बिल्डिंग' के डाइरेक्टर जनरल के मन में विचार आया कि एक बड़े हॉल में तीन से सात वर्ष के चाल में रहने वाले सभी बच्चों को इकट्ठा किया जाये और उनके लिए खेल तथा कार्य की व्यवस्था किसी अध्यापिका की देखरेख में की जाये जो उसी आवासीय परिसर में अपने अपार्टमेंट में रहें। इस तरह से 'हाउस ऑफ चाइल्डहुड' के नाम से आवासीय परिसर में एक विद्यालय की स्थापना की गई।

हाउस ऑफ चाइल्डहुड का उद्देश्य ऐसे बच्चों की व्यक्तिगत देखरेख करना था जिनके अभिभावक अपने दैनिक कार्य/व्यवसाय के कारण बच्चे की देखभाल करने में असमर्थ हैं। आवासीय परिसर में रहने वाले तीन से सात वर्ष के बच्चों को अर्ह माना गया। कोई शुल्क नहीं लगना था पर तय समय पर बच्चों को साफ–सुथरे वस्त्र में पहुँचाना था, डाइरेक्टरेस के प्रति सम्मान तथा बच्चों की शिक्षा पर ध्यान देना था।

इस प्रकार सामाजिक आवश्यकता ने शिक्षा के एक नए अभिकरण को जन्म दिया। यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा अगर गरीब बच्चों के लिए शुरू की गई व्यवस्था अमीर बच्चों के लिए ही सीमित हो जाए।

1906 में डाइरेक्टर जनरल ऑफ रोमन असोसिएशन ऑफ गुड बिल्डिंग ने शिशु विद्यालय के संचालन का दायित्व मारिया मान्टेसरी को सौंपा जिन्होंने अपने पूर्व के अनुभव एवं प्रशिक्षण के आधार पर अपनी विधि का विकास किया। चिकित्साशास्त्र में स्नातक होने के नाते उन पर मानसिक रूप से विकलांग या दोषपूर्ण बच्चों के प्रशिक्षण का दायित्व था। इस कार्य में मारिया मान्टेसरी को अभूतपूर्व सफलता मिली– इस तरह के काफी बच्चों को उन्होंने लिखना–पढ़ना सिखाया। वे अपने आयुवर्ग के सामान्य बच्चों के साथ परीक्षा में बैठकर सफल हुए। इस प्रभावशाली सफलता का कारण मान्टेसरी के अनुसार बेहतर शिक्षण–प्रशिक्षण विधि है जिनके द्वारा इन बच्चों को पढ़ाया गया था। मारिया मान्टेसरी ने निष्कर्ष निकाला अगर इस श्रेष्ठ विधि का प्रयोग सामान्य बालकों की शिक्षा हेतु किया जाये तो परिणाम और आश्चर्यजनक होंगे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. मारिया मान्टेसरी पेशे और प्रशिक्षण से क्या थी?

.....

.....

2. मारिया मान्टेसरी किस संस्था की अध्यक्ष बनायी गई?

.....

.....

3. मारिया मान्टेसरी ने भारत में क्या कार्य किया?

.....

.....

6.5 मान्टेसरी पद्धति की शिक्षा के सिद्धान्त

मान्टेसरी ने पहले मानसिक रूप से कमजोर या विकलांग बच्चों की शिक्षा के लिए जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए उन्हें बाद में सामान्य शिशुओं की शिक्षा पर लागू किया। ये सिद्धान्त हैं :–

स्वतंत्रता का सिद्धान्त– पहला सिद्धान्त दैनिक जीवन की सामान्य क्रियाकलापों में बच्चों को स्वतंत्र बनाना। मस्तिष्क का अल्प विकास होता है अतः बुद्धि की जगह इन्द्रिय प्रशिक्षण पर जोर दिया जाना चाहिए। शारीरिक विकलांगता वाले बच्चों में खराब अंग या इन्द्रिय की कमी को पूरा करने हेतु दूसरे इन्द्रियों के प्रयोग का गहन प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए– जैसे नेत्रविहीन के लिए स्पर्श की शक्ति का विकास किया जाना चाहिए। स्पर्श को मारिया मान्टेसरी अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं मूल मानती है– इसका विकास प्रारम्भिक वर्षों में बहुत अधिक किया जा सकता है।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त– एडवर्ड सेगुइन, जिनका प्रभाव मान्टेसरी पर पड़ा, ने कमजोर दिमाग वाले बच्चों के प्रशिक्षण को शारीरिक विधि कहा। पर

मान्टेसरी द्वारा की गई प्रगति को देखते हुए इसे मनोवैज्ञानिक विधि कहा जा सकता है। शिक्षा में मनोवैज्ञानिक विधि से तात्पर्य है शैक्षिक प्रक्रिया बच्चे मानसिक विकास के स्तर तथा उसकी रूचि पर निर्भर करती है न कि पाठ्यक्रम की आवश्यकताओं पर और न ही अध्यापक की कार्य योजना पर। मान्टेसरी ने कहा ''शिक्षा से तात्पर्य है बच्चे के जीवन के सामान्य विस्तार हेतु दी गयी क्रियाशील सहायता।'' शैक्षिक प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक पल तब आता है जब बच्चे के मस्तिष्क में आवश्यकता की जागरूकता आती है। अतः यह आवश्यक है बच्चे द्वारा विकास की आवश्यकता को महसूस किये जाने पर कार्य/प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। अगर कोई बच्चा कोई कार्य नहीं कर पाता या कोई चीज नहीं समझ पाता तो अध्यापक को उसे दुहराने की बजाय यह मानना चाहिए कि कार्य समय से पूर्व दे दिया गया– जब बच्चा उसकी आवश्यकता दिखाये तो पुनः वह पाठ/कार्य दिया जाना चाहिए। किसी कार्य के लिए समय सारिणी को ध्यान में रखने की जगह बच्चे की रूचि और सीखने की इच्छा को ध्यान में रखना चाहिए। मान्टेसरी पद्धति में एक ही कार्य पर बच्चे कई दिन लगा सकते है।

स्वशिक्षा का सिद्धान्त– मान्टेसरी पद्धति में कोई पुरस्कार नहीं होता। छात्र का कार्य/ज्ञान में कुशल हो जाने का भाव सबसे बड़ा पुरस्कार है। ''उसका अपना स्वयं का विकास सही तथा एकमात्र प्रसन्नता या उपलब्धि है।'' मान्टेसरी के अनुसार सुधार वस्तुओं से आता है न कि अध्यापकों से। ''शिशु सदन में अनुशासन एवं स्थिरता बनाए रखने वाली एवं लगातार व्याख्यान देने वाली पुरानी अध्यापिकाओं की जगह शैक्षिक वस्तुओं ने ले ली है, जिसमें गलतियों को नियन्त्रित करने की अन्तर्निहित क्षमता होती है– और स्वतंत्रता एवं स्वशिक्षा संभव होती है।''

आत्म अनुशासन का सिद्धान्त– मनोवैज्ञानिक पद्धति में बच्चे को पूर्ण स्वतंत्रता होती है, स्वतंत्रता, जिसमें वह अपनी प्रकृति के विकास के सिद्धान्त के प्रति पूर्णतः आज्ञाकारी होता है। बच्चों को कार्य करने की स्वतंत्रता होती है। जिसने भी मान्टेसरी विद्यालय देखा वह वहाँ के अनुशासन से अत्यधिक प्रभावित हुआ। चालीस छोटे बच्चे (3 से 7 वर्ष के)– प्रत्येक अपने–अपने कार्य में लगा हुआ। कोई इन्द्रियों से सम्बन्धित अभ्यास में लगा है, तो काई अंकगणित की समस्या में, कोई अक्षरों को संभाल रहा है तो कोई चित्र बना रहा है, कोई लकड़ी के टुकड़े में कपड़े को बाँध और खोल रहा है,

कोई सफाई कर रहा है, कुछ लोग टेबुल पर बैठे हैं, कुछ लोग दरी पर नीचे। कुछ लोगों के लिए यह लाइसेन्स लग सकता है पर यह स्वतंत्रता की समय–समय पर पुनर्खोज करने का शिक्षाशास्त्रियों का तरीका है।

वैयक्तिक विकास का सिद्धान्त– फ्रोबेल की ही तरह मान्टेसरी का मानना है कि शिक्षा वस्तुतः व्यक्ति के अन्दर निहित शक्तियों के प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया है। भविष्य की क्षमताओं के बीज बच्चे में जन्म के समय से उपस्थित रहते हैं। अध्यापिका या डाइरेक्ट्रेस का कार्य है जन्म के समय उपस्थित शक्तियों के विकास हेतु उपयुक्त वातावरण प्रदान करना।

ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा– मान्टेसरी ने शिक्षा में ज्ञानेन्द्रियों पर अत्यधिक जोर दिया है। उनका कहना है कि मानव ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है। अगर इन्द्रियों का विकास अवरूद्ध हुआ तो ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं होगा। अतः ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार तीन से सात वर्ष तक की अवस्था में बच्चों की इन्द्रियाँ विशेष रूप से क्रियाशील रहती हैं अतः इनके विकास पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए।

कर्मेन्द्रियों की शिक्षा– मारिया मान्टेसरी कर्मेन्द्रियों की शिक्षा को मानव शिशु के लिए आवश्यक मानती हैं। शरीर के सभी अंगो को मजबूत बनाने के लिए आवश्यक है कि बच्चों को अंगो के सही संचालन की शिक्षा दी जाय। अंग–संचालन हेतु मांसपेशियों पर नियन्त्रण से खेलना–कूदना, लिखना–पढ़ना आदि क्रियायें सफल हो सकती हैं।

खेल के माध्यम से शिक्षा– मान्टेसरी ने शिक्षा को बालक या बालिका की रूचि एवं क्षमता के अनुरूप देने पर जोर दिया। बालक की खेल में रूचि अत्यन्त स्वभाविक है। अतः प्रारम्भ में खेल के माध्यम से ही शिक्षा दी जानी चाहिए। शिशु को विभिन्न तरह के शैक्षिक यन्त्र दिए जाने चाहिए। इनसे खेलते–खेलते वह वर्णमाला, गणित, भाषा आदि विषय सीख जाता है।

6.6 मान्टेसरी विधि का क्रियान्वयन

मान्टेसरी ने तीन तरह से बच्चों को प्रशिक्षित करने का सुझाव दिया–

1. व्यावहारिक जीवन के अभ्यास या कार्य,
2. इन्द्रिय या संवेदी प्रशिक्षण के कार्य,

3. शिक्षा से सम्बन्धित कार्य।

6.6.1 व्यावहारिक जीवन के कार्यों का अभ्यास

कमजोर दिमाग के बच्चों को अपने को संभालने का प्रशिक्षण दिया जाता है। यह स्वतंत्रता में प्रशिक्षण है– स्वतंत्रता के लिए सामान्य कार्य करे– दूसरे के कहने की आवश्यकता न हो। 'हाउस ऑफ चाइल्डहुड' में बच्चे अपना हाथ धोना सीखते हैं, नाखूनों को साफ करना, दाँत को ब्रश करना, वस्त्र पहनना और बदलना सीखता है। चाइल्डहुड हाउस के सारे फर्नीचर ऐसे होते हैं जिसे बच्चे स्वयं एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकें। इससे मोटर ट्रेनिंग भी हो जाती है।

कुछ जिमनास्टिक अभ्यास भी मान्टेसरी ने विकसित किए– ताकि समन्वित गति आ सके। लेकिन उन्होंने बच्चों के लिए व्यस्कों के व्यायाम का विरोध किया। व्यायाम आयु के अनुरूप ही होना चाहिए। जैसे कि एक उदाहरण उपकरण का है– लिटिल राउन्ड स्टेयर इससे बच्चा सही ढ़ंग से सीढ़ी चढ़ना और उतरना सीखता है जबकि सामान्य घरों में सीढ़ियाँ बड़ों को ध्यान में रखकर बनायी जाती हैं।

6.6.2 इन्द्रिय या संवेदी प्रशिक्षण कार्य

इन्द्रिय या संवेदी प्रशिक्षण के लिए मान्टेसरी प्रयोगात्मक मनोवैज्ञानिकों के परीक्षणों और उपकरणों पर निर्भर करती है। लेकिन दोनों में अन्तर है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान तथा इन्द्रिय प्रशिक्षण में आधारभूत भिन्नता है– प्रयोगात्मक मनोविज्ञान प्रयोगों के द्वारा इन्द्रिय या संवेदी शक्ति का मापन करना चाहता है जबकि मान्टेसरी शक्ति का मापन करने की बजाय संवेदी शक्ति के विकास को चाहती है।

सामान्य बच्चे उन अभ्यासों को दोहराने में आनन्द की अनुभूति करते हैं जिन्हें उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा कर लिया है। कमजोर मस्तिष्क के बच्चे जिस कार्य को एक बार पूरा कर लेते है उसे दुबारा करने की इच्छा नहीं दिखाते हैं। अल्प बुद्धि वाले बच्चों की गलती को सुधरवाना पड़ता है जबकि सामान्य बच्चे अपनी गलतियों को स्वयं सुधारना चाहते हैं। वे शैक्षिक वस्तु जो अल्पबुद्धि बच्चे के संदर्भ में शिक्षा को संभव बनाता है– सामान्य बच्चों के संदर्भ में स्व–शिक्षा को बढ़ावा देता है।

इन्द्रिय या संवेदी प्रशिक्षण में मान्टेसरी रूसो की ही तरह इन्द्रियों को

अलग–अलग करने पर बल देती है। यह शारीरिक विकलांग बच्चों की शिक्षा पर आधारित है– दृष्टिहीन व्यक्तियों की स्पर्श शक्ति काफी संवेदनशील हो जाती है। स्पर्श की शक्ति के विकास के लिए बच्चों को मान्टेसरी विद्यालयों में आँख बाँधकर प्रशिक्षण दिया जाता है। श्रवण शक्ति का अभ्यास न केवल शांत वातावरण वरन् अंधेरे में भी किया जाता है।

इन्द्रिय या संवेदी प्रशिक्षण में आकार के अनुभव/ज्ञान के लिए बेलनाकार लकड़ी के टुकड़े– केवल ऊचाँई में अंतर, चौड़ाई में अंतर– या दोनों अंतर के साथ रखे जाते हैं। इसी तरह से ब्लॉक या कुन्दा जिसके आकार में लगातार अंतर हो तथा छड़ या रॉड अलग–अलग लम्बाई के; रेखागणित या आकार की समझ के लिए लोहे या लकड़ी के बने हुए और बाद में कागज पर बनाए गए रेखागणितीय आकृति दिए जा सकते है। वजन की समझ के लिए लकड़ी के समान आकार पर भिन्न वजन की पट्टी दी जा सकती है। स्पर्श की समझ के लिए एक अत्यन्त ही चिकना धरातल और दूसरा खुरदरा धरातल, ताप की समझ के लिए छोटे–छोटे धातु के कटोरे– ढ़क्कन सहित दिए जा सकते हैं, श्रवण शक्ति के लिए भिन्न–भिन्न बेलनाकार ध्वनि बॉक्स भिन्न–भिन्न वस्तुओं वाले हो सकते है, रंग के ज्ञान के लिए विभिन्न रंगों में रंगे ऊन दिए जाने चाहिए।

शिक्षण विधि को रंगों की भिन्नता के संदर्भ में समझा जा सकता है जो मान्टेसरी ने सेग्विन से ग्रहण किया था। इसके तीन पद हैं–

1. रंग के नाम के साथ संवेदी समझ को जोड़ना। जैसे अध्यापिका दो रंग को दिखाती है लाल एवं नीला। लाल को दिखाते समय कहेगी ''यह लाल रंग है'' नीला दिखाते समय कहेगी ''यह नीला रंग है''।
2. द्वितीय सोपान में बच्चा रंग पहचानने लगेगा। मुझे 'लाल' रंग दो, मुझे 'नीला' रंग दो।
3. वस्तु से जुड़े रंग को याद रखना। अध्यापिका कहेगी 'यह क्या है?' बच्चा कहेगा 'लाल' या 'नीला'।

इसी तरह का प्रशिक्षण स्पर्श, श्रवण, वजन तथा तापक्रम में अन्तर करने की क्षमता के विकास के लिए दिया जा सकता है। इनमें बच्चों का आँख बन्द किया जाता है या उन्हें बन्द रखने को कहा जाता है। उन्हें यह समझाया जाता है कि इससे वे अंतर को बेहतर समझ पायेंगे।

ठोस आकृति जिसमें बच्चे का पूर्ण नियंत्रण था, के उपरांत अब दृष्टि पर आधारित आकार की समझ पर आता है। वह अब लकड़ी की आकृति को नीले कागज पर बने आउटलाइन में सजाता है। बाद में चित्र भी नीले कागज का आउटलाइन होता है। अंततः वह लकड़ी के टुकड़ों को केवल रेखा द्वारा खीचे चित्रों पर डालता है। इस प्रकार वह वास्तविक से सूक्ष्म, ठोस वस्तु से चित्रों, जो केवल रेखाओं द्वारा बना होता है और जिसे केवल देखकर समझा जाता है तक पहुँचता है।

इस तरह से कई चित्रों जैसे वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज आदि का ज्ञान होता है। और जब बच्चों द्वारा आवश्यकता महसूस की जाती है, इनका नाम बताया जाता है। आकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया जाता है अतः कहा जा सकता है कि रेखागणित की पढ़ाई नहीं की जा रही है।

मान्टेसरी द्वारा प्रयोग किये जाने वाले मुख्य उपकरण निम्नलिखित हैं–

1. **छिद्रों वाला तख्ता** : एक बक्से के भीतर के तल में अलग–अलग आकार के छिद्र बने होते हैं। बक्से में ही विभिन्न आकार के गुटके भी होते हैं। बालक गुटकों को छिद्रों में बैठाने की कोशिश करता है।
2. **सिलेण्डर (बेलनाकार वस्तु)** : कई छोटे–बड़े सिलेण्डर होते हैं। शिशु इन्हें क्रम से सजाता है।
3. **घन** : विभिन्न आकारों के अनेक घन होते हैं। बच्चे खेल–खेल में इन्हें सजाते हैं और कई आकार बनाते हैं।
4. **भिन्न–भिन्न रंगों की टिकियाँ** : शिशु इनसे रंगों की पहचान करता है।

6.6.3 शिक्षा से सम्बन्धित कार्य

मान्टेसरी विधि में लिखना पहले और पढ़ना बाद में सिखाया जाता है। उनके अनुसार पढ़ना मानसिक विकास से सम्बन्धित है जबकि लिखने में केवल अनुकरण की जरूरत होती है जो बच्चों के लिए आसान है। लिखना सीखने में तीन क्रियायें कराई जाती हैं–

(अ) लेखनी पकड़ने का अभ्यास।

(ब) अक्षर का स्वरूप समझना।

(स) अक्षरों में भेद कर सकने में सक्षम होना।

लिखना सीखने के बाद पढ़ना सिखाया जाता है। इसमें लिखी हुई परिचित वस्तुओं का वाचन कराया जाता है। जब बालक शब्द की ध्वनि का सही उच्चारण करने लगता है तब उसे पूरे शब्द की कई बार आवृत्ति करायी जाती है। मान्टेसरी के अनुसार मांसपेशीय समझ शैशवावस्था में बड़ी आसानी से विकसित होती है और यह बच्चों में लेखन की क्षमता के विकास को अत्यधिक आसान कर देता है। पढ़ने में और अधिक भिन्न–भिन्न बौद्धिक विकास चाहिए, क्योंकि इसमें संकेतों की व्याख्या होती है। भिन्न–भिन्न स्वरों एवं वर्णों के उच्चारण में आवाज में परिवर्तन– ताकि शब्द समझा जा सके। पढ़ना अधिक उच्चस्तरीय मानसिक कार्य है– लिखने में बच्चे आवाज को कुछ चिन्हों में बदलता है तथा कुछ गति करता है– यह कार्य आसान होता है तथा बच्चे को आनन्द भी आता है। लिखने की विधि का विकास मान्टेसरी ने एक कमजोर बालिका द्वारा सीना सीखाने के अनुभव से किया। इसकी तैयारी के लिए शुरूआती गतिविधि या तैयारी आवश्यक है। वास्तविक कार्य बाद में होता है।

मान्टेसरी के अनुसार प्रारम्भिक तैयारी के अभ्यास और प्रथम लिखित शब्द के मध्य 4 वर्ष के बच्चे के लिए एक से डेढ़ महीने तथा 5 वर्ष के बच्चे के लिए और कम– एक महीना लगता है। तीन महीनों में बच्चे कुशल हो जाते हैं। लिखने की प्रक्रिया की शुरूआत में पन्द्रह दिन लगते हैं। मान्टेसरी विधि के अनुसार सामान्य बच्चा चार वर्ष की उम्र में लिखना और पाँच वर्ष में पढ़ना शुरू कर देता है।

6.7 डाइरेक्ट्रस (अध्यापिका) की योग्यता

मान्टेसरी विधि में शिक्षण कार्य करने के लिए बाल मनोविज्ञान का विस्तृत ज्ञान होना चाहिए तथा जिसे प्रयोगशाला पद्धति, वैज्ञानिक संस्कृति तथा प्रयोगवादी मनोविज्ञान का ज्ञान हो वही सफल अध्यापिका हो सकती है। अध्यापक प्रशिक्षण का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह जाने कि कब बच्चे की गतिविधि में हस्तक्षेप करें तथा अधिक महत्वपूर्ण कि कब हस्तक्षेप करने से रूकें। मान्टेसरी ने टीचर की जगह डाइरेक्ट्रस उपाधि का प्रयोग किया।

रस्क के अनुसार मान्टेसरी की प्रसिद्धि शिक्षा के क्षेत्र में संवेदी (इन्द्रिय) प्रशिक्षण के कारण है। संभवतः उन्होंने इसको कुछ अधिक ही महत्व दिया। संवेदी प्रशिक्षण में स्थायी महत्व का वस्तु है व्यावहारिक व्यायाम। तथा शैक्षिक प्रक्रिया से सम्बन्धित सहयोगी 'हाउस ऑफ चाइल्डहुड' जैसी सामाजिक संस्था का विकास हुआ। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण पक्ष था इंडिविड्यूलिज्म (बच्चा विशेष पर व्यक्तिगत ध्यान देना) जो कि मनोवैज्ञानिक विधि के प्रयोग के कारण हुआ। बच्चा विशेष पर व्यक्तिगत ध्यान देने की मान्टेसरी की यह पद्धति आधुनिक शिक्षा प्रक्रिया को प्रभावित करती है– यह भविष्य के विद्यालय का एक महत्वपूर्ण पक्ष होगा।

6.8 मान्टेसरी पद्धति की विशेषतायें

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम मान्टेसरी पद्धति में निम्नलिखित विशेषतायें पाते हैं–

(i) मान्टेसरी की शिक्षण विधि वैज्ञानिक विधि पर आधारित है। मान्टेसरी ने निरीक्षण, अनुभव तथा प्रयोग के आधार पर पद्धति का विकास किया।

(ii) रूसो, पेस्टोलॉजी एवं फ्रोबेल की ही भाँति मान्टेसरी भी विद्यार्थियों की पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन करती है। इनके अनुसार स्वतंत्र वातावरण में ही स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। मान्टेसरी की पद्धति वैयक्तिक है।

(iii) मान्टेसरी द्वारा प्रस्तावित ज्ञानेन्द्रियों का शिक्षण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल है।

(iv) मान्टेसरी के द्वारा प्रारम्भ की गई लिखना एवं पढ़ना सिखाने की विधियाँ सर्वथा नवीन हैं। प्रथम बार किसी शिक्षाशास्त्री ने लिखना सिखाने की क्रिया में मांसपेशियों के सन्तुलन पर जोर दिया है।

(v) बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता होती है और अध्यापिका उनके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती, इसलिए अनुशासन की कोई समस्या नहीं रह जाती है।

(vi) इस प्रणाली में मानसिक विकास के साथ–साथ शारीरिक

विकास का भी ध्यान रखा जाता है।

6.9 मान्टेसरी पद्धति की सीमायें

1. मान्टेसरी का बच्चों का स्वयं सीखने का सिद्धान्त उत्तम है। पर इसे सभी विषयों पर लागू नहीं किया जा सकता है। साथ ही यह बहुत अधिक समय ले सकता है।
2. उनका इन्द्रियों के प्रशिक्षण का सिद्धान्त पुरानी पद्धति पर आधारित है। एक बार में एक ज्ञानेन्द्रिय का प्रशिक्षण आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है।
3. भिन्न–भिन्न विषयों को समन्वित करके पढ़ने का आयोजन तथा बालगृहों पर बहुत अधिक व्यय होता है। इसे अविकसित और विकासशील देशों में सभी बच्चों के लिए लागू कर पाना संभव नहीं दिखता है।
4. इस प्रणाली में कल्पनात्मक खेलों की उपेक्षा की जाती है। खेल खेल के लिए हो तभी वह खेल होगा अन्यथा कार्य हो जायेगा।
5. प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री किलपैट्रिक ने इस पद्धति का मूल्यांकन करते हुए कहा कि इसमें बालक के व्यक्तित्व के विकास पर जोर दिया गया है पर उसके सामाजिक पक्ष के विकास की उपेक्षा की गई है। ऐसा विकास एकांगी विकास होगा।

रॉस के अनुसार मान्टेसरी पर सामाजिक उत्तरदायित्व एवं विनम्र व्यवहार के प्रति लापरवाह होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। वे अपने डाइरेक्ट्रेस को सुझाव देती हैं कि वे उस हद तक हस्तक्षेप करें कि विद्यालय असामाजिक व्यवहार को हतोत्साहित करे और दोषियों को सामुदायिक कार्य में अस्थायी तौर पर भाग लेने से रोक दे। इस तरह से यहाँ अध्यापिका के उत्तरदायित्व को स्वीकार किया गया है। लेकिन यह कार्य उन्हें अपने को पृष्ठभूमि में रखते हुए, विद्यालय के वातावरण द्वारा पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम सब जानते हैं विद्यालय के वातावरण के निर्माण में अध्यापिका की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। अध्यापिका चाहे जितना भी पृष्ठभूमि में रहे उसके प्रभाव एवं निर्देशन में ही विद्यालय की व्यवस्था चलती है। वस्तुतः मान्टेसरी सावधानी से नियोजित वातावरण के द्वारा विद्यार्थियों को प्रभावित

करना चाहती हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

4. मान्टेसरी पद्धति में किन सिद्धान्तों पर बल दिया गया?

.....

.....

.....

5. मान्टेसरी पद्धति में बच्चों को रंगों का ज्ञान कैसे दिया जाता है?

.....

.....

.....

10.10 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने इटली की प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एवं अध्यापिका मारिया माण्टेसरी के शिक्षा–सिद्धान्तों एवं शैक्षिक कार्यों का अध्ययन किया। हमलोगों ने देखा कि एक चिकित्सक के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरांत मारिया माण्टेसरी ने मन्दबुद्धि छात्रों की देख–रेख, शिक्षा एवं प्रशिक्षण हेतु अनेक प्रयोग किए। इन्हें शिक्षित करने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। इस विधि का प्रयोग उन्होंने सामान्य बच्चों को शिक्षित करने में किया और इस कार्य में भी वे सफल रहीं। हमलोगों ने माण्टेसरी द्वारा प्रयुक्त विधि, जिसे 'माण्टेसरी विधि' के नाम से जाना जाता है, को इस इकाई में गहराई से समझने का प्रयास किया। माण्टेसरी पद्धति की विशेषताओं के साथ–साथ इस पद्धति की सीमाओं की भी समझ हम सब ने इस इकाई से प्राप्त की।

10.11 अभ्यास प्रश्न

2. माण्टेसरी पद्धति में व्यावहारिक जीवन के कार्यों का अभ्यास कैसे कराया जाता है?

3. माण्टेसरी के अनुसार डाइरेक्ट्रेस (अध्यापिका) की क्या योग्यता होनी चाहिए?

4. माण्टेसरी पद्धति की सीमाओं का उल्लेख करें।

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. मारिया मान्टेसरी पेशे और प्रशिक्षण से चिकित्सक थी।

2. मारिया मान्टेसरी 'हाउस ऑफ चाइल्डहुड' की अध्यक्ष बनाई गई।

3. 1939 में थियोसोफिकल सोसाइटी के निमन्त्रण पर मारिया मान्टेसरी भारत आई और मान्टेसरी विधि के संदर्भ में अनेक व्याख्यान दिये। मद्रास में मान्टेसरी संघ की शाखा स्थापित की और अहमदाबाद में बड़ी संख्या में अध्यापकों को मान्टेसरी पद्धति का प्रशिक्षण दिया। वे इण्डियन ट्रेनिंग कोचर्स इंस्टीट्यूट, अडियार की निर्देशिका भी रहीं। इस तरह से उन्होंने न केवल यूरोप वरन् भारत में भी मान्टेसरी पद्धति को लोकप्रिय बनाया।

4. माण्टेसरी पद्धति में निम्नलिखित सिद्धान्तों पर बल दिया–

   (i) स्वतंत्रता का सिद्धान्त

   (ii) मनोविज्ञान का सिद्धान्त

   (iii) स्वशिक्षा का सिद्धान्त

   (iv) आत्म अनुशासन का सिद्धान्त

   (v) वैयक्तिक विकास का सिद्धान्त

   (vi) ज्ञानेन्द्रिय प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा

   (vii) कर्मेन्द्रियों द्वारा शिक्षा

   (viii) खेल के माध्यम से शिक्षा

5. माण्टेसरी पद्धति में बच्चों को रंगों का ज्ञान तीन तरह की क्रियाओं के द्वारा दिया जाता है। ये तीन पद हैं–

1. रंग के नाम के साथ संवेदी समझ को जोड़ना। जैसे अध्यापिका दो रंग को दिखाती है लाल एवं नीला। लाल को दिखाते समय कहेगी ''यह लाल रंग है'' नीला दिखाते समय कहेगी ''यह नीला रंग है''।
2. द्वितीय सोपान में बच्चा रंग पहचानने लगेगा। मुझे 'लाल' रंग दो, मुझे 'नीला' रंग दो।
3. वस्तु से जुड़े रंग को याद रखना। अध्यापिका कहेगी 'यह क्या है?' बच्चा कहेगा 'लाल' या 'नीला'।

6.13 सहायक अध्ययन सामग्री

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1947), *ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन*, न्यूयार्कः दि मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002), *वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन*, नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (2000), *दि डोकटराइन्स ऑफ ग्रेट एडुकेटर्स*, नई दिल्लीः कनिष्क पब्लिसर्स।

रस्क, आर0 आर0 (1990), *शिक्षा के दार्शनिक आधार,* जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, (अनुवादक– लक्ष्मीलाल के0 ओड़)।

रॉस, जे0 एस0 (1950), *ग्राउन्डवर्क ऑफ एडुकेशनल थियोरी*, लन्दनः जार्ज जी0 हार्पर।

इकाई 7: हरबर्ट स्पेन्सर

संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 जीवन–वृत्त

7.4 हरबर्ट स्पेन्सर के प्रमुख कार्य एवं सिद्धान्त

7.5 शिक्षा–सिद्धान्त

7.5.1 शिक्षण सूत्र

7.5.2 पाठ्यक्रम

7.5.3 स्पेन्सर के शिक्षा–सिद्धान्त की सीमायें

7.5.4 स्पेन्सर के कार्यों का शिक्षा पर प्रभाव

7.6 सारांश

7.7 अभ्यास प्रश्न

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.9 सहायक अध्ययन सामग्री

7.1 प्रस्तावना

शिक्षा के अत्यधिक पुस्तक केन्द्रित, दुर्बोध एवं कृत्रिम हो जाने के विरोध में यथार्थवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ जिसमें वस्तुओं एवं मानव के प्रत्यक्ष अध्ययन पर जोर दिया गया। इसके लिए आगनात्मक विधि के द्वारा वैज्ञानिक अध्ययन को सर्वश्रेष्ठ विधि माना गया। यह आन्दोलन महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजों के काल, उन्नीसवीं शताब्दी में अपने चरम पर पहुँचा। जीवन की तैयारी के लिए विज्ञान की शिक्षा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया। इस आन्दोलन के एक प्रमुख प्रजनक एवं प्रसारक हरबर्ट स्पेन्सर थे। स्पेन्सर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अत्यधिक जोर दिया। ''कौन सा ज्ञान अधिक उपयोगी है?'' प्रश्न पर विचार करते हुए विषयों को महत्व के आधार पर प्रथम बार क्रमबद्ध करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि में विज्ञान की शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण है। इस तरह से स्पेन्सर ने शिक्षा के सिद्धान्त और उसके व्यावहारिक

स्वरूप को व्यापक रूप से प्रभावित किया।

7.2 उद्देश्य

हरबर्ट स्पेन्सर के शिक्षा सिद्धान्त को स्पष्ट करने हेतु इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं की चर्चा की गई है:–

- स्पेन्सर का जीवन–वृत्त
- स्पेन्सर की प्रमुख रचनायें
- स्पेन्सर का प्रमुख सिद्धान्त
- शिक्षा–सिद्धान्त
- स्पेन्सर के शिक्षा–सिद्धान्त की सीमायें
- स्पेन्सर के कार्यों का प्रभाव।

7.3 जीवन–वृत्त

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म इंग्लैंड के डर्बी नामक स्थान में, 1820 ई0 में हुआ था। माता एवं पिता दोनों ही तरफ से वह विद्रोही एवं सुधारवादी धर्मावलम्बियों एवं प्रगतिशील राजनीतिक परिवारों से जुड़ा था। हरबर्ट स्पेन्सर के पिता, विलियम जार्ज स्पेन्सर में यह विरोध का भाव अधिक था। उन्हें दर्शन, साहित्य, विज्ञान आदि का ज्ञान था। कार्य–कारण सिद्धान्त के प्रति स्पेन्सर के रूझान का कारण पिता का ही प्रभाव था। साथ ही इन सबका संयुक्त परिणाम यह था कि हरबर्ट स्पेन्सर व्यक्तिवाद का कट्टर सर्मथक बन गया।

स्पेन्सर के पिता, चाचा, दादा सभी निजी विद्यालयों के अध्यापक थे लेकिन पुत्र, जो कि अपनी शताब्दी का इंग्लैंड का सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक था, चालीस वर्ष की उम्र तक अशिक्षित था। तेरह वर्ष की अवस्था में हिन्टन में तीन वर्षों तक शिक्षा प्राप्त की। केवल यही तीन वर्ष उसके व्यवस्थित स्कूली जीवन के थे। वह बाद में नहीं कह पाता कि उसने विद्यालय में क्या पढ़ा– कोई इतिहास नहीं, कोई प्राकृतिक विज्ञान नहीं, कोई साहित्य नहीं। वह गर्व के साथ कहते थे ''न तो बचपन में, न युवावस्था में मैंने अंग्रेजी में कोई पाठ पढ़ा, अभी तक वाक्य विन्यास का कोई ज्ञान नहीं है।'' उन्होंने अपने प्रिय विषयों जैसे रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि में भी कोई व्यवस्थित शिक्षा नहीं पाई थी, न ही इनका व्यवस्थित अध्ययन किया था।

जीविकोपार्जन की दृष्टि से उन्होंने सर्वेयर, सुपरवाइजर, रेलवे लाइन तथा ब्रिजों के डिजाइनर के रूप में कार्य किया। इंजीनियर के रूप में उन्होंने कई अविष्कार के प्रयास किए पर असफल रहे। कार्य की व्यावहारिक प्रकृति के कारण स्पेन्सर के विचार भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुए। आजीवन अविवाहित रहने के कारण उनमें मानवीय दृष्टिकोण तथा संवेदना का विकास कम हो सका। वे अपने तर्कों और प्रमाणों पर अड़े रहते थे। पर उनका मस्तिष्क अत्यन्त ही तर्कशील था– वे अपने तथ्यों को आगमन या निगमन पद्धति के माध्यम से शतरंज के खिलाड़ी की कुशलता से रखते थे।

सुपरवाइजर, इंजीनियर आदि के रूप में कार्य करने के उपरांत कुछ समय तक उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र को आजमाया। वे 'दि इकोनोमिस्ट' नामक पत्रिका के सम्पादक भी बने। इसके उपरांत, चालीस वर्ष की अवस्था में वे लेखन के क्षेत्र में उतरे और अगले तैंतीस वर्ष तक जीवन, ज्ञान एवं शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर लिखते रहे। उनकी लेखनी से ज्ञान के अनेक क्षेत्र– तत्त्व मीमांसा, जीव विज्ञान, समाज शास्त्र, नीतिशास्त्र आदि लाभान्वित हुए। इंग्लैंड के जॉन स्टुअर्ट मिल एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के एडवर्ड एल0 यूमैंस ने स्पेन्सर के कार्य को महत्वपूर्ण मानते हुए उन्हें लिखते रहने हेतु प्रोत्साहित किया।

7.4 हरबर्ट स्पेन्सर के प्रमुख कार्य एवं सिद्धान्त

स्पेन्सर ने अपने तथ्यों को सीधे निरीक्षण से प्राप्त किया था न कि अध्ययन से। उसने अपनी पहली किताब 'सोशल स्टेटिक्स' को केवल जोनाथन डायमंड की किताब पढ़कर लिखा। *मनोविज्ञान (दि प्रिन्सिपुल्स ऑफ साइकोलॉजी)* केवल ह्यूम, मेन्सेल तथा रीड को पढ़कर लिखा। *जीवविज्ञान (बायोलॉजी)* केवल कारपेन्टर के *कोम्परेटिव फिजियोलॉजी* पढ़कर लिखा। *सोसियोलॉजी* बिना काम्टे या टेलर को पढ़े लिखा, *एथिक्स* बिना कॉंट और मिल को पढ़े लिखा। निरीक्षण पर आधारित होने के कारण स्पेन्सर के कार्य अधिक मौलिक है।

स्पेन्सर ने 1852 में 'परिकल्पना का विकास' या 'दि डेवलपमेन्ट ऑफ हाइपोथिसिस' की रचना की। परिकल्पना ही वैज्ञानिक अध्ययन का आधार है। 1852 में ही उन्होंने 'दि थ्योरी ऑफ पॉपुलेशन' की रचना की जिसमें उन्होंने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि अस्तित्व के संघर्ष में सर्वाधिक

उपयुक्त ही सुरक्षित रहता है। 1855 में मनोविज्ञान का सिद्धान्त (दि प्रिन्सिपुल्स ऑफ साइकोलॉजी) प्रकाशित हुआ, इसमें उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि 'जितना ही अधिक समूह या जीव विकसित होगा उतना ही कम उसका जन्म दर होगा। 1857 में स्पेन्सर ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'प्रोग्रेस, इट्स लॉज एण्ड कॉज' में कहा कि ''हर जीवित चीज की शुरूआत समरूप से होती है और उनका विभिन्न रूपों में विकास होता है।'' 'फर्स्ट प्रिन्सीपुल' 1862 में प्रकाशित हुई जो ग्रहों, जीवन एवं मानव के उत्थान एवं पतन, विकास तथा विघटन की शास्त्रीय गाथा है। इसके द्वितीय एवं तृतीय खंड का प्रकाशन 1872 में हुआ। इसके पूर्व, 1860 में 'एडुकेशन, इंटलेक्चुअल, मोरल एण्ड फिजीकल' प्रकाशित हुई। इसमें वैज्ञानिक रूझान की मूल प्रवृति प्रारम्भ से ही दिखती है। अध्ययन हेतु विषयों के उपयुक्त चयन पर स्पेन्सर ने इस कार्य में अत्यधिक जोर दिया।

1858 में जब स्पेन्सर अपने निबन्धों के संकलित रूप में प्रकाशन हेतु सुधार कर रहे थे– तो उनके मन में अचानक यह अन्तर्दृष्टि आई कि 'विकास के सिद्धान्त का जीव विज्ञान के साथ सभी विज्ञानों में उपयोग किया जा सकता है। यह केवल विभिन्न जीवों का ही नहीं वरन् ग्रहों, सामाजिक एवं राजनीतिक इतिहास, नैतिक एवं सौन्दर्यबोधक प्रत्ययों की भी व्याख्या कर सकता है।''

दि प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलॉजी (1873) दो खंडों में प्रकाशित हुआ– इनमें सिद्धान्तों की प्रचुरता है पर प्रमाणों की दृष्टि से ये कमजोर है।

दि प्रिन्सिपल्स ऑफ सोसियोलॉजी का पहला भाग *दि स्टडी ऑफ सोसियोलॉजी* 1873 में प्रकाशित हुई। स्पेन्सर इस नए विषय के प्रति उत्साही थे। सामाजिक घटनाओं, विषयों में भी कारण–परिणाम का सिद्धान्त को वे प्रभावी मानते थे। उनका कहना था कि प्रागैतिहासिक मानव के जीवन में धर्म केन्द्रीय स्थान रखता है। औद्योगिक समाज में प्रजातंत्र और शांति की संभावना अधिक होती है। औद्योगिक समाज ही युद्धों से समाज को मुक्त कर सकता है। कुछ राष्ट्र कार्य से जीते हैं (औद्योगिक समाज) और कुछ युद्ध से (परम्परागत समाज) ।

स्पेन्सर ने इतिहास की सर्वथा नवीन व्याख्या की। उनके अनुसार इतिहास मानवों को कार्य करते देखता है न कि युद्धरत राजाओं को, यह व्यक्तित्वों का रिकार्ड नहीं रह जाता है वरन् महान आविष्कारों तथा नए

विचारों का इतिहास बन जाता है।

स्पेन्सर साम्यवादी विचारधारा का कट्टर विरोधी था वह इस कल्पना मात्र से घृणा करता था कि विश्व पर श्रमिकों का राज्य होगा।

दि प्रिन्सिपल्स ऑफ एथिक्स 1893 में प्रकाशित हुई। स्पेन्सर के अनुसार नई नैतिकता जीव विज्ञान पर आधारित होनी चाहिए। स्पेन्सर के अनुसार ''कोई भी नैतिक संहिता जो प्राकृतिक चयन तथा 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' की परीक्षा पर खरा नहीं उतरता, वह प्रारम्भ से ही निरर्थक और बेकार है।''

स्पेन्सर के महत्वपूर्ण विचारों को उनके ही वाक्यों के माध्यम से बेहतर ढ़ंग से समझा जा सकता है। कुछ प्रमुख वाक्य हैं : ''उच्चतम व्यवहार वह है जो जीवन का अधिकतम विस्तार तथा पूर्णता को प्राप्त करता है।''

''नैतिकता कला की ही तरह, अनेकता में एकता प्राप्त करना है; उच्चतम प्रकार का मानव वह है जो अपने में अधिकतम प्रकार की जटिलता तथा जीवन की पूर्णता को जोड़ लेता है।''

''सामान्यतः आनन्द जीव विज्ञानी दृष्टि से उपयोगी होने का द्योतक है एवं कष्ट, जीव विज्ञानी दृष्टि से खतरनाक कार्यों का संकेत करता है।''

न्याय का सूत्र है ''प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करने के लिए, शर्त है कि वह दूसरे की बराबर की स्वतंत्रता को बाधित न करे।''

जैसे–जैसे युद्ध कम होता जाता है व्यक्ति का राज्य के द्वारा नियंत्रण के बहाने कम होते जाते हैं। तथा स्थायी शांति की दशा में राज्य का कार्य केवल समान स्वतंत्रता को आघात पहुँचने से रोकने का कार्य रह जाता है। व्यक्ति की ही तरह राष्ट्रों के मध्य व्यापार स्वतंत्र होना चाहिए। ''व्यक्ति का अधिकार'' से तात्पर्य है– समान आधार पर जीवन, स्वतंत्रता और खुशी पाने का अधिकार।''

स्पेन्सर व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे पर आश्चर्यजनक ढ़ंग से वे महिलाओं को राजनीतिक अधिकार नहीं देने के पक्ष में थे। स्पेन्सर के सिद्धान्तों की अनेक बिन्दुओं पर आलोचना हुई। मशीन के युग में होने के कारण, मशीनीकरण या यंत्रीकरण को उन्होंने अनिवार्य मान लिया।

स्पेन्सर ने एक वैज्ञानिक की भाँति निरीक्षण से प्रारम्भ किया, वैज्ञानिक

की ही तरह परिकल्पना का निर्माण करता था लेकिन एक अवैज्ञानिक की तरह प्रयोग नहीं करता था, न ही निष्पक्ष निरीक्षण करता था, पर अपने पक्ष में आकड़ों को इकट्ठा करता था।

स्पेन्सर ने ऐसे समय में लिखा जब इंग्लैंड के तुलनात्मक अलगाव ने उसे शांति का समर्थक बना दिया और वाणिज्य तथा उद्योग में सर्वोच्चता ने उन्हें स्वतंत्र व्यापार का प्रबल समर्थक बना दिया।

उसने राज्य द्वारा वित्तीय सहायता से शिक्षण संस्थाओं के संचालन का विरोध किया।

वह व्यक्ति के नितान्त निजीपन का प्रबल समर्थक था– राज्य द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम उसको अपनी स्वतंत्रता पर आक्रमण लगता था। *फर्स्ट प्रिन्सिपल* के प्रकाशन के साथ ही स्पेन्सर अपने समय का सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उस काल की वह युगचेतना का द्योतक बन गया। न केवल समस्त यूरोप के विचारों को स्पेन्सर ने प्रभावित किया– वरन् कला एवं साहित्य के यथार्थवादी आन्दोलन को भी प्रभावित किया। 1869 में स्पेन्सर का फर्स्ट प्रिन्सिपुल– आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत हुआ।

1903 में अपनी मृत्यु के समय स्पेन्सर का विचार था कि उसका कार्य व्यर्थ गया। लेकिन यह सत्य नहीं है। उसकी लोकप्रियता में सामयिक गिरावट प्रत्यक्षवाद के विरूद्ध अंग्रेज– हीगलवादी प्रतिक्रिया के कारण आई थी। उदारवाद के विकास ने उन्हें फिर अपनी शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में सर्वप्रमुख बना दिया। विल डुरांट के अनुसार अपने युग का प्रतिनिधित्व दाँते के समय से किसी भी दार्शनिक ने उस पूर्णता से नहीं किया जिस समग्रता से स्पेन्सर ने किया। उनका कार्य आश्चर्यजनक ढ़ंग से ज्ञान के अत्यन्त ही विशाल क्षेत्र को समाहित करता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. हरबर्ट स्पेन्सर की प्रमुख रचनायें कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

2. औद्योगिक समाज के संदर्भ में स्पेन्सर के क्या विचार हैं?

.....

.....

.....

.....

7.5 स्पेन्सर का शिक्षा सिद्धान्त

जैसा कि हमलोग पहले ही देख चुके हैं हरबर्ट स्पेन्सर न तो अधिक अध्ययन करता था और न ही एक वैज्ञानिक की तरह प्रयोग करता था। पर उसके विचार मौलिक थे। उसने यूरोप की शास्त्रीय भाषाओं; लैटिन तथा ग्रीक का विरोध किया। उदार शिक्षा की जगह वह वास्तविक भौतिक वस्तुओं एवं विज्ञान से सम्बन्धित ज्ञान की शिक्षा देना चाहता था। स्पेन्सर का विचार क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक था जिसमें वह लघु नक्षत्र की उत्पत्ति से लकर मानव मस्तिष्क की संरचना एवं क्रिया का अध्ययन करना चाहता था। स्पेन्सर ने शिक्षा को जीव विज्ञान से जोड़ते हुए कहा ''शिक्षा शरीर के अवयवों को उन्नत करती है तथा उन्हें जीवन के योग्य बनाती है।''

स्पेन्सर का शिक्षा सिद्धान्त रूसो के शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त से प्रभावित है। स्पेन्सर रूसो की ही तरह 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा शिक्षा' पर बल देता है। साथ ही वह स्त्री को राजनीतिक अधिकार देने का विरोधी है और स्वस्थ गृहिणी के अतिरिक्त उसे अन्य किसी भूमिका में देखने को तैयार नहीं है।

स्पेन्सर ने विभिन्न विषयों के तुलनात्मक महत्व पर गंभीरता से विचार किया और 'कौन सा ज्ञान उपयोगी है?' के व्यापक प्रश्न को उठाते हुए उसका समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया है। स्पेन्सर के अनुसार *शिक्षा का उद्देश्य है पूर्ण जीवन की तैयारी तथा व्यक्ति का कल्याण।*

''पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना शिक्षा की जिम्मेदारी है तथा किसी शैक्षिक पाठ्यक्रम के मूल्यांकन की एकमात्र विवेक युक्त विधि है कि यह इस

कार्य के सम्पादन में किस हद तक सक्षम है।''

पूर्ण जीवन की तैयारी है (1) ऐसे ज्ञान को प्राप्त करना जो व्यक्ति और सामाजिक जीवन के विकास के अनुकूल हो तथा (2) इस ज्ञान के उपयोग की शक्ति का विकास करना। कौन सा ज्ञान सर्वाधिक योग्य/उपयुक्त है– यह रूसो तथा बेकन दोनों के लिए अहम प्रश्न है। स्पेन्सर इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देते हैं–

(अ) ऐसा ज्ञान जो प्रत्यक्ष रूप से आत्मसंरक्षण हेतु आवश्यक है जैसे– शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

(ब) ऐसा ज्ञान जो अप्रत्यक्ष रूप से आत्मसंरक्षण को बढ़ाता है जैसे भोजन प्राप्ति, वस्त्र एवं आवास से सम्बन्धित कला एवं विज्ञान।

(स) *संतान की देखभाल*– आश्चर्य की बात है कि पशु के संतानोत्पत्ति पर ध्यान दिया जाता है, पुल या बाँध या जूते बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। लेकिन यह मान लिया जाता है कि बिना किसी विशेष ज्ञान या प्रशिक्षण के माता–पिता एवं अध्यापक बच्चे के पालन पोषण में सक्षम हैं। महत्व में चौथा स्थान है–

(द) राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का ज्ञान, ताकि बच्चा भविष्य में कुशल नागरिक एवं पड़ोसी बन सके। सबसे अंत में आता है साहित्य, कला, सौन्दर्यशास्त्र, विदेशी भाषायें, जो जीवन के अवकाश के क्षण के लिए हैं– शिक्षा के अवकाश को भी इनको भरना चाहिए। इस तरह से प्रथम तीन आवश्यकताओं के लिए प्राकृतिक विज्ञान आवश्यक है अतः सामाजिक विज्ञान, जो कि चतुर्थ आवश्यकता को पूरा करता है से अधिक महत्वपूर्ण है। इस तरह से 'उदार' शिक्षा या सांस्कृतिक विषयों, जो कि उस समय विद्यालय का संपूर्ण पाठ्यक्रम था को कम महत्वपूर्ण माना गया। इस तरह से पुनर्जागरण द्वारा भाषा एवं साहित्य पर दिए गए जोर की स्पेन्सर ने उपेक्षा की।

7.5.1 स्पेन्सर के शिक्षण सिद्धान्त

स्पेन्सर अपने शिक्षण सूत्रों का आधार पेस्टोलॉजी के शिक्षण सिद्धान्त को बनाते है। स्पेन्सर के प्रमुख शिक्षण सूत्र हैः

i. **सरल से जटिल की ओर** : स्पेन्सर के अनुसार विषय के चयन

एवं अध्यापन कार्य सरल से जटिल की ओर बढ़ना चाहिए। इससे सीखना सरल, रूचिकर एवं उत्साहवर्द्धक होता है।

ii. **ज्ञात से अज्ञात की ओर** : शिक्षण कार्य को बोधगम्य बनाने हेतु यह आवश्यक है कि शिक्षण कार्य में अध्यापक ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़े। शिक्षण में प्रस्तावना कौशल इसी सूत्र पर आधारित है।

iii. **स्थूल से सूक्ष्म की ओर** : स्पेन्सर ने बच्चों को गिनती सिखाने हेतु वास्तविक वस्तुओं को गिनने का अभ्यास कराने को कहा। साथ ही कागजों को काँट–छाँट कर विभिन्न आकारों की वास्तविक जानकारी देने के उपरांत ही बच्चों को ज्यामिति पढ़ाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त स्पेन्सर ने अन्य सिद्धान्त भी प्रतिपादित किए, जैसे मानवता के विकास के क्रम की शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही स्पेन्सर ने शिक्षण में प्रयोगात्मक तरीकों को अपनाने पर बल दिया। प्रयोग के द्वारा विद्यार्थी वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसका मानना था कि बच्चों को सीखाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। इससे बच्चों की सीखने की रूचि समाप्त हो जाती है। स्पेन्सर ने शिक्षा को रूचिकर तथा मनोरंजक बनाने पर बल दिया। इसका उच्चतम रूप बौद्धिक अभ्यास है।

7.5.2 पाठ्यक्रम

जैसा कि हमलोग देख चुके हैं स्पेन्सर पहला विचारक था जिसे विभिन्न विषयों को उपयोगिता के आधार पर क्रमबद्ध किया। उसने शिक्षा का उद्देश्य मानव को सम्पूर्ण जीवन के लिए तैयार करना बताया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्पेन्सर ने विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक बताया। शिक्षा के द्वारा ही मानव की आवश्यकतायें– बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक की पूर्ति की जा सकती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्पेन्सर ने निम्नलिखित विषयों के अध्ययन को महत्वपूर्ण माना:

(i) **आत्मसंरक्षण या रक्षा हेतु ज्ञान** : शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, स्वच्छता, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि।

(ii) **अप्रत्यक्ष रूप से आत्मसंरक्षण से जुड़े विषय** : भोजन प्राप्ति, वस्तु एवं आवास से सम्बन्धित विज्ञान एवं कला। इनमें गणित,

रसायन शास्त्र, कृषि, मशीन आदि का अध्ययन।

(iii) **शिशु–पालन हेतु** : बाल मनोविज्ञान तथा गृहशास्त्र।

(iv) **राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन हेतु ज्ञान** : इतिहास, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र।

(v) **अवकाश के समय कार्य** : स्पेन्सर ने साहित्य, कला, काव्य आदि को महत्व प्रदान नहीं किया है पर अवकाश के क्षणों के सदुपयोग को ध्यान में रखते हुए इन विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया है।

स्पेन्सर ने नैतिकता की शिक्षा प्राकृतिक परिणाम के आधार पर ही देने का सुझाव दिया। इससे बच्चे में व्यावहारिक एवं स्थायी नैतिकता का विकास हो सकता है।

स्पेन्सर ने शारीरिक शिक्षा को आवश्यक बताया। भोजन में पोषक तत्व जैसे– प्रोटीन, विटामिन किस मात्रा में उपलब्ध हो यह भी स्पेन्सर ने निश्चित किया। पौष्टिक भोजन, बेहतर स्वास्थ्य, व्यायाम, स्वच्छता आदि को स्पेन्सर ने शिक्षा एवं व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक माना।

7.5.3 स्पेन्सर के सिद्धान्त की सीमायें

स्पेन्सर के उपयोगितावादी सिद्धान्त की आलोचना की गई है। इसने शिक्षा के परम्परागत महत्व को समाप्त कर दिया। इस सिद्धान्त का पूर्णतः खंडन हुआ कि 'जो विषय व्यावहारिक महत्व प्राप्त कर लेता है उसका शैक्षिक महत्व समाप्त हो जाता है।' लेकिन जो व्यवहार को प्रभावित करता है, जीवन स्तर को सुधारता है, मानव को व्यक्तिगत ढ़ंग से या सामूहिक रूप में लाभान्वित करता है वही 'उपयोगितावाद' है।

यह कहा जाता है कि स्पेन्सर ने जीवन के श्रेष्ठ–तत्व 'संस्कृति' का बलिदान किया– निम्न चीजों के लिए– व्यावहारिक लाभ हेतु। इसके विपरीत उन्होंने सांस्कृतिक तत्वों को एक नए ढ़ंग से महत्व प्रदान किया। उन्होंने कहा ज्ञान के इन सभी पक्षों/स्तरों पर जोर दिया जाना चाहिए और सबों को इन्हें क्रम से प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए।

स्पेन्सर की एक आलोचना यह भी की जाती है कि शिक्षा जीवन के लिए तैयारी नहीं है वरन् यह जीवन है। स्पेन्सर ने ज्ञान का महत्व जीवन की

तैयारी के लिए माना।

स्पेन्सर के लेख 'इंटलेक्चुअल एडुकेशन' में विधि के बारे में विस्तृत चर्चा करते हैं। इसमें वे पेस्टोलॉजी के सिद्धान्तों का विस्तार करते हैं– शिक्षा का विकास/विस्तार– सरल से जटिल, स्थूल से सूक्ष्म, अनुभव/प्रयोग से बुद्धिसंगत या युक्तिमूल इनमें स्पेन्सर कुछ भी जोड़ता नहीं है। रूसो के सिद्धान्त सभी नैतिक प्रशिक्षण का मूल बच्चे अपने कार्यों के प्राकृतिक परिणाम के अनुभव से नैतिक शिक्षा प्राप्त करे– को स्पेन्सर ने स्वीकार किया।

7.5.4 स्पेन्सर के कार्यों का शिक्षा पर प्रभाव

स्पेन्सर के कार्यों का यूरोप और अमेरिका के विभिन्न देशों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। विज्ञान की शिक्षा को इन देशों के पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। फ्रांस में पाठ्यक्रम एवं पाठ्य विषयों में स्पेन्सर के सिद्धान्तों के अनुरूप परिवर्तन किया गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका में स्पेन्सर के विचारों को और अधिक उत्साह से अपनाया गया। रूढ़िवादिता का विरोध, व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर, स्वालम्बन आदि ने अमेरिका के बुद्धिजीवियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। विषयों का चयन उपयोगिता के आधार पर होने की बात का अमेरिका में व्यापक स्वागत किया गया। इनमें से कई सिद्धान्त प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी ने आनाये। जॉन डीवी का कार्य स्पेन्सर के कार्यों से भी अधिक आगे चला गया अतः स्पेन्सर का अमेरिका पर उतना अधिक प्रभाव नहीं दिखता है जितना वास्तव में पड़ा था।

स्पेन्सर के विचारों के अनुरूप इंग्लैंड के विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। 1875 में रॉयल कमीशन ने सुझाव दिया कि विद्यालयों में कम से कम आधा घण्टा तक विज्ञान का शिक्षण होना चाहिए। औद्योगिक समाज ने स्पेन्सर के विचारों को गर्मजोशी से स्वीकार किया।

विज्ञान की शिक्षा पर बल, पाठ्यक्रम को जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना तथा शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करना– ये ऐसी उपलब्धियां हैं जिसने शिक्षा के क्षेत्र में हरबर्ट स्पेन्सर को एक महत्वपूर्ण विचारक के रूप में स्थापित कर दिया है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

.....

.....

.....

.....

4. स्पेन्सर ने किन शिक्षण सूत्रों पर जोर दिया?

.....

.....

.....

.....

7.6 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने हरबर्ट स्पेन्सर के जीवन की उन प्रमुख घटनाओं का अध्ययन किया जिन्होंने उसके विचारों को निश्चित दिशा प्रदान की। हमलोगों ने यह देखा कि स्पेन्सर एक महान लेखक एवं विचारक थे और उनका कार्यक्षेत्र अत्यधिक व्यापक था। वे शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन की तैयारी मानते थे। हमलोगों ने पाया कि वे उसी शिक्षा को उचित मानते थे जो जीवन के लिए उपयोगी हो। हरबर्ट स्पेन्सर ने विभिन्न विषयों को उपयोगिता के आधार पर क्रमबद्ध कर विज्ञान की शिक्षा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। इस प्रकार हम पाते हैं कि विज्ञान पर आधारित आधुनिक शिक्षा पर हरबर्ट स्पेन्सर का व्यापक प्रभाव पड़ा।

7.7 अभ्यास प्रश्न

1. हरबर्ट स्पेन्सर के प्रमुख सामाजिक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
2. ''स्पेन्सर के शिक्षा सिद्धान्तों ने आधुनिक शिक्षा को व्यापक रूप से

प्रभावित किया।'' विवेचना कीजिए।

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) हरबर्ट स्पेन्सर की प्रमुख रचनायें हैं:

परिकल्पना का विकास, दि थ्योरी ऑफ पापुलेशन, दि प्रिन्सिपुल्स ऑफ साइकोलॉजी, प्रोग्रेस इट्स लॉज एण्ड कॉज, एडुकेशन, इंटेलेक्चुअल, मोरल एण्ड फिजीकल, दि स्टडी ऑफ सोसियोलॉजी, दि प्रिन्सिपुल्स ऑफ एथिक्स आदि।

(2) हरबर्ट स्पेन्सर औद्योगिक समाज के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि औद्योगिक समाज में प्रजातंत्र और शांति की संभावना अधिक होती है। परम्परागत समाज युद्ध से जीता है जबकि औद्योगिक समाज उद्यम से जीता है।

(3) हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य है 'पूर्ण जीवन की तैयारी'।

(4) स्पेन्सर ने निम्नलिखित शिक्षण–सूत्रों पर जोर दिया

(अ) सरल से जटिल की ओर।

(ब) ज्ञात से अज्ञात की ओर।

(स) स्थूल से सूक्ष्म की ओर।

7.9 सहायक अध्ययन सामग्री

चौबे, सरयू प्रसाद (1957), *सम ग्रेट वेस्टर्न एडुकेटर्स,* आगराः भारत पब्लिकेशन्स।

डूरांट विल (1960), *दि स्टोरी ऑफ फिलॉसफी,* न्यूयार्कः पाकेट बुक्स।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

मुनरो, पॉल (1960), *ए ब्रीफ कोर्स इन दि हिस्ट्री ऑफ एडुकेशन,* न्यूयार्कः दि मैकमिलन।

शर्मा, जी0 आर0 (2002*), वेस्टर्न फिलॉसफी ऑफ एडुकेशन,* नई दिल्लीः अटलाण्टिक पब्लिसर्स।

इकाई 8 : टी0 पी0 नन

संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 जीवन–वृत्त

8.4 जीवन–दर्शन

8.5 शिक्षा–दर्शन

8.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

8.5.2 पाठ्यक्रम

8.5.3 शिक्षण–विधि

8.5.4 अनुशासन एवं दण्ड

8.5.5 अध्यापक

8.6 विद्यालय तथा समाज

8.7 खेल तथा अनुकरण

8.8 सारांश

8.9 अभ्यास प्रश्न

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.11 सहायक अध्ययन सामग्री

8.1 प्रस्तावना

सर टी0 पी0 नन बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली शिक्षाशास्त्रियों में से एक हैं। उनके शिक्षा सिद्धान्तों ने न केवल इंग्लैंड की शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित किया वरन् प्रजातांत्रिक व्यवस्था वाले सभी राष्ट्रों को स्वतंत्रता के लिए शिक्षा प्रक्रिया के संचालन हेतु एक आधार प्रदान किया। नन व्यक्ति की स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वैयक्तिकता या व्यक्तित्व का विकास करना मानते हैं। पर नन का व्यक्तिवाद सामजिक है। वह मानव में सामाजिकता का विकास कर उसे उच्चतर आदर्शों के लिए प्रेरित करना चाहते हैं। वस्तुतः नन का मानव

प्राणीशास्त्र की सीमा से ऊपर उठकर दर्शन का विषय बन जाता है। इसीलिए नन के विचारों का पूरे विश्व के शिक्षाशास्त्रियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

8.2 उद्देश्य

सर टी0 पी0 नन के शैक्षिक विचारों को समझने हेतु इस इकाई में हमलोग निम्नलिखित पक्षों का अध्ययन करेंगे–

- सर टी0 पी0 नन का जीवन–वृत्त
- जीवन–दर्शन
- शिक्षा–दर्शन
- विद्यालय तथा समाज
- खेल एवं अनुकरण

इन बिन्दुओं के अध्ययन से हमें टी0 पी0 नन के शिक्षा–सिद्धान्त को गहराई से समझने में सहायता मिलेगी।

8.3 जीवन–वृत्त

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री सर टी0 पी0 नन का जन्म 1870 में, इंग्लैंड में हुआ था। नन अध्यापकों के परिवार से जुड़े थे। उनके पिता और पितामह ने ब्रिस्टल नामक स्थान पर एक विद्यालय की स्थापना की थी। बाद में इसे वेस्टन–सुपर–मेयर नामक स्थान में स्थानान्तरित कर दिया गया। सोलह वर्ष की आयु से ही टी0 पी0 नन अपने परिवार के इस विद्यालय में अध्यापन में रूचि लेने लगे। 1790 में उनके पिता की मृत्यु हो गयी। इस तरह से बीस वर्ष की अवस्था में ही विद्यालय की संपूर्ण जिम्मेदारी टी0 पी0 नन के कन्धों पर आ गई। पर अपने को कम वय और अल्प अनुभव का मानकर उन्होंने प्रधानाचार्य का पद स्वीकार नहीं किया और लन्दन डे ट्रेनिंग कॉलेज में अध्यापन करने लगे। 1905 में वे इस कॉलेज के उपप्राचार्य बने तथा 1910 में उनकी नियुक्ति लन्दन विश्वविद्यालय में शिक्षाशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में हुई। लन्दन के विश्वविख्यात संस्थान 'इंस्टीट्यूट ऑफ एडुकेशन' के निदेशक पद को उन्होंने 1913 से 1936 तक सुशोभित किया। वे इस सुप्रसिद्ध संस्थान के संस्थापक निदेशक थे। चौहत्तर वर्ष की अवस्था में, 1944 में सर टी0 पी0 नन का देहान्त हो गया।

सर टी0 पी0 नन की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'एडुकेशनः इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स' है। इसमें उन्होंने समाज एवं राज्य की तुलना में व्यक्ति के महत्व को स्थापित किया। वे व्यक्तिवाद (इण्डिविडुवेलिटि) को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं पर उनका व्यक्तिवाद उच्छृंखलता या अनियन्त्रित आचरण की अनुमति प्रदान नहीं करता है।

8.4 नन का जीवन–दर्शन

हीगल के कार्य से राज्य की सर्वोच्चता को सैद्धान्तिक आधार मिला। हीगल के आदर्शवाद से प्रशा के मस्तिष्क में राज्य के सर्वोच्च महत्व का भाव आया। राज्य किसी अन्य नैतिक शक्ति को अपने ऊपर नहीं मान सकता, यह खतरनाक विश्वास स्थापित हुआ। इसका सीधा अर्थ था कि प्राथमिक विद्यालय से विश्वविद्यालय जनसामान्य की आत्मा में इन सिद्धान्तों को भरने के साधन के रूप में कार्य करे।

ब्रिटेन के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री सर टी0 पी0 नन ने अपनी पुस्तक 'एडुकेशनः इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स' में हीगल के विचारों का खण्डन करते हुए व्यक्तिवाद एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अत्यधिक जोर दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक में दिखलाया कि हॉब्स के समय से ही इंग्लैंड में व्यक्तिवादी दर्शन की प्रधानता रही है। यद्यपि *लेवियाथा* के लेखक के अतिरंजित व्यक्तिवाद को नन नहीं मानते पर उन्होंने समाज की जगह व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर दिया है। टी0 पी0 नन ने स्पष्ट शब्दों में कहा ''व्यक्ति विशेष (महिला एवं पुरूष) की स्वतंत्र गतिविधियों से ही मानव जगत में अच्छाई का प्रवेश होता है तथा शैक्षिक क्रियाओं को इस तथ्य को ध्यान में रखकर संचालित किया जाना चाहिए।'' नन एक ऐसा सिद्धान्त चाहते हैं जो व्यक्ति के महत्व को पुनः स्थापित करे तथा उसके अधिकार को सुरक्षित रखे।

नन ने स्पष्ट शब्दों में कहा 'इंडिविडुवेलिटि इज आइडियल ऑफ लाइफ' यानि 'वैयक्तिकता जीवन का आदर्श है'। आचार्य रामशकल पाण्डेय इस वाक्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ''जीवन अपने में स्वतंत्र है तथा एकता की ओर सतत् प्रयत्नशील है।'' जीवन की यह स्वतंत्रता महत्वपूर्ण है क्योंकि मानव अपने इसी स्वतंत्रता के कारण इच्छानुसार कार्य कर पाता है। नन के अनुसार मनुष्य पर प्रकृति के नियम लागू होते हैं। मानव समस्त वैज्ञानिक खोजों से परे है। वह अभिव्यक्ति के लिए लगातार प्रयासरत रहता है। शिक्षा का कार्य है व्यक्तित्व की पूर्णता में सहायता प्रदान करना।

व्यक्तित्व वस्तुतः शरीर और मनस् दोनों की सम्मिलित अभिव्यक्ति है। इस प्रकार नन वाटसन जैसे व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों की सीमा से परे, दर्शन की ओर बढ़ जाते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. सर टी0 पी0 नन की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक का क्या नाम है?

.....

.....

.....

.....

2. सर टी0 पी0 नन ने जीवन का आदर्श क्या माना?

.....

.....

.....

.....

8.5 नन का शिक्षा–सिद्धान्त

नन के शिक्षा–सिद्धान्त के केन्द्र में व्यक्ति एवं उसका व्यक्तित्व है। नन ने सारी शिक्षा प्रक्रिया के वैयक्तिकता के विकास के लिए संचालित करने पर जोर दिया। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किया।

8.5.1 शिक्षा के उद्देश्य

सर टी0 पर्सी नन शिक्षा के व्यक्तिगत उद्देश्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका यह मानना था कि शिक्षा सबों के लिए ऐसी परिस्थिति का निर्माण करे जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता का संपूर्ण विकास हो सके। वह उसे विविधता पूर्ण मानव जीवन में उन मौलिक योगदानों को पूर्ण

एवं सत्य रूप से करने दे जो उसकी अपनी प्रकृति संभव बनाती है। योगदान का स्वरूप व्यक्ति विशेष पर छोड़ देना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता के विकास के अतिरिक्त शिक्षा का कोई सार्वभौमिक उद्देश्य नहीं हो सकता है। वास्तव में हर व्यक्ति के लिए शिक्षा का भिन्न उद्देश्य हो सकता है। जितने व्यक्ति उतने आदर्श हो सकते हैं। अर्थात् व्यक्तित्व के चरम विकास को संभव बनाना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने में परिवार तथा विद्यालय दोनों ही अपनी–अपनी भूमिकायें निभाता है पर बच्चा जैसे–जैसे बड़ा होता जाता है उनका दायित्व घटता जाता है। ये दोनों सामाजिक संस्थायें नैतिक रूप से स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास करती हैं। जिस तरह से उपलब्ध सामग्री को कलाकार बेहतर से बेहतर मूर्ति का रूप देना चाहता है उसी तरह से माता–पिता एवं अभिभावक को बच्चे के व्यक्तित्व को सुन्दर रूप से गढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

नन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलना चाहिए। व्यक्तित्व के आदर्श को समाज में रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है।

नन ने बच्चे की योग्यता एवं रूचि के आधार पर ही शिक्षा देने की वकालत की। जैसा कि हमलोग पहले ही देख चुके हैं कि 'संसार में कोई भी कल्याणकारी वस्तु किसी व्यक्तिगत स्त्री–पुरूष की स्वतंत्र गतिविधियों के बिना नहीं आ सकती है और शिक्षा की व्यवस्था को इसी सत्य के अनुरूप होनी चाहिए।' अतः व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता के चरम विकास को नन ने शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य माना।

शिक्षा के उद्देश्य के निर्धारण में टी0 पी0 नन प्राणिशास्त्र से भी सहायता लेता है। जीवित प्राणियों के संसार में प्रत्येक जीव, प्रजाति अपने आकार एवं कार्य में पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। अतः नन शिक्षा का उद्देश्य 'प्रकृति के अनुरूप' निर्धारित करने पर जोर देता है। इसके कारण नन को आलोचकों ने उस पर अत्यधिक प्रकृतिवादी होने का आरोप लगाया। लेकिन इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने जीव विज्ञान का सहारा लिया पर उनके सिद्धान्त का प्रथम आधार दर्शन है। नन द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिवाद या व्यक्तित्व वस्तुतः उस आदर्श, उस लक्ष्य की ओर इंगित करता है जो अध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर है। प्रत्येक व्यक्ति को इस

लक्ष्य को प्राप्त करने का लगातार प्रयत्न करना चाहिए। नन समाजिकता की पूर्णतः उपेक्षा नहीं करता है। उसका कहना है कि आदमी की प्रकृति उतना ही सामाजिक है जितना कि व्यक्तिवादी।

8.5.2 पाठ्यक्रम

नन पाठ्यक्रम में यद्यपि उपयोगितावादी सिद्धान्त को सही मानते हैं वे बौद्धिक अनुशासन के विचार का विकास करते हैं। पाठ्यक्रम के सिद्धान्त के संदर्भ में उनका कहना है ''एक राष्ट्र के विद्यालय... इसके जीवन का एक अंग है, जिसका विशिष्ट कार्य है उसकी आध्यात्मिक शक्ति को मजबूत करना, उसकी ऐतिहासिक तारतम्यता को बनाये रखना, पिछली सफलताओं को स्थायी बनाना और इसके भविष्य को सुरक्षित करना। अपने विद्यालयों के द्वारा एक राष्ट्र को अपने उन स्रोतों के बारे में चैतन्य होना चाहिए जिससे उस राष्ट्र के जीवन के सर्वोत्तम आन्दोलनों ने हमेशा प्रेरणा ग्रहण की है, अपने सर्वश्रेष्ठ पुत्रों के सपनों में सहभागिता करनी चाहिए, अपने आदर्शों में सुधार करना चाहिए, अपने संवेगों को पुनः जानना चाहिए और पुनः प्रेषित करना चाहिए।''

विद्यालय को उन मानवीय क्रियाओं को प्रतिबिम्बित करना चाहिए जो विस्तृत विश्व के लिए सर्वाधिक महान और स्थायी महत्व का है, जो मानव चेतना की भव्य अभिव्यक्ति हो। इन उद्देश्यों को पूरा करने हेतु नन ने पाठ्यक्रम का निर्धारण किया।

मानव–क्रियाओं को स्वभावतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम समूह में वे क्रियायें आती है जो परिस्थितियों को बेहतर बनाती हैं और व्यक्ति एवं समाज के जीवन स्तर को ऊँचा उठाती हैं, जैसे स्वास्थ्य शिक्षा, शारीरिक सौष्ठव, व्यवहार, सामाजिक संगठन, नैतिकता, धर्म आदि। द्वितीय भाग में वे रचनात्मक कार्य आते हैं जो संस्कृति की ठोस शाखायें हैं। प्रथम समूह की क्रियाओं को उसकी प्रकृति के आधार पर विषय नहीं माना जा सकता यद्यपि उन्हें विद्यार्थियों के अध्ययन में समाहित करना चाहिए तथा कुछ हद तक वास्तविक शिक्षण का भाग बनाना चाहिए।'' उदाहरणार्थ सामाजिक संगठन और धर्म की शिक्षा सम्पूर्ण विद्यालय जीवन में व्याप्त होनी चाहिए तथा धार्मिक भाव की कभी भी कमी नहीं होनी चाहिए।

द्वितीय समूह के क्रियाओं के संदर्भ में नन कहते हैं : ''प्रत्येक पूर्ण शिक्षा योजना में निम्नलिखित विषय होने चाहिए :

i. साहित्य, जिसमें मातृभूमि का सर्वश्रेष्ठ साहित्य अवश्य हो;

ii. कला– विशेष रूप से संगीत जो कि सर्वव्यापी कला है;

iii. हस्तउद्योग, जिसमें जोर या तो सौन्दर्यात्मक अनुभूति पर हो, जैसे बुनाई, सिलाई, नक्काशी, अक्षरांकण या इसके निर्माणात्मक पक्ष पर, जैसे काष्ठकला या सूईकारी;

iv. विज्ञान, जिसमें गणित के साथ–साथ अंक, स्थल तथा समय का अध्ययन समाहित हो। इतिहास और भूगोल को दो स्वरूप में होना चाहिए। पहला, इतिहास साहित्य का हिस्सा है, तथा भूगोल विज्ञान का। दूसरे रूप में, पाठ्यक्रम में इन्हें केन्द्रीय स्थान में होना चाहिए, जिसमें मानव की गतिविधि एवं प्रवृत्तियों को प्रस्तुत किया गया हो एवं उनकी व्याख्या की गई हो। इतिहास वर्तमान के ठोस मूल्य को भूतकाल के आधार पर बताता है तथा भूगोल प्रकृति पर मनुष्य को निर्भरता का अहसास कराता है तथा एक दूसरे पर शाश्वत निर्भरता का संदेश देता है।

8.5.3 शिक्षण–विधि

नन के अनुसार स्कूल का तात्पर्य ऐसा स्थल नहीं है जहाँ कुछ वस्तुओं का मात्र ज्ञान दिया जाय वरन् जहाँ नई पीढ़ी को कुछ गतिविधियों या कार्यों में अनुशासित किया जाता है। जैसे गणित को कुछ विशेष सूत्रों, युक्तियों या बाजीगरी तक ही सीमित न रखकर इसे सोचने और करने की विधि के रूप में उपयोग किया जाय। विद्यार्थियों को गणित के परिणामों का ज्ञान देने की जगह उसकी विधि से गुजरने का अनुभव देना चाहिए। जो गणित के संदर्भ में सही है वह सभी विषयों के संदर्भ में सही है। विषयों के माध्यम से विद्यार्थियों की रचनात्मक क्षमता को धनात्मक विकास मिलता है। विद्यार्थियों को सभी विषयों में कार्य करने वाला सृजनकर्त्ता के रूप में कार्य करना चाहिए। उसे अन्वेषण एवं रचनात्मक कार्य का आनन्द मिलना चाहिए।

डीवी की भाँति नन विद्यालय में कार्यों पर जोर देते हैं। डीवी के अनुसार कार्य के चुनाव में मुख्य आधार बच्चा होना चाहिए जबकि नन के अनुसार सभ्यता का विस्तृत दृष्टिकोण कार्य के चुनाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। रॉस के अनुसार डीवी को इस संदर्भ में प्रकृतिवादी माना जा सकता है क्योंकि वह बच्चे की दृष्टि से प्रारम्भ करता है जबकि नन को

आदर्शवादी क्योंकि वह मानवजाति के सम्पूर्ण ज्ञान एवं सफलताओं से प्रारम्भ करता है।

लेकिन दोनों ही शिक्षा में निष्क्रियता, औपचारिकता एवं शब्दों की संस्कृति के विरोधी हैं।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा विद्यालयी जीवन से परे की भी तैयारी है। नन का आदर्शवादी दृष्टिकोण एक उच्चतर लक्ष्य प्रदान करता है।

नन शिक्षा प्रक्रिया में तीन कालखंड या सोपान देखते हैं– उत्सुकता या आश्चर्य, उपयोगिता तथा व्यवस्था या सिद्धान्त। शिक्षा में इन तीनों सोपानों से गुजरना आवश्यक है। व्यवस्था को रॉस सामान्यीकरण मानते हैं। जिज्ञासा बालमन की स्वभाविक विशेषता है। वह कौतूहल या आश्चर्य के साथ ज्ञान प्राप्ति का प्रयास करता है। भविष्य में वह उन्हीं विषयों का अध्ययन करना चाहता है जो उसे जीवन में उपयोगी या लाभदायक लगता है। आगे उन्हीं विषयों के सिद्धान्तों या तंत्रों से काम करता है। नन के सिद्धान्त के अनुसार किशोरावस्था में उपयोगी विषयों को क्रियाओं के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। अमूर्त्त शिक्षा उपयोगी न होने के कारण बेकार है। किशोरावस्था शिक्षा की दृष्टि से जीवन का महत्वपूर्ण काल–खंड है।

8.5.4 अनुशासन एवं दण्ड

टी0 पी0 नन व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे। वे इस स्वतंत्रता की नींव बाल्यकाल से ही रखना चाहते थे। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य नकारात्मक नहीं है। शिक्षा का कार्य सक्रियता के साथ विद्यार्थी को स्वतंत्रता के लिए प्रोत्साहित करना है। विद्यालय में नियम इसलिए होते हैं कि शैक्षिक प्रक्रिया का सही ढ़ंग से संचालन हो सके। नन की अनुशासन की संकल्पना आन्तरिक है, बाह्य नहीं। यह आवेगों तथा शक्तियों के नियन्त्रण द्वारा आती है। अनुशासन से कार्यकुशलता में अत्यधिक वृद्धि होती है। अनुशासन का सर्वश्रेष्ठ रूप है आत्म–अनुशासन जो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास तथा आत्माभिव्यक्ति का परिचायक है।

नन शारीरिक दण्ड के पक्षधर नहीं हैं। पर वे यह भी मानते हैं कि अगर अच्छे उद्देश्य के साथ दण्ड दिया जाय तो उसे स्वीकार किया जा सकता है। इससे गलत प्रृवत्तियों को सही दिशा में ले जाने में सहायता मिल सकती

है। स्कूल की व्यवस्था बनाए रखने हेतु दंड की व्यवस्था हो सकती है पर इसके लिए सबों की स्वीकृति होनी चाहिए। नन के अनुसार ''दण्ड असन्तोषजनक भूतकाल का नहीं वरन् आशापूर्ण भविष्य का परिचायक है।''

विद्यालय एक आदर्श समाज है जहाँ सहयोग तथा खेल आत्म अनुशासन की भावना का विकास करते हैं। नन ने शिक्षा में कार्यों पर अत्यधिक जोर दिया। बिना अनुशासन के कार्य का सही सम्पादन संभव नहीं है। शिक्षा का बँधा पाठ्यक्रम तथा विद्यालय का कठोर अनुशासन वस्तुतः अनुशासनहीनता को जन्म देता है। वस्तुतः अधिक स्वतंत्रता के द्वारा ही विद्यार्थियों में आत्मप्रेरित अनुशासन का भाव विकसित हो सकता है।

अध्यापक के उच्चतर विवेक के प्रति छात्र समर्पण करता है। लेकिन अध्यापक उस दिन के लिए काम करता है जब वे उसके सहपाठी बन जाते हैं और वे उसके द्वारा स्वीकृत मानव जाति के सर्वोत्तम एवं विस्तृत अनुभव के द्वारा स्वीकृत आदर्शों के सहभागी बन जाते हैं। जब इस तरह के आदर्श व्यवहार में आ जाते हैं, प्रभाव के द्वारा अनुशासन सही आत्म–अनुशासन बन जाता है तथा चरित्र सुगठित हो जाता है।

8.5.5 अध्यापक

टी0 पी0 नन ने पुरानी अधिनायकवादी व्यवस्था की जगह प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर जोर दिया है। उनके अनुसार अध्यापक अपने लघु लोकतांत्रिक राज्य का स्थायी अध्यक्ष है जो नागरिक के कर्त्तव्यों का पालन अधिक निष्ठा और लगन से करेगा क्योंकि उसका स्थान उसे काफी शक्ति प्रदान करता है।

नन शिक्षा में सुझावों का उपयोग स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि अध्यापक ''अपने उच्च ज्ञान एवं अनुभव को सामान्य निधि में डाल दे जिससे उसके लघु समुदाय के विकसित होता मस्तिष्क अपनी आवश्यकतानुसार चीजों को ग्रहण कर सके।'' अर्थात् विद्यार्थी को अपने व्यक्तित्व के विकास में अध्यापक से सहायता मिलनी चाहिए। अध्यापक का यह कार्य नहीं है कि वे बच्चे पर विभिन्न तरह के प्रतिबन्धों को लगाकर उसके विकास को अवरोधित करे। नन की दृष्टि में अध्यापक विद्यालयी रूपी प्रजातांत्रिक समाज का नेतृत्व करता है अतः उसे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए बच्चे का विकास करना है।

नन के अनुसार शिक्षक को बाल–मनोविज्ञान का ज्ञान होना चाहिए

तथा विकास की प्रक्रिया से अवगत होना चाहिए ताकि वह इस के अनुरूप शैक्षिक कार्यक्रमों को बना सके। बालक को पूर्णतः प्रवृत्तियों के आधार पर छोड़ना अनुचित है। उसे समाज की बदलती आकांक्षाओं को भी ध्यान में रखना होता है। शिक्षक विद्यार्थी पर अपनी इच्छाओं को नहीं थोप सकता। विद्यार्थी की रूचि, आवश्यकता तथा योग्यता के आधार पर ही उसे स्वतंत्र वातावरण में समाजोन्मुखी शिक्षा दी जानी चाहिए। नन की दृष्टि में यही प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है और ऐसी शिक्षा देकर अध्यापक अपने कर्तव्यों का सही ढ़ंग से निर्वहन कर सकता है।

8.6 विद्यालय तथा समाज

नन विद्यालय को एक विशिष्ट समाज मानते हैं पर उसे समाज से बिल्कुल अलग नहीं मानते। विद्यालय रूपी समाज में दमन की जगह स्वतंत्रता का वातावरण होना चाहिए। विद्यार्थियों और अध्यापकों को स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुए रूढ़ियों की जगह सार्वभौमिक तथा विश्वव्यापी आदर्शों को प्राप्त करने का लक्ष्य रखना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, नन का मानना है कि ''विद्यालय समाज का अंग है जिसका विशिष्ट कार्य समाज की अध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ करना, उसके ऐतिहासिक क्रम को बनाए रखना, विगत में प्राप्त उपलब्धियों को सुरक्षित रखना तथा उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाना है।'' नागरिकता की शिक्षा देना विद्यालय का महत्वपूर्ण कार्य है। इससे व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के साथ–साथ सामाजिक दायित्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वहन करता है। साथ ही विद्यालय का यह भी दायित्व है कि वह बच्चे को कार्य करने की स्वतंत्रता दे।

मानव सदैव नवीन बातो को ही पसन्द नहीं करता है। वह अपनी जाति और समाज की पुरानी बातों को दुहराया करता है। इस दुहराने की प्रवृत्ति का उपयोग शिक्षक कर सकता है। कुछ विषयों में याद करना आवश्यक सा हो जाता है पर हर ज्ञान या विषय के संदर्भ में यह उचित नहीं कहा जा सकता है। दुहराने की प्रवृत्ति समाज में भी है। प्रतिवर्ष उत्सव का मनाया जाना संस्कृति की समृद्धि का परिचायक है।

8.7 खेल तथा अनुकरण

टी0 पी0 नन बालक के लिए खेल को एक महत्वपूर्ण क्रिया मानते हैं। बाल्यावस्था खेल का विशेष काल है तथा खेल आत्म प्रदर्शन का रूप है। खेल बिना किसी बाह्य दबाव के खेला जाता है तथा इसकी क्रिया स्वयं

आनन्ददायक होती है जबकि कार्य में बाहरी दबाव होता है और सफलतापूर्वक कार्य की समाप्ति पर ही उससे आनन्द प्राप्त होता है। खेल मे बालक थोड़े समय के लिए यथार्थ की अवहेलना कर कल्पनाजगत में कार्य करता है। स्कूल की नीरस शिक्षण व्यवस्था में बालमन की कल्पना शक्ति का उपयोग किया जाना चाहिए। खेल में जिस तरह बच्चे की रूचि होती है उसी तरह की रूचि कार्य में भी हो सकती है– अगर कार्य को भी खेल के रूप में ही लिया जाय। इस प्रकार शिक्षा में खेल के उपयोग का नन जोरदार समर्थन करते हैं।

टी0 पी0 नन के अनुसार बालक में अनुकरण की स्वभाविक प्रवृत्ति होती है तथा इससे मौलिकता भी प्रभावित नहीं होती है। अतः अध्यापक का कार्य एवं व्यवहार इस तरह का होना चाहिए कि बच्चे उनका अनुकरण कर श्रेष्ठ मूल्यों एवं स्वस्थ जीवन पद्धति को अपना सकें। इससे बच्चे में अनुशासन की भावना का विकास हो सकता है तथा अच्छी आदतों को डाला जा सकता है। साथ ही स्कूल रूपी प्रजातांत्रिक समाज का वरिष्ठतम नागरिक होने के नाते अध्यापक विद्यार्थियों को सही सलाह दे सकता है। इसका प्रभाव उनके कार्यों पर पड़ता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. टी0 पी0 नन के अनुसार शिक्षा का क्या उद्देश्य है?

.....

.....

4. नन ने विद्यालय के पाठ्यक्रम में किन विषयों को स्थान दिया?

.....

.....

5. दंड के सम्बन्ध में नन के क्या विचार हैं?

.....

.....

8.8 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने महान शिक्षाशास्त्री सर टी0 पी0 नन के शिक्षा–दर्शन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया। हमलोगों ने उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को देखते हुए उनके जीवन–दर्शन को समझा। हमलोगों ने पाया कि राज्य के प्रभुत्व से व्यक्ति को स्वतंत्र करने में टी0 पी0 नन की प्रमुख भूमिका रही है। उनका शिक्षा–सिद्धान्त भी व्यक्ति की स्वतंत्रता को विकास और अच्छाई का मूल मानता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु टी0 पी0 नन द्वारा प्रस्तावित पाठ्यक्रमों एवं शिक्षण–विधि को भी समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही शिक्षा में खेल एवं अनुकरण के भी महत्व को समझने का प्रयास किया गया।

8.9 अभ्यास प्रश्न

1. सर टी0 पी0 नन के जीवन–दर्शन का उनके शिक्षा–दर्शन पर क्या प्रभाव पड़ा? व्याख्या कीजिए।
2. सर टी0 पी0 नन के द्वारा प्रस्तावित शिक्षण–विधि का वर्णन करें।
3. सर टी0 पी0 नन के अनुसार अध्यापक के क्या कर्तव्य हैं?

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. सर टी0 पी0 नन की सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक का नाम है *एडुकेशनः इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपल्स*।
2. सर टी0 पी0 नन ने 'वैयक्तिकता को जीवन का आदर्श' माना। (इंडिविडुवेलिटी इज दि आइडियल ऑफ दि लाईफ)।
3. सर टी0 पी0 नन के अनुसार व्यक्तित्व तथा वैयक्तिकता के विकास के अतिरिक्त शिक्षा का कोई सार्वभौमिक उद्देश्य नहीं हो सकता है। वास्तव में हर व्यक्ति के लिए शिक्षा का अलग उद्देश्य हो सकता है।
4. नन ने विद्यालय के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों को स्थान दिया
   i). स्वास्थ्य शिक्षा
   ii). साहित्य
   iii) कला, विशेषतः संगीत
   iv) हस्त उद्योग

v) विज्ञान

vi) गणित

vii) इतिहास

viii) भूगोल

ix) नैतिकता एवं धर्म।

5. नन शारीरिक दण्ड के पक्षधर नहीं है। पर वे यह भी मानते हैं कि अगर अच्छे उद्देश्य के साथ दण्ड दिया जाय तो उसे स्वीकार किया जा सकता है। इससे गलत प्रृवत्तियों को सही दिशा में ले जाने में सहायता मिल सकती है। स्कूल की व्यवस्था बनाए रखने हेतु दंड की व्यवस्था हो सकती है पर इसके लिए सबों की स्वीकृति होनी चाहिए। नन के अनुसार ''दण्ड असन्तोषजनक भूतकाल का नहीं वरन् आशापूर्ण भविष्य का परिचायक है।''

8.11 सहायक अध्ययन सामग्री

नन, टी0 पी0, (1920) *एडुकेशनः इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स*, लन्दन : अरनोल्ड।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर।

रॉस, जे0 एस0 (1950), *ग्राउन्डवर्क ऑफ एडुकेशनल थियोरी*, लन्दन : जार्ज जी0 हार्पर।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

3

भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई-9
शंकराचार्य 5

इकाई-10
स्वामी दयानन्द सरस्वती 24

इकाई-11
स्वामी विवेकानन्द 46

इकाई-12
श्री अरविन्द 69

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादक

प्रो0 एस0 पी0 गुप्ता	निदेशक शिक्षा विद्या शाखा उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 एन0 पी0 भोक्ता	वरिष्ठ उपाचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, जून 2009,
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

MAED-08 : शैक्षिक विचारक

खण्ड 1. पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 1. रूसो

इकाई 2. प्लेटो

इकाई 3. जॉन डीवी

इकाई 4. कमेनियस

खण्ड 2. प्रमुख पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री

इकाई 5. फ्रोबेल

इकाई 6. मारिया मान्टेसरी

इकाई 7. हरवर्ट स्पेन्सर

इकाई 8. टी. पी. नन

खण्ड 3. भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 9. शंकराचार्य

इकाई 10. दयानन्द सरस्वती

इकाई 11. विवेकानन्द

इकाई 12. श्री अरविन्द

खण्ड 4. प्रमुख भारतीय शिक्षा शास्त्री

इकाई 13. रवीन्द्र नाथ टैगोर

इकाई 14. पं0 मदन मोहन मालवीय

इकाई 15. महात्मा गाँधी

इकाई 16. राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन

खण्ड-परिचय- 3 भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

'शैक्षिक विचारक' पत्र के खण्ड तीन, ''भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक'' में भारत के चार प्रमुख विचारकों के शिक्षा–दर्शन की विवेचना की गई है।

इकाई 9 में आदिगुरू शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित अद्वैत–वेदान्त को समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही शंकर के अद्वैत–वेदान्त के अनुसार शिक्षा सम्बन्धी दर्शन की विस्तृत विवेचना की गई है। इस दर्शन में ब्रह्म और जीव में कोई अन्तर नहीं किया गया है। छात्र को ब्रह्मस्वरूप माना गया है। प्रजातांत्रिक युग में यह सिद्धान्त अत्यधिक उपयोगी है।

इकाई 10 में दयानन्द सरस्वती के शिक्षा–दर्शन को समझने का प्रयास किया गया है। दयानन्द सरस्वती एक महान समाज सुधारक थे। उन्होंने तर्क द्वारा हर पाखण्ड एवं अंधविश्वास पर चोट किया। वे शिक्षा के द्वारा भारतीयों में सत्य के प्रति निष्ठा, स्वाभिमान एवं राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना चाहते थे। उन्होंने एक ईश्वर को माना और सभी मानव को उसी की संतान समझा। अतः सबों को शिक्षा का अधिकार दिलाने के लिए वे आजीवन संघर्ष करते रहें। इनके द्वारा स्थापित संस्था आर्यसमाज की शैक्षिक गतिविधियों का भी उल्लेख किया गया है।

इकाई 11 में स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा–दर्शन का विश्लेषण किया गया है। स्वामी विवेकानन्द ने देश में वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा की, सामाजिक सुधार को गति प्रदान किया एवं पराधीन राष्ट्र में राजनीतिक चेतना को जागृत किया। उन्होंने शिक्षा के द्वारा युवकों में शारीरिक बल एवं आध्यात्मिक ज्ञान भरने का प्रयास किया ताकि वे अपने महान सांस्कृतिक विरासत को समझ सकें और उसके अनुरूप कार्य कर सकें।

इकाई 12 में श्री अरविन्द के शिक्षा–दर्शन की व्याख्या की गई है। वे एक महान लेखक, ओजस्वी पत्रकार, सफल राजनेता, सिद्ध द्रष्टा एवं विलक्षण योगी थे। इन सभी रूपों में उन्होंने शिक्षा पर जोर दिया। पाण्डिचेरी आश्रम में योग और शिक्षा में सर्वथा अभिनव प्रयोग करते हुए उन्हें आधुनिक युग के अनुकूल बनाने का आजीवन प्रयास किया।

इन विचारकों के शिक्षा–दर्शन की व्याख्या शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधि, अध्यापक एवं छात्र संकल्पना के संदर्भ में किया गया है। इससे इन महान विचारकों के जटिल संप्रत्ययों एवं सिद्धान्तों को सरलता से समझा जा सकता है।

इकाई 9 : शंकराचार्य

संरचना

1.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 जीवन–वृत्त

9.4 अद्वैत–वेदान्त दर्शन

9.5 शिक्षा–दर्शन

9.5.1 शिक्षा का लक्ष्य

9.5.2 पाठ्यक्रम

9.5.3 ज्ञान प्राप्त करने की विधि

9.5.4 अद्वैत वेदान्त की छात्र–संकल्पना

9.5.5 अध्यापक का कर्तव्य

9.5.6 अनुशासन की संकल्पना

9.6 शंकराचार्य द्वारा मठों की स्थापना

9.7 सारांश

9.8 अभ्यास प्रश्न

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.10 सहायक अध्ययन सामग्री

9.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन मूलतः आदर्शवादी दर्शन है जिसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान आध्यात्मिक पक्ष को दिया गया है। इस आदर्शवादी दर्शन का सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिपादन आदिगुरू शंकराचार्य ने किया। उनके दर्शन को आज पूरा विश्व अद्वैत–वेदान्त के नाम से जानता है। अद्वैत–वेदान्त का दृढ़ मत है कि ब्रह्म, जीव और जगत एक हैं। भिन्नता अविद्या या अज्ञान के कारण दिखती है। एक मात्र सत्य ब्रह्म है जो सभी जीवों में विद्यमान है। प्राणी अपने कर्मफल के कारण जीवन–मृत्यु के बन्धन में बँधे है। मुक्ति का एकमात्र मार्ग ज्ञान है। शिक्षा का उद्देश्य है आत्मा और ब्रह्म के सही स्वरूप को

जानना। अद्वैत–वेदान्त ही इस बात को सुनिश्चित कर सकता है कि सभी छात्र समान हैं और सर्वोच्च सम्मान के अधिकारी हैं। अतः प्रजातांत्रिक समाज में शंकराचार्य के शिक्षा–दर्शन का महत्व और बढ़ जाता है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम लोग शंकराचार्य के समय के भारत की राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति का अध्ययन करेंगे। शंकराचार्य के जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन एवं उनके धार्मिक एवं शैक्षिक सिद्धान्तों की व्याख्या की जायेगी। हमलोग इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं के आलोक में शंकराचार्य के शिक्षा–दर्शन को समझने का प्रयास करेंगेः–

1. शंकराचार्य के समय के भारत की राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति
2. शंकराचार्य का जीवन–वृत्त
3. अद्वैत–वेदान्त की विशेषतायें
4. शंकराचार्य का शिक्षा–दर्शन
5. शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठ

इन प्रमुख बिन्दुओं के संदर्भ में हमलोग शंकराचार्य के शिक्षा–दर्शन की बेहतर समझ बनाने में सक्षम होंगे।

9.3 जीवन–वृत्त

भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन ने अपना उच्चतम शिखर जगद्गुरू शंकराचार्य के विचारों और कार्यों से प्राप्त किया है। किसी भी अन्य महापुरूष की तुलना में उनका व्यक्तित्व भारतीय धर्म एवं संस्कृति का बेहतर प्रतिनिधित्व करता है। वे वेदान्त के सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रवर्तक रहे हैं। वेदान्त भारतीय दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। भारतीय दर्शन को देश–विदेश में वेदान्त दर्शन के रूप में ही जाना जाता है और वेदान्त को शंकराचार्य के रूप में।

जिस समय शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ उस समय भारत में बौद्ध धर्म पतन की ओर अग्रसर हो चुका था। बौद्ध मठ व्याभिचार एवं भ्रष्टाचार का केन्द्र बनते जा रहे थे। भिक्षुओं का सम्बन्ध आम जनता से कट चुका था। तंत्र का प्रभाव बढ़ रहा था और धर्म की जगह अनाचार बढ़ रहा था। वैदिक धर्म भी अपनी सरलता खो चुकी थी और उसमें कर्मकांडों का प्रभाव बढ़ता जा

रहा था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत की सीमायें असुरक्षित हो गई थीं। भारत की राजनीतिक एकता खंडित हो चुकी थी। ऐसे समय में भारतीयों में आस्तिकता, आत्मविश्वास एवं सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की भावना भरने के लिए जगद्गुरू शंकराचार्य का अवतरण हुआ।

शंकराचार्य का जन्म 788 ई0 में केरल प्रदेश के 'कालदी' नामक ग्राम में नम्बूद्री ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कालदी ग्राम मालाबार में पेरियार नदी के किनारे वन क्षेत्र में स्थित है। कालदी में विद्याधिराज नामक एक प्रसिद्ध विद्वान थे। उनका पुत्र शिवगुरू था। यह परिवार परम्परागत रूप से शंकर का उपासक था। इन्हीं शिवगुरू के एकलौते पुत्र थे शंकराचार्य। माता–पिता दोनों ही अत्यन्त धर्मपरायण थे। इनकी धर्मपरायणता का प्रभाव बालक शंकराचार्य पर पड़ना स्वाभाविक था।

शंकराचार्य बचपन से ही अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे। ऐसा माना जाता है कि दो वर्ष की आयु में ही वे अक्षरों को पढ़ने लगे और तीसरे वर्ष में ही काव्य, पुराण आदि को समझने लगे। पिता की मत्यु शंकर की बाल्यावस्था में ही हो गई। पाँच वर्ष की आयु में शंकर का उपनयन संस्कार किया गया और उन्हें शिक्षा हेतु गुरूकुल भेजा गया। दो वर्ष के अल्पकाल में ही उन्होंने इतिहास–पुराण, स्मृति, महाभारत, वेद–वेदांग, षडदर्शन आदि पर अधिकार कर लिया। सात वर्ष की अवस्था में ही सारी विद्याओं पर उनका अधिकार हो गया। उनकी विलक्षण प्रतिभा से सब आश्चर्यचकित थे। शिक्षा पूरी कर वे घर लौट आए और माता की सेवा में लग गए।

बालक शंकर बचपन से ही संसारिक जीवन से विरक्त थे और सन्यास ग्रहण करना चाहते थे। पर माता उन्हें इसकी आज्ञा नहीं देती थी। किंवदन्ती के अनुसार एक बार शंकर जब नदी में स्नान कर रहे थे तो एक मगर ने उनका पैर पकड़ लिया। माता विलाप करने लगी। शंकर के यह कहने पर कि अगर वह उन्हें सन्यास लेने की अनुमति देंगी तो मगर से उनकी प्राण–रक्षा हो जायेगी। विवश माता ने शंकर को सन्यास की अनुमति दे दी। मगर से शंकर ने अपने को मुक्त कर लिया।

बालक शंकर ने प्रकाण्ड वेदान्ती गोविन्दपाद या गोविन्दाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर उनसे सन्यास की दीक्षा ली। शंकर की मेधा, जिज्ञासा एवं सेवा से संतुष्ट होकर गोविन्दपाद ने अपने प्रिय शिष्य को उपनिषदों का अर्थ एवं भाव तथा ब्रह्म का गूढ़ रहस्य समझाया।

आत्मा, परमात्मा एवं सृष्टि के सत्य को समझने के उपरांत शंकराचार्य वेदान्त के प्रचार–प्रसार के लिए निकल पड़े। बनारस नगरी में एक दिन प्रातः वेला में गंगा के किनारे चार श्वानों के साथ एक चाण्डाल मिला। स्पर्श होने के भय से शंकर ने चाण्डाल को मार्ग से हटने के लिए कहा। चाण्डाल ने प्रश्न किया ''आप किसे हटने के लिए कह रहे हैं– मेरे शरीर को या मेरी आत्मा को? शरीर नश्वर एवं नाशवान है, आत्मा तो उसी ब्रह्म को अंश है जो सर्वशक्तिमान है।'' शंकर को भेद रहित ब्रह्म में भेद देखने का अहसास हुआ। शंकर ने चाण्डाल को अपना गुरू स्वीकार किया।

शंकराचार्य में विलक्षण तर्कशक्ति थी। वे वाद–विवाद में अपने समस्त विरोधियों को परास्त करते गए। बौद्धों एवं अन्य मतावलम्बियों को शंकर के तर्कों के सामने टिकना कठिन हो रहा था। वे परास्त होकर उनके शिष्य बन गए। सोलह वर्ष की उम्र तक काशी में रहने के उपरांत वे आध्यात्मिक दिग्विजय के लिए निकल पड़े– अब वे शास्त्रार्थ और लेखन कार्य के द्वारा अद्वैत दर्शन की श्रेष्ठता स्थापित करने में लग गए।

प्रयाग में शंकराचार्य ने प्रसिद्ध कर्मकांडी कुमारिल भट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित किया। वे शंकराचार्य के शिष्य बन गए। प्रयाग प्रवास के पश्चात् शंकराचार्य मिथिला गए जहां उन्होंने प्रसिद्ध मीमांसक एवं उद्भट विद्वान मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ किया। मण्डन मिश्र उस समय सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त विद्वान थे। इस वाद–विवाद की निर्णायक थी मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी शारदा। मण्डन मिश्र पराजित हुए। इसके उपरांत उनकी पत्नी शारदा ने शंकर से शास्त्रार्थ किया। आजन्म ब्रह्मचारी शंकर शारदा के गृहस्थ आश्रम से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये। पर बाद में शंकर ने कामकला का ज्ञान प्राप्त किया। जिससे शारदा ने पराजय स्वीकार कर ली। मण्डन मिश्र शंकराचार्य के शिष्य बन गए और वे वेदान्त का प्रचार करने लगे। पूरे भारत वर्ष में आध्यात्मिक आन्दोलन चल पड़ा।

सन्यासी होने के बावजूद माता के देहावसान पर उन्होंने विधि पूर्वक अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया। इसके उपरांत पुनः वे धर्म–प्रचार में जुट गए। सम्पूर्ण भारत की सांस्कृतिक–आध्यात्मिक एकता को रेखांकित करने हेतु जगद्गुरू शंकराचार्य ने भारतवर्ष की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की– उत्तर में, बदरीनाथ में, ज्योर्तिमठ और दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, पूरब में, पुरी

में, गोवर्धन मठ और पश्चिम में, द्वारिका में शारदा मठ। इस प्रकार उन्होंने पूरे भारत में न केवल आध्यात्मिक विजय की पताका फहरायी वरन् हमेशा–हमेशा के लिए संपूर्ण राष्ट्र को धार्मिक–सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया। बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही, सन् 820 ई0, में उनका देहावसान हो गया।

शंकराचार्य ने अपने छोटे जीवन काल में न केवल पूरे देश की लगातार यात्रा कर सांस्कृतिक–धार्मिक एकता को बढ़ाया वरन् वे लगातार लिखते भी रहे। वे एक महान लेखक एवं विचारक थे– उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों पर भाष्य लिखे। सनातन धर्म की परम्परा में गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र को प्रस्थानत्रयी के नाम से पुकारा जाता है। इन तीनों ही ग्रन्थों पर सर्वप्रथम भाष्य लिखने वाले शंकराचार्य ही थे। इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण उपनिषदों, जैसे– ऐतरेय, ईश केन, छान्दोग्य मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर आदि पर भाष्य लिखे। ऐसा माना जाता है कि शंकराचार्य ने लगभग दो सौ ग्रन्थों की रचना की थी– जिनमें से अनेक ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। शंकराचार्य की प्रमुख उपलब्ध रचनाएँ हैं: उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, विष्णुसहस्त्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेशसाहस्त्री आदि। इनकी रचना शैली इतनी रोचक है, गंभीर विषयों को सरल शब्द में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्नगम्भीरभाष्य' साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम है। वेदान्त की जैसी सरल एवं रोचक व्याख्या शंकर के ग्रन्थों में मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। गीता पर शंकराचार्य का भाष्य अत्यधिक प्रतिष्ठित है।

9.4 अद्वैत–वेदान्त दर्शन

आत्रेय, वादरायण, कश्यप आदि ऋषियों ने वेदान्त दर्शन के स्वरूप को निश्चित कर उसकी व्याख्या अपने–अपने ढ़ंग से की। शंकर के पूर्व वेदान्त के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपादक शंकराचार्य के गुरू के गुरू गौड़पाद थे। उन्होंने *माण्डयूक्याकारिका* नामक ग्रन्थ की रचना की। नाम से यह माण्डयूक्य उपनिषद का भाष्य प्रतीत होता है पर यह एक स्वतंत्र दार्शनिक ग्रन्थ है जिसमें वेदान्त दर्शन की व्याख्या है। शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र पर लिखा भाष्य *शारीरिक भाष्य* के नाम से प्रसिद्ध है। शंकर के कार्य पर परवर्ती विद्वानों– वाचस्पति मिश्र, पद्मपाद, सुरेश्वर आदि ने भाष्य लिखे इन सभी कार्यों में वेदान्त का आधिकारिक प्रतिपादन शंकराचार्य के कार्य को ही माना

जाता है।

जैसा कि स्पष्ट है शंकराचार्य ने किसी सर्वथा नये मत का प्रतिपादन नहीं किया। उपनिषदों में वर्णित 'ब्रह्मवाद' ही उनके सिद्धान्त का आधार है। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव एवं प्रकृति ब्रह्म का ही अंश है और ब्रह्म की ही सत्ता प्रकृति एवं जीव में भी प्रतिभासित हो रही है। जीव माया या अविद्या के कारण जीवन–मृत्यु के बन्धन में पड़ा है। मुक्ति के लिए कर्म या पूजन की जगह सही ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है। कर्म में लगने से फल तो भोगना ही पड़ता है। साथ ही कर्म में द्वैत भाव भी निहित है। इसमें शरीर, संसार एवं अन्य चीजें भी समाहित हैं।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्त हैः–

1. ब्रह्म ही सत्य है

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है अन्य सारे पदार्थ असत्य या मिथ्या हैं। यह जगत अनित्य एवं असत्य है क्योंकि वह निरन्तर परिवर्तनशील है। ब्रह्म का स्वरूप 'सत्, चित् एवं आनन्द' है। ब्रह्म निर्गुण है– सभी आकारों से रहित। अविद्या के कारण उसे सगुण माना जाता है।

2. ब्रह्माण्ड ब्रह्म द्वारा निर्मित है

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही मूल तत्व है और इसके ही द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। और उसी के द्वारा इसमें नित्य दृश्य एवं अदृश्य परिवर्तन होते रहते हैं। ब्रह्म की वह शक्ति जिसके द्वारा वह ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है, उसे शंकराचार्य ने 'माया' कहा है। समस्त जगत ब्रह्म का 'विवर्त' है। तत्व में यदि अतत्व का भान हो तो उसे विवर्त कहा जाता है। जगत का सम्पूर्ण आकार जल के ऊपर बुदबुदे के समान मिथ्या है। ब्रह्म जगत की रचना, क्रीड़ा या लीला के लिए करता है और स्वंय जगत के रूप में विवर्तित होता है।

3. ब्रह्म और आत्मा एक है

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं है। आत्मा से युक्त जीव शुद्ध रूप में चैतन्य एवं ब्रह्मस्वरूप है। मूलतः ब्रह्म और आत्मा में

भेद नहीं है इसीलिए इसे ''अद्वैत'' कहा गया है। ब्रह्म की माया शक्ति के कारण आत्मा ब्रह्म से अलग दिखती है। माया या अविद्या का नाश होते ही दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है।

4. मानव अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का स्रोत है

शंकराचार्य ने आत्मा को ब्रह्म का स्वरूप माना है। आत्मा भी ब्रह्म की ही तरह अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का स्रोत है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिशाली है। मानव माया जड़ित अज्ञान के कारण अपनी अनन्त शक्तियों को जान नहीं पाता है। अतः जीवन–मरण के बन्धन में पड़ा रहता है। जो मानव अपनी आत्मा को पहचान लेता है वह 'ब्रह्मस्वरूप' हो जाता है।

5. मानव जीवन का लक्ष्य मुक्ति

मानव जीवन का लक्ष्य 'मुक्ति' है। संसारिक बन्धनों की समाप्ति से ही मुक्ति संभव है। मुक्ति का मार्ग ज्ञान है। शंकराचार्य ने मुक्ति की व्याख्या कई रूपों में की है। संसार की क्षण भंगुरता से परिचित हो जब मानव विरक्त हो जाता है और उसे सुख–दुख प्रभावित नहीं करता है तो उसे शंकर ने 'जीवन मुक्त' कहा। जीवन–मुक्त व्यक्ति सभी प्राणियों में अपना ही स्वरूप देखता है। वह भेदभाव से ऊपर उठकर सत्कर्म में लगा रहता है वह आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं करता है। शंकराचार्य ने ऐसी मुक्ति को 'विदेह मुक्ति' कहा। 'जीवन मुक्ति' आनन्द देती है तो विदेह मुक्ति 'परमानन्द'।

6. मुक्ति का साधन ज्ञान है

'ज्ञान' की प्राप्ति को ही शंकराचार्य ने 'मुक्ति' कहा है। ज्ञान के अभाव में मानव 'अविद्या' या 'माया' के प्रभाव में रहता है और वह भौतिक जगत को ही सत्य मान बैठता है। जब जीव को सही ज्ञान प्राप्त होता है तो वह आत्मा एवं ब्रह्म के सही स्वरूप को जान पाता है और वह जीवन मुक्ति से विदेह मुक्ति तक पहुँच जाता है। वह कह उठता है 'अहं ब्रहस्मि'– मैं ब्रह्म हूँ।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान

कीजिए।

1. शंकराचार्य के दर्शन को 'अद्वैत' क्यों कहा जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. शंकराचार्य के अनुसार जीवन का लक्ष्य क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

5.5 शिक्षा–दर्शन

परम्परागत भारतीय चिन्तन का चरम उत्कर्ष वेदान्त दर्शन है। इसके आदि प्रर्वतक शंकराचार्य थे। शंकराचार्य द्वारा उद्घाटित वेदान्त दर्शन अद्वैत–वेदान्त कहलाता है। अद्वैत–वेदान्त ने शिक्षा के अत्यन्त ही उच्च एवं पवित्र लक्ष्य रखे हैं। इसी लक्ष्य के अनुरूप पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि आदि की संस्तुति की गई है।

9.5.1 शिक्षा का लक्ष्य

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य विद्यार्थी को अज्ञान से मुक्त कर उसे ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाना है। जिससे वह विद्या एवं अविद्या, सत्य एवं असत्य में अन्तर कर सके तथा स्वंय में निहित अनन्त ज्ञान तथा अनन्त–शक्ति को पहचान सके। शिक्षा का कार्य विद्यार्थियों में विवेक ज्ञान का निरन्तर विकास करते हुए उन्हें सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना है।

अविद्या या अज्ञान से तात्पर्य है इस भौतिक जगत को पूर्ण मान लेना और इसके पीछे निहित ब्रह्म–सत्ता को नहीं देख पाना। अपने शरीर को हम पूर्ण मान लेते हैं पर उसमें निहित आत्म शक्ति, जो स्वंय ब्रह्म है, उसे नहीं

पहचान पाते हैं। सृष्टि में दिख रही अनेकता एवं भिन्नता को तो स्वीकार कर लेते हैं पर उसके पीछे निहित एकता को महसूस नहीं कर पाते हैं। यही अविद्या है, अज्ञान है। शिक्षा इस अज्ञान को समाप्त कर मानव को जगत में ब्रह्म की सत्ता का भान कराता है। वस्तुतः वेदान्त के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म–साक्षात्कार है। ब्रह्म को जानने से व्यक्ति ब्रह्ममय हो जाता है। ''ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति''।

शंकराचार्य आत्मा और ब्रह्म को एक मानते हैं। सभी आत्माएँ उसी ब्रह्म का अंश होने के कारण एक हैं। हम सब में अनन्त शक्ति एवं अनन्त ज्ञान है। परन्तु अविद्या के कारण हम अपनी शक्ति एवं ज्ञान को जान नहीं पाते हैं। सही शिक्षा हमें अपनी अनन्त शक्ति एवं अनन्त ज्ञान के प्रति जागरूक करती है। सही विद्या हमारी मुक्ति का द्वार खोलती है। 'सा विद्या या विमुक्तये'– विद्या वही है जो मुक्त करे।

मुक्ति को प्राप्ति के लिए मानव को चार सोपानों से गुजरना होता है। ये चार सोपान हैं–

(क) **नित्य एवं अनित्य वस्तु विवेक**– नित्य एवं अनित्य अर्थात् शाश्वत एवं अस्थायी पदार्थों के बीच विवेक पूर्ण अन्तर करने की क्षमता का विकास जैसे जगत् और ब्रह्म, शरीर और आत्मा, साधन और साध्य के मध्य अन्तर को समझ पाना।

(ख) **तृष्णा का त्याग**– विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के उपरांत मानव को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही तरह के भोगों का त्याग कर देना चाहिए। इनसे पूर्ण विरक्ति का भाव विकसित होना चाहिए।

(ग) **संयम**– मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक मानव में संयम आवश्यक है। ये छः प्रकार के हैं (1) शम (2) दम (3) उपरति (4) तितिक्षा (5) समाधान और (6) श्रद्धा।

शम से तात्पर्य है मन का संयम। दम का अर्थ है इन्द्रियों पर नियंत्रण। उपरति का तात्पर्य है निहित कर्मों का विधि–पूर्वक त्याग। तितिक्षा हमारे शरीर और मन को कष्ट–सहन करने के योग्य बनाता है। समाधान का तात्पर्य है मन को श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन में लगाना। गुरू के वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है।

(घ) **मोक्ष की कामना**– ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को मोक्ष

की कामना रखना एवं दृढ़ संकल्प रखना आवश्यक है। ज्ञान द्वारा ब्रह्मरूप में स्थित होना मोक्ष है।

इन चार साधनों की प्राप्ति का साधन शिक्षा है और ये ही उत्तरोत्तर मानव को मुक्ति की ओर ले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत यह संसार या शरीर नष्ट नहीं हो जाता है वरन् मिथ्या लगने लगता है। यह सामाजिक–संसारिक दायित्वों का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करता है। अनासक्ति भाव से कर्म करते हुए वह हर्ष एवं शोक से ऊपर हो जाता है। सत्कर्म उसका सहज स्वभाव बन जाता है। मुक्त आत्मा सभी प्राणियों में ब्रह्म का ही स्वरूप देखती है अतः वह भेदभाव से ऊपर उठ जाता है।

शिक्षा मानव को पशुत्व के धरातल से उठाकर चिन्तन–प्रधान प्राणी बनाने की प्रक्रिया है। शिक्षा मानव को विवेक पर आधारित जीवन जीने की कला सिखाती है। यह मानव में प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, त्याग, निःस्वार्थ वृत्ति जैसे उदात्त मूल्यों का विकास करती है।

9.5.2 पाठ्यक्रम

शंकराचार्य के अनुसार पाठ्यक्रम में उन सभी तत्वों का समावेश होना चाहिए जो प्रतिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और परमार्थिक सत्ता के अन्तर्गत आते हैं।

प्रतिभासिक सत्ता में वे विषय आते हैं जो कुछ समय के लिए वास्तविक प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविक जाग्रत अवस्था के अनुभवों से उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। स्वप्न, भ्रम तथा कल्पना में होने वाले अनुभव इसके अन्तर्गत आते हैं।

व्यावहारिक सत्ता में वे वस्तुएँ आती हैं जो व्यावहारिक जगत में दिखाई देती हैं। ये वस्तुएँ या घटनाएँ नित्य हमारे व्यवहार में आती हैं। वे व्यवहार में सत्य हैं। अविद्या के नाश होने पर ये चीजें मिथ्या हो जाती हैं पर इसके पूर्व तो ये सत्य रहती हैं।

परमार्थिक सत्ता वास्तविक सत्ता है। वह शाश्वत और सत्य है। यह कभी भी बाधित नहीं होती है। इसके अन्तर्गत ब्रह्म–ज्ञान का समावेश किया जाता है।

शंकराचार्य के अनुसार पाठ्यक्रम में वे सभी विषय होने चाहिए जो इन तीन तरह की सत्ताओं के अन्तर्गत आते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष संसारिक सत्ता को

त्यागा नहीं। सारा भौतिक जगत हमारी इन्द्रियों के लिए सत्य है। आँख से देखी और कान से सुनी वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता संदेह से परे है। पर यही अंतिम ज्ञान नहीं है। सर्वोच्च ज्ञान तो ब्रह्म ज्ञान है। शंकराचार्य के अनुसार ''वह संसारिक ज्ञान, जिसमें जगत् को सब विषयों का मूल अथवा कारण माना जाता है, निश्चित ही सत्य है। जैसे कारण रूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती है, वैसे ही सत्तारूपेण जगत् भी सत्य रहता है, क्योंकि कारण–कार्य अभिन्न है। नाना रूपात्मक विषय सत्तारूपेण सत्य है, किन्तु अपने विशेष रूप में असत्य है।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त दृष्टि से पाठ्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैः–

(i) परमार्थिक विषय या परा विद्या (ii) व्यावहारिक विषय या अपरा विद्या

परमार्थिक विषय के अन्तर्गत आत्मा एवं ब्रह्म का ज्ञान सम्मिलित किया जा सकता है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्मतत्व ही वास्तविक एवं शाश्वत तत्व है। वही सत्य है। उसका ज्ञान आवश्यक है।

व्यावहारिक विषय या अपरा विद्या के अन्तर्गत इस संसार को समझने तथा इसमें समायोजित होने के लिए उपयोगी ज्ञान का समावेश किया जाता है। अर्थात् इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान, वाणिज्य, प्राविधिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए। पर विद्यार्थियों को यह अनुभूति अवश्य होनी चाहिए कि इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म है तथा संसार में अर्थपूर्ण ढ़ंग से जीने का तात्पर्य ब्रह्म–साक्षात्कार के लिए जीना है। अतः सर्वश्रेष्ठ ज्ञान ब्रह्म ज्ञान है। इसके उपरांत तर्क पर आधारित विषय जैसे गणित, तर्कशास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि और अंत में भौतिक स्थूल चीजों का ज्ञान।

9.5.3 ज्ञान प्राप्त करने की विधि

ज्ञान–प्राप्ति की इच्छा जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है। ज्ञान प्राप्त करने हेतु तीन पूर्वापेक्षायें हैं–

(ii) **ज्ञाता अथवा प्रमातृ चैतन्य** : अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने वाला वह चैतन्य जो अन्तःकरण की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है।

(iii) **ज्ञान–प्रक्रिया या प्रमाण चैतन्य** : इस प्रक्रिया में अन्तःकरण

के रूपान्तरण द्वारा मानव पदार्थ को जानता है।

(iv) **ज्ञेय–पदार्थ या विषय चैतन्य** : वह चैतन्य जो ज्ञान–प्राप्ति का विषय होता है।

शंकराचार्य के अनुसार परम चैतन्य ब्रह्म है। जब ब्रह्म ज्ञान हो जाता है तो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान–प्रक्रिया एक हो जाती है।

ज्ञान प्राप्ति के प्राथमिक स्रोत इन्द्रियाँ हैं। इन्हें *बाह्यकरण* कहा जाता है। इन्द्रियों द्वारा दी गई जानकारियों का विश्लेषण, सामान्यीकरण, बोध, संकल्प, निर्णय आदि कार्यों के लिए एक अधिक सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली उपकरण का प्रयोग किया जाता है– इसे *अन्तःकरण* कहते हैं। इन्द्रियों को हम देख सकते हैं पर अन्तःकरण को देख नहीं सकते। अन्तःकरण को प्रकाश आत्मा देती है– और इसी प्रकाश के कारण अन्तःकरण पदार्थों को पहचानता है।

ज्ञान प्राप्ति के स्रोत

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान प्राप्ति करने के तीन स्रोत हैः– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द।

प्रत्यक्ष स्रोत में इन्द्रियों द्वारा पदार्थ की सीधी चेतना होती है। पदार्थ एवं इन्द्रियों का वास्तव में सम्पर्क होता है और वह पदार्थ का संज्ञान करता है। यह संज्ञान दृष्टि–संज्ञान, श्रवण–संज्ञान, गंध–संज्ञान, स्पर्श–संज्ञान या स्वाद–संज्ञान हो सकता है। सभी प्रकार के ज्ञान–विज्ञान का अध्ययन–अध्यापन प्रत्यक्ष विधि के द्वारा ही किया जाता है। विज्ञान का आधार ही प्रत्यक्ष विधि है।

अनुमान का भी ज्ञान प्राप्ति में अत्यधिक महत्व है। हम किसी एक वस्तु के आधार पर दूसरी वस्तु के संदर्भ में ज्ञान प्राप्त करते हैं अथवा निर्णय लेते हैं। जैसे अगर पहाड़ पर धुआँ है तो हम विश्वास के साथ कह सकते है कि पहाड़ अग्निमय है। अर्थात् अतीत में अगर दो वस्तुओं को हमेशा साथ–साथ देखा जा सकता है तो कहा जा सकता है कि दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध है। वेदान्त के अनुसार व्याप्ति के अन्तर्गत आगमन एवं निगमन दोनों ही विधियाँ आती है। विज्ञान, गणित, समाजशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन–अध्यापन में आगमन एवं निगमन दोनों ही विधियों का बड़े स्तर पर प्रयोग किया जाता है।

शब्द या आगम वेदान्त दर्शन के अनुसार ज्ञान प्राप्ति का एक स्वतंत्र स्रोत है। सभी प्रकार का ज्ञान जीवन की छोटी सी अवधि में केवल प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा नहीं दिया सकता है। अनेक पीढ़ियों द्वारा शब्दों या आगमों के रूप में ज्ञान को संचित किया गया है। इसमें केवल वेद या धर्मशास्त्र ही नहीं आते वरन् वे सब ग्रन्थ हैं जिनमें दिन–प्रतिदिन बढ़ते हुए ज्ञान को सिद्धान्तों के रूप में संचित किया गया है। इस प्रकार का ज्ञान अपेक्षाकृत स्थायी होता है।

तर्क ज्ञान के परीक्षण एवं प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है। जब ज्ञान अनेक स्रोतों से प्राप्त किया जा रहा हो तो सही ज्ञान के प्राप्ति के लिए तर्क का प्रयोग आवश्यक है। आगम अथवा ग्रन्थों द्वारा प्राप्त ज्ञान का भी परीक्षण करना आवश्यक है। तर्क द्वारा हम सत्य की तह तक पहुँचते है। शंकराचार्य तर्क के द्वारा ही अपने विपक्षियों को पराजित कर अद्वैत वेदान्त का प्रचार करने में सफल रहे। आज के लोकतंत्रात्मक वैज्ञानिक युग में तर्क की शक्ति और आवश्यकता और बढ़ गई है।

उपनिषदों में वर्णित ज्ञान प्राप्ति के तीन चरणों का वर्णन शंकराचार्य ने भी किया। ये तीन चरण हैं– श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन।

श्रवण से तात्पर्य गुरू के मुख से सुनकर ज्ञान का संचय करना। श्रवण के अन्तर्गत पठन को भी सम्मिलित किया जाता है। पुस्तकों में संचित ज्ञान का अध्ययन करना, ज्ञान का सुनना या पढ़ना पर्याप्त नहीं है। उसके संदर्भ में मनन या विचार करना आवश्यक है। यानि ज्ञान को समझने के लिए युक्ति–युक्त ढ़ंग से उसे परखना आवश्यक है। इस तरह से ज्ञान का सम्यक् अवबोध किया जा सकता है। जिन संप्रत्ययों का निर्माण हुआ है या जो अवबोध बन पाए हैं उन पर पुनः पुनः विचार करना आवश्यक है। साथ ही ऐसे ज्ञान को हम अपने व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग बना लेते हैं और जीवन में इसका उपयोग करते हैं। इस सोपान को निदिध्यासन कहते हैं। इन तीनों सोपानों या स्तरों को प्राप्त किये बिना सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है।

9.5.4 अद्वैत वेदान्त की छात्र–संकल्पना

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म और आत्मा में भिन्नता नहीं है। प्रत्येक छात्र में आत्मा के रूप में उसी सर्वशक्तिमान ब्रह्म का निवास है। बालक अनन्त शक्ति सम्पन्न है। छात्रों में दिख रही भिन्नता उनके कर्मों के कारण है। इस

प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से सब विद्यार्थी समान हैं और व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भिन्नता हैं। जो अध्यापक अद्वैत विचारधारा को स्वीकार करता है, वह सभी छात्रों को समान दृष्टि से देखता है। उन सभी में वह एक आत्मा का दर्शन करता है। विद्यालय में विभिन्न आयु, धर्म, वर्ण, जाति के बालक होते हैं। उनमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक अन्तर हो सकता है पर इन सबमें एक ही ब्रह्म का वास है।

शंकराचार्य की दृष्टि में प्रत्येक बालक अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति का अक्षय भण्डार है। कर्मजनित फल के कारण उनमें भिन्नताएँ दिखती हैं। पर जैसे–जैसे विद्यार्थियों के बारे में शिक्षक का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे भिन्नताएँ कम होती जाती हैं। जब अध्यापक स्वंय पूर्णता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब सभी भिन्नताएँ समाप्त हो जाती हैं और शेष रह जाती है एकता। लेकिन इस स्तर तक पहुँचने के लिए अध्यापक में आत्मानुभूति आवश्यक है। विद्यार्थी के व्यक्तित्व को अध्यापक द्वारा सम्मान मिलना चाहिए।

प्रत्येक विद्यार्थी के पास बुद्धि है और उसकी सहायता से वह निर्णय लेने में सक्षम होता है। अध्यापक को अपने निर्णय को छात्रों पर थोपना नहीं चाहिए वरन् छात्रों का ध्यान विभिन्न विकल्पों की ओर खींचना चाहिए ताकि विद्यार्थी स्वंय सही निर्णय लें। इसी प्रक्रिया के आधार पर छात्रों में स्वअनुशासन की भावना का विकास किया जा सकता है।

9.5.5 अध्यापक का कर्तव्य

शंकराचार्य की दृष्टि से गुरू के दो कार्य है : शिष्य को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करना तथा उसे सद्ज्ञान देकर उसकी अध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना। वेदान्त का अध्यापक अपनी बात– 'तत्वमसि' अर्थात् 'तू ही ब्रह्म है' कहकर प्रारम्भ करता है। और छात्र को शिक्षा के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कराने में सफल होता है तो छात्र कह उठता है 'अहं ब्रह्मस्मि' यानि मैं ही ब्रह्म हूँ। ऐसा कार्य वही अध्यापक कर सकता है जिसने परम सत्ता की अनुभूति कर ली हो तथा स्वंय जीवन मुक्त हो। जो स्वंय अविद्या एवं माया से ग्रसित होकर बंधन में पड़ा हो, वह अपने विद्यार्थियों की अविद्या समाप्त नहीं कर सकता है।

विद्यार्थी के लिए अध्यापक का व्यक्तित्व हर दृष्टि से अनुकरणीय होता है। अतः अध्यापक का मन, वचन, कर्म और व्यवहार छात्रों के लिए

अनुकरण के योग्य होना चाहिए। वेदान्त दर्शन का यह स्पष्ट मत है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरू का होना आवश्यक है। शंकराचार्य का कथन है कि ''प्रत्येक विद्यार्थी को ऐसे अध्यापक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिसका मन स्वस्थ हो, जो संयमी हो तथा जिसमें अपने छात्रों के लिए स्नेह हो।''

अद्वैत वेदान्त अध्यापक से यह अपेक्षा रखता है कि वह बालकों के व्यक्तित्व को सम्मान दे। उन्हें आत्मवत् समझे, ब्रह्म के समान आदरणीय माने। अध्यापक को क्रमशः भिन्नता में एकता देखने का प्रयास करना चाहिए। प्रारम्भ में हर विद्यार्थी एक दूसरे से भिन्न दिखता है, धीरे–धीरे वह छात्रों की समानता समूहगत देखने लगता है। अन्ततः भिन्नताएँ समाप्त होने लगती है तथा उसे सभी विद्यार्थियों में एक ही शक्ति दिखने लगती है। प्रारम्भ में अध्यापक विद्यार्थी को शरीर से जानता है फिर जैसे–जैसे उसमें पूर्णता की स्थिति आती है वह उसकी आत्मा का दर्शन करने लगता है। फलस्वरूप उस तादात्म्य–स्थिति का अनुभव होने लगता है जो अविद्या की समाप्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

9.5.6 अनुशासन की संकल्पना

वेदान्त दर्शन में अत्यन्त ही उच्च स्तर के अनुशासन की कल्पना की गई है। अध्ययन को प्रभावशाली बनाने हेतु अनुशासन आवश्यक है– अनुशासन से तात्पर्य है मन पर संयम रख एकाग्रचित्त होना। बिना एकाग्रता के शिक्षा संभव नहीं है। एकाग्रता की स्थिति में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब पर आत्मा का प्रभाव होता है। इस अवस्था में मानव इच्छानुसार कार्य एवं व्यवहार कर सकता है। इन्द्रिय प्रलोभन या मानसिक विकार उसे प्रभावित नहीं कर पाते हैं। उसका व्यवहार सदाचार का उदाहरण बन जाता है।

बालक में अनुशासन की भावना दो माध्यमों से विकसित की जा सकती है। एक तो अध्यापक द्वारा स्वंय उच्च उदाहरण प्रस्तुत करने से और दूसरा ज्ञान से। श्रुति, स्मृति सदाचार का ज्ञान देते हैं और अध्यापक का व्यवहार सदाचार का उदाहरण प्रस्तुत करता है। शंकराचार्य की दृष्टि में अनुशासन केवल आत्मानुशासन हो सकता है– दंड का भय दिखाकर लादा गया अनुशासन नहीं।

अद्वैत दर्शन से प्रभावित अध्यापक अपने छात्रों में ब्रह्म की छवि देखता है। उसे अपने विद्यार्थी में अनन्त शक्ति होने का विश्वास होता है। अतः वह अपने विद्यार्थी को शारीरिक दंड देने की नहीं सोचता न ही छात्रों को

अनुशासित करने के लिए मानसिक प्रताड़ना का आश्रय होता है। अध्यापक को छात्र की संकल्प–शक्ति पर पूर्ण विश्वास होता है अतः वह उसे निर्णय लेने की स्वतंत्रता देता है। यही स्वतंत्रता छात्रों में विवेक को जन्म देता है और वे आत्म अनुशासन की परिधि में कार्य करते हैं।

9.6 शंकराचार्य द्वारा मठों की स्थापना

आद्यगुरू शंकराचार्य ने भारत की सांस्कृतिक–धार्मिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु भारत की चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। हर भारतीय की इच्छा इन धामों के दर्शन की होती है– ये मठ भारत की एकता को अनन्त काल तक सुदृढ़ बनाये रखने का महत्वपूर्ण अभिकरण हैं। ये मठ जन सामान्य की शिक्षा के केन्द्र रहे हैं। शंकराचार्य के द्वारा रचित 'मठाम्नाय' ग्रंथ में इन मठों का विस्तृत वर्णन है। ये मठ हैं–

(i) **ज्योतिर्मठ**– यह मठ उत्तर भारत में बदरीनाथ में अवस्थित है। इस मठ के अन्तर्गत वर्तमान दिल्ली, पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा आदि प्रांत आते हैं। इस मठ का आदर्श वृहदारण्यक का वाक्य है ''अयमात्मा ब्रह्म।'' यानि 'यह आत्मा ब्रह्म है।'

(ii) **श्रृंगेरी मठ**– यह मठ दक्षिण में स्थित है। आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल आदि प्रांत इसके अन्तर्गत आते हैं। इसका आदर्श वृहदारण्यक का ही वाक्य है ''अहं ब्रह्मास्मि।'' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ।'

(iii) **गोवर्धन मठ**– पूरब में वर्तमान उड़ीसा प्रांत के जगन्नाथ पुरी में यह मठ स्थापित किया गया। उड़ीसा, बंगाल, झारखंड इसके प्रभाव–क्षेत्र में आते हैं। इस मठ का आदर्श ऐतरेय उपनिषद् का वाक्य है ''प्रज्ञानं ब्रह्म।'' अर्थात् 'ब्रह्म ज्ञान–स्वरूप है।'

(iv) **शारदा मठ**– यह मठ पश्चिम भारत में द्वारिकापुरी में स्थित है। इसके अन्तर्गत सिन्धु, गुजरात, महाराष्ट्र आदि क्षेत्र आते हैं। इस मठ का आदर्श छान्दोग्य उपनिषद् का महावाक्य है ''तत्वमसि।'' अर्थात् 'वह तू ही है।'

शंकराचार्य स्वंय किसी पीठ के अधिपति नहीं बने। उन्होंने अपने चार प्रिय शिष्यों– तोटक, सुरेश्वराचार्य, पद्मपाद, एवं हस्तमालक को क्रमशः ज्योतिर्मठ, श्रृंगेरी मठ, गोवर्धन मठ और शारदा मठ

में अधिपति के रूप में आसीन कर दिया। इन पीठों में परम्परा से एक–एक पीठाधीश होता है जिन्हें हम शंकराचार्य के नाम से पुकारते हैं।

आदिगुरू शंकराचार्य ने पीठाधीश को योग्यता को निर्धारित करते हुए कहा था ''पवित्र, इन्द्रियों को जीतने वाला, वेद और वेदांग का विद्वान, योग्य तथा सब शास्त्रों को जानने वाला व्यक्ति ही मेरे स्थान को प्राप्त करे।'' अयोग्य व्यक्ति अगर इस पद पर आरूढ़ हो जाता है तो विद्वानों को चाहिए कि वे उसे पद से हटा दें। शंकराचार्य ने इन पीठाधीशों को निर्देश दिया था कि वे एक स्थल पर वास न कर निर्धारित क्षेत्र में लगातार भ्रमण करते रहें तथा धर्म, संस्कृति और ज्ञान के संरक्षण और विकास को सुनिश्चित करें। आदिगुरू शंकराचार्य द्वारा स्थापित ये मठ आज भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन कर रहे हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि शंकराचार्य अलौकिक मेधासम्पन्न पुरूष थे। अलौकिक विद्वता एवं असाधारण तर्कपटुता के कारण उनके समक्ष विरोधी भी नतमस्तक हो जाते थे। बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही आचार्य ने जो वैदिक ध र्म के उद्धार एवं प्रतिष्ठा का महान कार्य किया वह अद्वितीय है। इसीलिए इन्हें भगवान शंकर का अवतार माना जाता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. आदिगुरू शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का सर्वप्रमुख लक्ष्य क्या है?

.....

.....

.....

4. शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने की तीन पूर्वाप्रेक्षायें क्या हैं?

.....

.....

.....

5. शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के तीन प्रमुख स्रोत कौन से हैं?

.....

.....

.....

9.7 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने देखा कि आदिगुरू शंकराचार्य विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे। जिस समय उनका प्रादुर्भाव हुआ विभिन्न धार्मिक मतों एवं सम्प्रदायों के नैतिक स्तर में गिरावट आयी थी। शंकराचार्य ने सफलता पूर्वक अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भारत में धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया। हमलोगों ने अद्वैत–वेदान्त के दर्शन के अध्ययन के क्रम में पाया कि यह दर्शन सभी मानव में ब्रह्म की उपस्थिति देखता है। हर विद्यार्थी अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का भण्डार है। और ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति पाई जा सकती है। आवश्यकता है शिक्षा के द्वारा 'अविद्या' या 'माया' को समाप्त कर उस सर्वशक्तिमान ब्रह्म का साक्षात्कार करना जो सभी के हृदय में विराजमान हैं। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित जीवन–दर्शन एवं शिक्षा–दर्शन का यही लक्ष्य है।

9.8 अभ्यास प्रश्न

1. अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
2. शंकराचार्य के शिक्षा–दर्शन पर आधारित पाठ्यक्रम में किन विषयों को स्थान दिया गया है?
3. शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों के सांस्कृतिक महत्व की विवेचना कीजिए।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और आत्मा एक है। आत्मा से युक्त जीव शुद्ध रूप में चैतन्य एवं ब्रह्म स्वरूप है। मूलतः ब्रह्म एवं आत्मा में भेद नहीं है। इसीलिए शंकर के दर्शन को अद्वैत कहा गया।
2. शंकराचार्य के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य 'मुक्ति' है। संसारिक

बंधनों की समाप्ति से ही मुक्ति संभव है। मुक्ति का मार्ग ज्ञान है। अतः मानव जीवन का लक्ष्य ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना है।

3. आदिगुरू शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का सर्वप्रमुख लक्ष्य है विद्यार्थी को अज्ञान से मुक्त कर उसे प्रकाश की ओर ले जाना। जिससे वह विद्या एवं अविद्या, सत्य एवं असत्य में अन्तर कर सके तथा स्वयं में निहित अनन्त–ज्ञान तथा अनन्त–शक्ति को पहचान कर स्वयं ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कर सके।

4. ज्ञान प्राप्ति की तीन पूर्वापेक्षायें हैं–

   (i) ज्ञाता या प्रमातृ चैतन्य।

   (ii) ज्ञान–प्रक्रिया या प्रमाण चैतन्य।

   (iii) ज्ञेय–पदार्थ या विषय चैतन्य।

5. शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के तीन स्रोत हैं–

   (i) प्रत्यक्ष।

   (ii) अनुमान।

   (iii) शब्द या आगम।

9.10 सहायक अध्ययन सामग्री

उपाध्याय, बलदेव (1949), *भारतीय दर्शन*, बनारस : शारदा मन्दिर।

ओड़, लक्ष्मीलाल के0 (1983), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि*, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

चट्टोपाध्याय, डी0पी0 (1964), *इण्डियन फिलॉसफी*, नई दिल्ली : पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर।

हिरियान्ना, एम0 (1956), *आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी*, लन्दन।

इकाई 10 : स्वामी दयानन्द सरस्वती

संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 जीवन–वृत्त

10.4 जीवन–दर्शन

- 10.4.1 आर्यसमाज के नियम
- 10.4.2 तर्क को महत्व
- 10.4.3 पुरूष–नारी समानता
- 10.4.4 सामाजिक समानता
- 10.4.5 राष्ट्रीयता के पोषक

10.5 शिक्षा दर्शन

- 10.5.1 शिक्षा का उद्देश्य
- 10.5.2 पाठ्यक्रम
- 10.5.3 शिक्षण विधि
- 10.5.4 शिक्षा का माध्यम
- 10.5.5 अध्यापकों का दायित्व
- 10.5.6 विद्यार्थियों के कर्तव्य
- 10.5.7 नारी शिक्षा

10.6 गुरूकुल एवं दयानन्द–एंग्लो–वेदिक संस्थायें

10.7 सारांश

10.8 अभ्यास प्रश्न

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.10 सहायक अध्ययन सामग्री

10.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत के निर्माताओं में स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्रमुख स्थान प्राप्त है। जिस समय हमारे देश में आध्यात्मिक अंधकार छाया हुआ था, जब हमारी बहुत सी सामाजिक मर्यादायें टूट रहीं थी, जब हम रूढ़िवाद और अंधविश्वास के शिकार थे, यह महान आत्मा सत्य में दृढ़ आस्था, सामाजिक समानता की भावना और उत्साह लिए मैदान में उतरी और हमारे देश की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मुक्ति के लिए काम किया। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की ऐसी अलख जगायी कि उससे प्रभावित होकर देश में अनेक समर्पित स्वतंत्रता संग्राम सेनानी, समाज सेवी और अध्यापक तैयार हुए। आज भी दयानन्द सरस्वती की शिक्षा हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रेरणा और बल प्रदान करती है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन, उनका शिक्षा दर्शन और भारतीय समाज पर पड़े उनके व्यापक प्रभाव को समझ सकेंगे। इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है–

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन–वृत्त
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती की जीवन–दृष्टि
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती का शिक्षा–दर्शन
4. आर्यसमाज के शिक्षा सम्बन्धी कार्य
5. गुरूकुल एवं डी0ए0वी0 संस्थाओं की शिक्षा में भूमिका

10.3 जीवन–वृत्त

स्वामी दयानन्द सरस्वती के बचपन का नाम मूलशंकर था। उनका जन्म सन् 1824 में गुजरात प्रांत के काठियावाड़ सम्भाग में मोरवी राज्य (अब जिला राजकोट) के एक छोटे–से गाँव टंकारा के एक समृद्ध सनातनी परिवार में हुआ था। पिता का नाम करसन लाल जी तिवारी था। वे शैवमत के कट्टर अनुयायी थे। बालक मूलशंकर कभी स्कूल नहीं गये। पिता की देख–रेख में उन्होंने संस्कृत और धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया। पाँचवे वर्ष में उन्होंने

देवनागरी अक्षर पढ़ना प्रारम्भ किया। धीरे–धीरे धर्म–शास्त्रों एवं सूत्रों के श्लोकों को भी याद कराया जाने लगा। आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। गायत्री, सन्ध्या सिखायी गई। यजुर्वेद–संहिता का अध्ययन कराया गया। संस्कृत व्याकरण सिखाया गया तथा वेद–पाठ भी आरम्भ हो गया। चौदहवें वर्ष तक वे यजुर्वेद की सम्पूर्ण संहिता एवं अन्य वेद भी पढ़ चुके थे।

चौदह वर्ष की अवस्था में (1837 ई0 में) एक ऐसी घटना घटी जिसने बालक मूलशंकर के मानस को ही बदल दिया। शिवरात्रि के त्योहार पर उपवास का व्रत किए लोग रात्रि–जागरण कर रहे थे। मूलशंकर भी उनमें से एक था। रात बीतती गई– अन्य भक्तों के साथ उनके पिता भी सो गए। तभी एक घटना घटी। एक छोटी–सी चुहिया शिव जी की मूर्ति पर चढ़ कर प्रसाद खाने लगी। किशोर मूलशंकर के मन में प्रश्न उठा क्या यही सर्वशक्तिमान शंकर है? अगर ये शंकर है तो इन पर चुहिया कैसे चढ़ सकती है? उसकी आस्था डगमगा गई। उसने निश्चय किया कि इस बलहीन, प्राणहीन मूर्ति की जगह वह सच्चे शिव का दर्शन करेगा। कालान्तर में यही किशोर उन्नीसवीं सदी के एक प्रखर और जुझारू समाज–सुधारक के रूप में विख्यात हुआ। चारों ओर फैले पाखण्ड, दम्भ और अन्धविश्वासों पर चोट करता हुआ उसने भारत को वैज्ञानिक युग में ले जाने की राह दिखाया।

जिस समय मूलशंकर के हृदय में प्रश्नाकुलता उमड़–घुमड़ रही थी भारत पर अंग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। विदेशी शासकों के साथ उनकी सभ्यता एवं संस्कृति भी आई थी। वे भारतीयों को 'असभ्य' मानते थे तथा इन्हें 'सभ्य' बनाने हेतु उन्होंने दो मार्ग अपनाए– एक था, ईसाई धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए हिन्दू धर्म पर उसकी कुरीतियों का प्रदर्शन करके सीधा आक्रमण। दूसरे, यहाँ की भाषा और व्यवहार सीख कर धीरे–धीरे अपनी धर्म पुस्तकों का प्रसार करना।

ऐसी अवस्था में जहाँ एक ओर भारतीयों के ज्ञानचक्षु खुले वहीं दूसरी ओर उनके आक्रमण का जवाब देने के लिए यहाँ के बुद्धिजीवियों ने आत्म–मंथन भी शुरू किया। उन लोगों ने अनुभव किया कि भारत के अतीत में जो कुछ शुभ और सुन्दर था उसे भूलकर हम रूढ़ियों, कुरीतियों और पाखण्डों में फँस गये हैं। छूआछूत, बाल–विवाह, बहु–विवाह, कन्या–वध, सती–प्रथा, ऊँच–नीच, आदि बुराईयाँ सामाजिक जीवन का हिस्सा बन गई हैं। इन दुष्कर्मों से मुक्त हुए बिना पश्चिम का उत्तर नहीं दिया जा सकता था।

सबसे पहले बंगाल में विचार–क्रांति का जन्म हुआ। उसके उपरांत भारत के अन्य भागों में सुधार के प्रयास तेज हुए। मूलशंकर के मन में भी जिस दिन सच्चे शिव की तलाश का संकल्प जागा वह निरन्तर अध्ययन और स्वतंत्र चिन्तन में लीन रहने लगा। उसने उस किसी भी बात को मानने से इंकार कर दिया जो केवल इसलिए माना जाता है क्योंकि वह परम्परा से चली आ रही है या किसी घर के बड़े का उसे मानने का आदेश है। उनका विद्रोही मन देश और समाज के लिए रचनात्मक कार्य करने हेतु आतुर हो उठता।

छोटी बहन एवं धर्मात्मा विद्वान चाचा की मृत्यु ने मूलशंकर को वैराग्य की दशा में पहुँचा दिया। माता–पिता मूलशंकर को विवाह के बन्धन में बाँधना चाहते थे पर मूलशंकर 1846 ई0 में एक दिन संध्या के समय घर छोड़कर चले गए– पुनः कभी नहीं लौटने के लिए। अब सम्पूर्ण भारत उनका घर था और सभी भारतीय उनके बन्धु–बान्धव। सन् 1946 से 1860 तक के पन्द्रह वर्षों में वह नाना रूप कटु और मधुर अनुभवों से गुजरते हुए आगे और आगे बढ़ते गए। प्रसिद्ध संत और विद्वान पूर्णानन्द सरस्वती ने मूलशंकर को सन्यास की दीक्षा देकर उनका नाम दयानन्द सरस्वती रखा। इस बीच दयानन्द सरस्वती योग, निघण्टू, निरूक्त, वेद, पूर्व मीमांसा आदि के प्रकाण्ड विद्वान बन चुके थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती का सम्पूर्ण व्यक्तित्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण था। नाड़ीचक्र से सम्बन्धित उन्होंने कई पुस्तकें हिमालय यात्रा के दौरान पढ़ी थीं। उन्होंने इस पुस्तकीय ज्ञान का वास्तविक परीक्षण किया। वे आत्मकथा में लिखते हैं ''एक दिन संयोग से एक शव मुझे नदी में बहते मिला। तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता और उन पुस्तकों के संदर्भ में निर्णय करता। सो उन पुस्तकों को समीप ही एक ओर रखकर मैं नदी के भीतर गया और शव को पकड़ तट पर आया। मैंने तीक्ष्ण चाकू से उसे काटना आरम्भ किया और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यान पूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा। ऐसे ही शर और ग्रीवा के अंगो को काटकर सामने रखा। यह पाकर कि दोनों पुस्तक और शव लेशमात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैंने पुस्तकों को फाड़कर उनके टुकड़े–टुकड़े कर डाले और शव के साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक दिया। उसी समय से शनैः–शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया कि वेदों, उपनिषद्, पातंजल और सांख्य–शास्त्र के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें, जो विज्ञान और विद्या पर लिखी गई हैं, मिथ्या और अशुद्ध हैं।''

1857 से 1860 के बीच दयानन्द सरस्वती कहाँ रहें इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। स्पष्टतः वे 1857 की क्रांति से सम्बद्ध रहे थे अतः उनके जीवन का यह काल–खंड आज भी रहस्य बना हुआ है। सन् 1860 में वे गुरू विरजानन्द के पास पहुँचते हैं। उनके निर्देशन में ढ़ाई वर्ष के अल्पकाल में उन्होंने महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, वेद–वेदांग इन सबका अध्ययन किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुरू विरजानन्द को वचन दिया कि वे आर्य ग्रन्थों की महिमा स्थापित करेंगे, अनार्ष ग्रन्थों का खंडन करेंगे और वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा में अपने प्राण तक अर्पित कर देंगे।

1867 ई0 में हरिद्वार में कुम्भ था। वहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वस्त्र फाड़कर एक पताका तैयार की और उस पर लिखा 'पाखंड खंडनी', उसे अपनी कुटिया पर फहराकर अधर्म, अनाचार और धार्मिक शोषण के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। उनका यह धर्म युद्ध 1883 में उनके देहावसान के बाद ही समाप्त हुआ। उन्होंने काशी पण्डितों को मूर्तिपूजा के संदर्भ में हुए शास्त्रार्थ में निरूत्तर कर दिया। कलकत्ते में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राजनारायण वसु, डब्लू0 सी0 बनर्जी, भूदेव मुखर्जी, केशवचन्द्र सेन आदि विद्वानों ने उनका भव्य स्वागत किया और उनके विचारों से लाभान्वित हुए। केशवचन्द्र सेन के सुझाव पर दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी भाषा अपना ली तथा कोपीन के स्थान पर धोती–कुरता धारण करने लगे। 1875 में बम्बई में इन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। हिन्दी के विकास और राष्ट्र–प्रेम की भावना जागृत करने में इस संस्था की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसी वर्ष *सत्यार्थ प्रकाश* का प्रकाशन हुआ। विष्णु प्रभाकर (2006: 51) के शब्दों में ''वह (सत्यार्थ प्रकाश) आर्यसमाज की बाईबिल है और हिन्दी का प्रचार और प्रसार करने में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उसका योगदान अपूर्व है।'' महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानाडे, गोपाल हरि देशमुख, ज्योतिबा फुले जैसे सुधारक दयानन्द के प्रशंसकों में से थे। थियोसोफिकल सोसाइटी की संस्थापिका मैडम ब्लैवेट्स्की ने दयानन्द सरस्वती के संदर्भ में कहाः

''शंकराचार्य के बाद में भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे बड़ा तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर आक्रमण करने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।''

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राजस्थान के देशी रियासतों में सुधार आन्दोलन चला रखा था। अतः अनेक प्रभावशाली लोग उनके विरोधी हो

गये। जोधपुर राज्य के राजमहल में वे षड़यंत्र के शिकार हुए। उन्हें दूध में जहर और पिसा हुआ काँच दिया गया था। 1883 ई0 में दीपावली के दिन इनका देहावसान हो गया।

स्वामी जी चले गये परन्तु भारत के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय नवजागरण में उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनकी मान्यताओं और सिद्धान्तों ने हीन भाव से ग्रस्त भारतीयों में अपूर्व उत्साह का संचार किया। अन्धविश्वास और कुरीतियों के जाल से मुक्त होकर उन्होंने जिस प्रगतिशील मार्ग को अपनाया था, जिस वैचारिक क्रांति को जन्म दिया था वही मार्ग आज हमें वैज्ञानिक युग में ले आया है।

10.4 जीवन–दर्शन

दयानन्द सरस्वती ब्रह्म को निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ मानते हैं। साथ ही वे जीवात्माओं एवं पदार्थों के स्वतंत्र अस्तित्व को भी स्वीकार करते है। उनके अनुसार ब्रह्म या ईश्वर इस ब्रह्माण्ड का कर्ता है, पदार्थ जन्य इसके उपादान का कारण है और जीवात्माएँ इसके सामान्य कारण। अर्थात् पदार्थ जन्म जगत भी वास्तविक है, यर्थाथ है। दयानन्द मूर्तिपूजा के घोर विरोधी तथा एकेश्वरवाद के कट्टर समर्थक थे। वे परमात्मा और जीवात्मा को दो अलग तत्व मानते हैं। इनके अनुसार परमात्मा सर्वव्यापक और आत्मा सीमित है। परमात्मा ही विश्व का सृजन, पोषण और नियमन करता है। जीवात्मा अपने कर्मों का फल भोगता है। कर्म–भोग के अंत को ही ये मुक्ति मानते हैं। कर्म भोग से मुक्ति के उपरांत आत्मा पुनः परमात्मा में मिल जाती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती वस्तु जगत और आध्यात्मिक जगत दोनों ही तरह के ज्ञान को महत्त्व प्रदान करते हैं। वे वस्तु जगत के ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहते है और आध्यात्मिक जगत के ज्ञान को सद्ज्ञान कहते हैं। दयानन्द सद्ज्ञान को सर्वोच्च ज्ञान मानते हैं, जो वैदिक ग्रंथों में निहित है। पर हर ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसना दयानन्द की विशेषता थी।

दयानन्द ने ज्ञान और कर्म को मुक्ति का साधन माना। दयानन्द की आचार–संहिता अत्यन्त ही स्पष्ट थी। उन्होंने अशुद्ध ज्ञान एवं अकरणीय कार्य को 'आठ गप्प' कहा। ये हैं:–

1. मनुष्यकृत पुराणादि ग्रन्थ

2. पाषाणादि पूजन
3. वैष्णवादि सम्प्रदाय
4. तन्त्र ग्रन्थों में वर्णित वाम मार्ग
5. भाँग आदि नशे
6. पर स्त्री गमन
7. चोरी
8. कपट, छल एवं अभिमान।

सद्ज्ञान एवं करने योग्य कार्य को स्वामी दयानन्द ने 'आठ सत्य' के नाम से पुकारा। ये हैं:–

1. ईश्वर रचित वेदादि 21 शास्त्र
2. ब्रह्मचर्यव्रत–धारण करके गुरूसेवा और अध्ययन
3. वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए संध्यावन्दन करना
4. पंच महायज्ञ करते हुए श्रौत स्मार्तादि द्वारा निश्चित आचार का पालन करना
5. शम दम नियम आदि का पालन करते हुए वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण
6. विचार, विवेक, वैराग्य, पराविज्ञा का अभ्यास, सन्यास ग्रहण
7. ज्ञान–विज्ञान द्वारा जन्म–मरण शोक–हर्ष, काम, क्रोध आदि सब दोषों का त्याग
8. तम–रज का त्याग, सतोगुण का ग्रहण

10.4.1 आर्यसमाज के नियम

इन 'आठ सत्यों' के ही आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के नियम एवं उद्देश्य निश्चित किए। ये हैं:–

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
2. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, अजर, अमर,

अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी चाहिए।

3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।
5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिये।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है– अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये।
8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।
9. प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।
10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम का अवश्य पालन करना चाहिये।

10.4.2 तर्क को महत्त्व

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धर्म में भी तर्क को महत्व प्रदान किया। वे कहते हैं ''कुछ लोग नदियों, गंगा इत्यादि की पूजा करते हैं, कुछ सितारों की, कुछ लोग मिट्टी और पत्थर की मूर्तियां पूजते हैं लेकिन बुद्धिमान व्यक्ति का परमात्मा उसके हृदय में, उसकी अपनी आत्मा में वास करता है। परमात्मा को मानव अस्तित्व की गूढ़तम गहराइयों में पाया जा सकता है। उन्होंने तर्क के नियम पर बल दिया और बताया कि श्रद्धा के आधार पर कुछ भी स्वीकार न करो, बल्कि जांचो, परखो और निष्कर्ष पर पहुँचो।

10.4.3 पुरूष–नारी समानता के पक्षधर

दयानन्द सरस्वती ने स्त्री और पुरूष समानता के नियम की व्याख्या की। उन्होंने कहा ''ईश्वर के समीप स्त्री–पुरूष दोनों बराबर है क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरूष को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जाए तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाये।... पुरूष अपनी

इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियाँ रख सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं है? क्या यह अधर्म नहीं है?''

10.4.4 सामाजिक समानता के समर्थक

स्वामी दयानन्द सरस्वती एक महान समाज सुधारक थे। उनमें जेहाद का जोश था, प्रखर बुद्धि थी और जब वह सामाजिक अन्याय देखते तो उनके हृदय में आग जल उठती थी। वे बार–बार कहते थे– ''अगर आप आस्तिक हैं तो सभी आस्तिक भगवान के एक परिवार के सदस्य हैं। अगर आपका परमात्मा में विश्वास है तो प्रत्येक मनुष्य उसी परमात्मा की एक चिनगारी है। इसलिए आप प्रत्येक मानव–प्राणी को अवसर दीजिए कि वह अपने को पूर्ण बना सके।''

इस प्रकार दयानन्द मानव–मानव में कोई भेद नहीं मानते थे चाहे वह जाति के आधार पर हो या धर्म के आधार पर।

10.4.5 राष्ट्रीयता के पोषक

देश के प्रति उनके मन में अगाध ममता थी। सत्य की तलाश में नगर, वन, पर्वत सभी कहीं घूमते–घूमते उन्होंने जनता की दुर्दशा और जड़ता को देखा था। भारत राष्ट्र की दुर्दशा से स्वामी जी अत्यधिक आहत थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीयता की भावना को मजबूत करने में लगा दिया। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे, गुजराती उनकी मातृभाषा थी पर राष्ट्र की एकता को मजबूत करने हेतु उन्होंने हिन्दी भाषा के माध्यम से ही अपना उपदेश देना प्रारम्भ किया और इसी भाषा में अपनी पुस्तकें लिखी। हिन्दी भाषा के प्रति ऐसी अटूट निष्ठा किसी दूसरे भारतीय मनीषी या नेता में मिलना कठिन है। स्वामी जी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्वदेशी और स्वराज्य जैसे शब्दों का प्रयोग किया। दादाभाई नरौजी ने स्पष्ट कहा है कि उन्होंने स्वराज्य शब्द दयानन्द सरस्वती के *सत्यार्थ प्रकाश* से सीखा है। दयानन्द सरस्वती से श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द, डॉ0 सत्यपाल, रामप्रसाद बिस्मिल, भगत सिंह आदि ने प्रेरणा पाई और वे भारत की स्वतंत्रता के लिए प्राण तक उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गए।

अतएव एक भगवान की पूजा, जाति, रंग और धर्म के भेदभाव से ऊपर उठकर मनुष्य की सेवा तथा स्वदेशी भावना का विकास – तीन बुनियादी

सिद्धान्त थे जिनकी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्थापना की। न सिर्फ स्थापना की बल्कि देश–भर में उनका प्रचार भी किया। आर्यसमाज अनेक ऐसी संस्थायें चलाती हैं जो इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करती हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. मूलशंकर के किशोरावस्था में ऐसी कौन सी घटना घटी जिसने उनके विचारों को व्यापक रूप से प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2. आर्यसमाज के उन नियमों का उल्लेख करें जो ज्ञान एवं शिक्षा से सम्बन्धित है।

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 स्वामी दयानन्द सरस्वती का शिक्षा–दर्शन

स्वामी दयानन्द सरस्वती एक महान समाज–सुधारक थे। तर्कशक्ति और सत्य पर उनकी अटूट निष्ठा उन्हें संसार के महान शिक्षाविदों की श्रेणी में ला खड़ा करता है। जो प्रश्नाकुलता किसी को महानता के मार्ग पर ले जाती हैं वह दयानन्द में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। वही उन्हें निरन्तर बने–बनाये मार्ग को त्यागने और न्याय की खोज के लिए उकसाती रही। वही सच्चे शिव और सत्य की तलाश में आगे और आगे धकेलती रही। उन्होंने

कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा लेकिन साथ ही अतीत में जो शुभ, सुन्दर और गतिमय था उसी को आधार बनाकर नये और समृद्ध भविष्य का निर्माण किया। उन्होंने बताना चाहा कि अपनी धरती से विच्छिन्न होकर हम कहीं नहीं पहुँच सकते, वैसे ही जैसे जड़ अपनी मिट्टी अपनी हवा से अपने को काट लेगी तो वृक्ष पनप ही नहीं सकेगा।

इस प्रकार दयानन्द सरस्वती ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था को अपनी जड़ों से जोड़ने का प्रयास किया। वे वैदिक शिक्षा के श्रेष्ठ तत्वों को स्वीकार करते थे। लेकिन वे आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा को भी महत्वपूर्ण मानते थे। ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे भारतीयों का कहीं भी जाने का स्वागत करते थे पर साथ ही इन शब्दों में सावधान करते थे ''भाई! किसी विद्या के ग्रहण करने के लिए जाओ परन्तु अपनी अच्छी–अच्छी प्रथाओं को मत छोड़ो।''

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार शिक्षा वही है जो मानव को ज्ञान या विद्या–पिपासु बनाये। उनके अनुसार ब्रह्म, जीवात्मा और पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जानना विद्या है और न जानना अज्ञान है। विद्या को स्वामी जी ने मानव कल्याण का साधन माना– जिससे केवल व्यक्ति का ही नहीं वरन् समष्टि का कल्याण हो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती अत्यन्त ही प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे। उनका मानना था कि चाहे आध्यात्मिक शिक्षा हो या लौकिक शिक्षा– उसे प्राप्त करने का अधिकार मानव मात्र को है। वे कहते हैं ''जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्य मात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता।... वेदाधिकार जैसे ब्राह्मण वर्ग के लिए है वैसा ही क्षत्रिय, आर्य, वैश्य, शूद्र, भृत्य और अतिशुद्र के लिए बराबर है क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक है, वह सबका हितकारक है.... इसलिए उनका जानना सब मनुष्य को उचित है।'' स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के अत्यन्त ही व्यापक उद्देश्य निश्चित किए।

10.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीय धर्म और संस्कृति द्वारा समर्थित चारो पुरूषार्थों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के महत्व को स्वीकार किया है। इन पुरूषार्थों के उचित समन्वय एवं सम्यक प्राप्ति हेतु उन्होंने शिक्षा को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना। उनके अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य है–

1. **चरित्र का निर्माण**– स्वामी दयानन्द प्राचीन आर्यों की ही तरह भारतीयों को उच्च चारित्रिक शक्ति से सम्पन्न देखना चाहते थे। उनका मानना था कि श्रेष्ठ चरित्र का व्यक्ति अन्य उद्देश्यों को आसानी से प्राप्त कर सकता है। चरित्र निर्माण की प्रक्रिया घर से प्रारम्भ हो जाती है और शिक्षालयों में अध्यापकों की भूमिका इस संदर्भ में काफी महत्वपूर्ण हो जाती है।

2. **धर्म पर आधारित आचरण**– स्वामी दयानन्द के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य धर्माचरण है। बालक–बालिका को नैतिक आचार–विचार, खान–पान तथा वेश–भूषा की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। उनका मन, वचन और कर्म धर्म के अनुकूल होना चाहिए। उन्होंने देव–यज्ञ का विधान किया और ब्रह्मचर्य पर जोर दिया।

3. **वैदिक संस्कृति का पुनरूत्थान**– स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य वैदिक संस्कृति का पुनरूत्थान माना। उन्होंने वेद की ओर लौटने का नारा दिया। शिक्षा के द्वारा वे वैदिक ग्रंथों की प्रतिष्ठा एवं पुराण, तांत्रिक ग्रंथों की असत्यता सिद्ध करने को दृढ़ प्रतिज्ञ थे।

4. **शारीरिक विकास**– स्वामी दयानन्द ने धर्म का साधन स्वस्थ शरीर को माना। अतः उन्होंने शारीरिक विकास को शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना। इसके लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य पालन, योग, खेल–कूद और व्यायाम पर जोर दिया। उन्होंने ब्रह्मचर्य को न केवल एक शारीरिक क्रिया माना वरन् इसे एक मानसिक स्थिति भी माना।

5. **यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति**– स्वामी दयानन्द सरस्वती भौतिक जगत को भी वास्तविक मानते थे। इसका सही ज्ञान प्राप्त करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था।

6. **सत्य और शिव की प्राप्ति**– स्वामी दयानन्द शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य सत्य और सच्चे शिव की प्राप्ति मानते थे। उनका कहना था ''मनुष्य को स्वमत के विषय में सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है। यह मनुष्य का स्वभाव है। परन्तु सुविज्ञ पुरूषों को उचित है कि दुराग्रह को परे फेंक सत्य की परीक्षा करें। यही उनका भूषण है।

7. **व्यष्टि और समष्टि का कल्याण**– स्वामी दयानन्द सरस्वती शिक्षा का उद्देश्य न केवल व्यक्ति का कल्याण चाहते थे वरन् साथ ही साथ

सम्पूर्ण समाज का कल्याण चाहते थे। वस्तुतः उनकी शिक्षा का उद्देश्य था ''सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुख भाग भवेत।'' यानि 'सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सबों का कल्याण हो, किसी को दुख न हो।'

8. **समाज–सुधार हेतु शिक्षा**– स्वामी दयानन्द सरस्वती एक महान समाज–सुधारक थे और उन्होंने अपनी शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख उद्देश्य समाज–सुधार रखा। वे धार्मिक अंधविश्वास, मूर्तिपूजा, निरर्थक कर्मकांड, जातिवाद, सम्प्रदायिकता, बालविवाह आदि सामाजिक बुराइयों के घोर विरोधी थे और जीवन भर इन बुराइयों से समाज को मुक्त करने के लिए संघर्ष करते रहे।

9. **राष्ट्रप्रेम की भावना**– दयानन्द सरस्वती भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक पराभव से अत्यंत ही दुखी थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम 'स्वराज्य' एवं 'स्वदेशी' जैसे शब्दों का प्रयोग किया। उनकी राष्ट्रप्रेम की शिक्षा ने वस्तुतः स्वतंत्रता सेनानियों की लम्बी श्रृंखला खड़ी कर दी।

10. **हिन्दी भाषा का उत्थान**– स्वामी दयानन्द ने हिन्दी का सीखना सबों के लिए अनिवार्य कर दिया था। वे हिन्दी को सम्पूर्ण भारत की भाषा बनाने चाहते थे। वे इसे राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक मानते थे। प्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर के शब्दों में ''भारत की एकता के प्रति उनकी ममता इतनी गहरी थी कि उन्होंने अपने ग्रन्थों का दूसरी भाषाओं में अनुवाद करवाने का प्रस्ताव इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि वे तो उस दिन को देखना चाहते थे जबकि आर्यभाषा हिन्दी ही भारत की सर्वमान्य भाषा होगी और इसी राष्ट्रभाषा के माध्यम से देश के लोग अपने विचारों का आदान–प्रदान करेंगे।''

10.5.2 पाठ्यक्रम

स्वामी दयानन्द बच्चे की शिक्षा की शुरूआत माता के गर्भ से ही मानते हैं। उनका मानना था कि जब शिशु गर्भ में हो तो माता को सात्विक विचारों और कार्यों में लीन होना चाहिए ताकि शिशु का शारीरिक एवं मानसिक विकास उचित ढ़ंग से हो सके और स्थिर चित्त की नींव रखी जा सके।

एक से पाँच वर्ष तक की उम्र के बच्चों के लिए स्वामी जी ने माता को सर्वाधिक उपयुक्त अध्यापक माना है। इस काल में बच्चों में स्वस्थ आदतों का विकास, सद्–आचरण की शिक्षा और भाषा के विकास पर जोर देना चाहिए। देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराया जाना चाहिए तथा अन्य भाषाओं के अक्षरों का भी शिक्षण करना चाहिए।

पाँच से आठ वर्ष तक की उम्र के बच्चों की शिक्षा में पिता की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। यह 'शिक्षारम्भ' की अवधि है अतः बच्चों को शुद्ध उच्चारण, मान्य आचरण, महत्वपूर्ण श्लोकों को कंठस्थ करने की शिक्षा देनी चाहिए।

जब बालक–बालिका आठ वर्ष के हो जायें तब उन्हें शिक्षा हेतु विद्यालय भेजा जाये।

विद्यालयी शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्वामी जी ने शुद्ध उच्चारण पर काफी जोर दिया। अतः प्रथम विषय के रूप में उन्होंने पाणिनी के ध्वनि सिद्धान्त को मान्यता दी। इसके उपरांत संस्कृत व्याकरण की शिक्षा देनी चाहिए। व्याकरण में *अष्टाध्यायी*, धातुपाठ, गणपाठ, अनादि कोष और *महाभाष्य* को रखा गया। 11 वर्ष की आयु पूरी करने के उपरांत यास्क के *निघुंट* और *निरूक्त* की शिक्षा देने का प्रावधान किया गया। इसी समय पिंगलाचार्य द्वारा लिखे *छन्द ग्रन्थ* को पढ़ाया जाये तथा विद्यार्थियों को छन्दों का ज्ञान और श्लोक रचना की विधि सिखाई जाये। साथ ही मनुस्मृति, बाल्मीकि रामायण, विदुर नीति और महाभारत के चुने हुए अंशों की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाये। तेरह से पन्द्रह वर्ष की आयु के बीच षट्दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त) की शिक्षा दी जाये। वेदान्त के अध्यापन के पूर्व प्रमुख उपनिषदों को पढ़ा जाना चाहिए।

पन्द्रह से बीस–इक्कीस वर्ष के मध्य वेदों का अध्ययन किया जाना चाहिए। वेदों के अध्ययन के उपरांत उपवेद पढ़ाने का प्रावधान था। उपवेद के अध्ययन के उपरांत भौतिक दृष्टि से उपयोगी बीजगणित, रेखागणित, भूगोल, भूतत्व विद्या, खगोल विद्या आदि का अध्ययन कराया जाये। साथ ही राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विधि, भूगोल, शिल्पकला, गायन आदि की भी शिक्षा होनी चाहिए।

इस तरह से स्वामी जी ने एक विस्तृत पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार की। वे आर्यभाषा हिन्दी की शिक्षा सबों को अनिवार्य रूप से देने के हिमायती

थे। साथ ही वे देश–विदेश में उपलब्ध हर प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की सलाह देते थे पर उनका यह स्पष्ट आग्रह था कि हम अपनी संस्कृति की अच्छाइयों को विस्मृत न करें।

10.5.3 शिक्षण विधि

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षण विधि में प्रायः वैदिक विधियों की ही संस्तुति की है। उपदेश या व्याख्यान, प्रवचन, स्वाध्याय, शब्दार्थ, व्युत्पत्ति, व्याकरण, अनुवाद को स्वामी जी ने महत्वपूर्ण माना। वे वैदिक काल की ही तरह ज्ञान प्राप्त करने के तीनों सोपानो को महत्वपूर्ण मानते है। ये हैंः श्रवण, मनन, निदिध्यासन। ये तीन स्तर पूरी शिक्षा व्यवस्था को वैज्ञानिक आधार प्रदान करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा एवं ज्ञान के प्रसार में जिस विधि का सर्वाधिक प्रयोग किया वह है तर्क विधि या वाद–विवाद विधि। पर उन्होंने तर्क या वाद–विवाद विधि का प्रयोग किसी को पराजित करने के उद्देश्य से न कर सत्य के उद्घाटन हेतु किया। वे स्वयं कहते हैं ''वाद–विवाद को प्रयोजन सत्यानवेषण है न कि किसी मत या धर्म को पराजित करने का भाव।'' वे ज्ञान एवं धर्म के प्रचार–प्रसार में दुराग्रह के विरूद्ध थे। उनका दृढ़ मत था ''हमें स्वमत के आग्रह को छोड़कर सत्य जिज्ञासा के भाव से ही विचार में प्रवृत्त होना चाहिए।'' इस प्रकार स्वामी दयानन्द में तर्क, जिज्ञासा एवं सत्य तक पहुँचने की प्रबल इच्छा स्पष्टतः दिखती है।

दयानन्द सरस्वती भौतिक जगत को प्रत्यक्षानुभव विधि से समझने पर जोर देते थे। वे इन्द्रिय, मन और आत्मा को एक दूसरे से सम्बन्धित मानते थे। अतः उनका यह अवलोकन एवं परीक्षण द्वारा भौतिक जगत को समझना उपयोगी है।

दयानन्द स्वयं एक योगी थे इसलिए वे शिक्षा में व्यावहारिक विधि के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। उनका यह मानना था कि आचरण, व्यायाम, खेल–कूद, संगीत, आयुर्वेद, शिल्पों आदि की शिक्षा व्यावहारिक या प्रायोगिक विधि द्वारा ही दी जा सकती है।

10.5.4 शिक्षा का माध्यम : देशी भाषायें

स्वामी दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी सीखने के विरूद्ध नहीं थे पर उनका

मानना था कि बच्चों की शिक्षा भारतीय भाषा के माध्यम से ही होनी चाहिए। वे हिन्दी की शिक्षा पूरे भारत में अनिवार्य करना चाहते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रयासों के फलस्वरूप ही उच्च शिक्षा तक का माध्यम देशी भाषायें बन सकीं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के कारण ही सबसे पहले आर्यसमाज ने यह आवाज उठायी कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए। स्वामी दयानन्द के योग्य शिष्य महात्मा मुंशी राम ने इस सम्बन्ध में गुरूकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किये। यहाँ के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर भौतिक ग्रन्थ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। यहीं पर सबसे पहले हिन्दी के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना प्रारम्भ किया गया और हिन्दी में विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों के आभाव को भी दूर करने का सफल प्रयत्न किया। रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, विद्युत शास्त्र, भौतिक और रसायन विज्ञान जैसे विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार की। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले विद्वानों में भी गुरूकुल के स्नातक प्रमुख रहे हैं। दयानन्द के शिष्यों ने यह प्रमाणित करके कि हिन्दी के माध्यम से किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, बड़े–बड़े अधिकारियों को चकित कर दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने कहा ''मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरूकुल को अभूतपूर्व सफलता मिली।''

यही सब देखकर महात्मा गाँधी ने महामना पं0 मदन मोहन मालवीय से कहा थाः–

''गंगा के किनारे, हरिद्वार के जंगलों में गुरूकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं?''

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1882 ई0 में जगह–जगह पर संचालित आर्यसमाज की शाखाओं से आग्रह किया कि वे भारतीय शिक्षा आयोग (हन्टर आयोग) के समक्ष पाठशालाओं में शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के पक्ष में आवेदन पत्र जमा करें। आर्यसमाज के सद्प्रयासों से ही स्कूलों और कचहरियों में देवनागरी लिपि में लिखी जा रही हिन्दी भाषा को स्थान मिल पाया।

10.5.5 स्त्री शिक्षा

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक काल की विदुषी आर्य नारियों का उदाहरण देते हुए कहा कि पुरूषों की तरह नारियों को भी हर प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। लड़कियाँ स्वतंत्र रूप से, लड़कों की ही तरह, शिक्षा प्राप्त कर सकें इसके लिए वे जीवन भर संघर्ष करते रहे। उनके इन सद्प्रयासों की सराहना करते हुए *विरादरे हिन्द* (1 जुलाई, 1877) में लिखा गयाः–

''यद्यपि उन्होंने संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का साहित्य नहीं पढ़ा है तथापि उन्होंने अपने विचारों को इतना परिमार्जित और विकसित कर लिया है कि वे अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों के विचारों से भी उत्तम विचार रखते हैं। केवल धार्मिक सुधार पर ही नहीं वरन् बाल–विवाह आदि सब बुराइयों पर भी उनकी दृष्टि है। स्त्रियों की स्वतंत्रता और शिक्षा के वे विशेष इच्छुक हैं। अविद्या, हठ, दुराग्रह को दूर करना, विद्या का प्रचार करना, जाति में एकता उत्पन्न करना– इनका अंतिम ध्येय है।''

स्वामी दयानन्द सरस्वती बालक–बालिका को समान शिक्षा देने के पक्षधर थे पर वे सहशिक्षा के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि आठ वर्ष के उपरांत लड़के–लड़कियों को अलग–अलग विद्यालयों में पढ़ाया जाना चाहिए। लड़कियों के विद्यालय में सभी अध्यापक महिलायें हो और लड़कों के स्कूल में पुरूष। लड़के और लड़कियों की पाठशालाओं में वे न्यूनतम दो कोस की दूरी चाहते थे। लड़के–लड़कियाँ वाचा–मनसा एवं कर्मणा ब्रह्मचर्य का पालन कर सकें इसलिए उन्होंने सहशिक्षा का विरोध किया।

10.5.6 अध्यापकों का दायित्व

स्वामी दयानन्द सरस्वती नैतिक रूप से चरित्रवान एवं वैदिक जीवन पद्धति पर चलने वाले व्यक्ति को ही अध्यापक के रूप में देखना चाहते थे। ताकि अध्यापक छात्रों को यज्ञ, सन्ध्योपासन, प्राणायाम आदि की शिक्षा एवं प्रशिक्षण उचित ढ़ंग से दे सके। वे संस्कृत–विद्वान सन्यासी को अध्यापक बनाने के पक्ष में थे, ताकि वह अपने दायित्वों का कुशलता पूर्वक निर्वहन कर सकें।

स्वामी जी का मानना था कि अध्यापक ही शिक्षा के लिए उचित वातावरण का निर्माण करता है और वही शिक्षा के सारे उद्देश्यों को पूरा करने का माध्यम है अतः अध्यापकों को सर्वगुण सम्पन्न एवं निष्काम भाव से कार्य

करने वाला होना चाहिए। उसे अपने विद्यार्थियों के सामने अपने आचरण से ऐसे आदर्श उपस्थित करने चाहिए कि विद्यार्थी उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सकें। स्वामी दयानन्द कहते थे कि अध्यापक जो आदर्श शिष्यों के समक्ष रखता है उसे पहले अपने जीवन में उतारें। शिक्षक को सद्आचरण करने वाला होना चाहिए ताकि वह विद्यार्थी, अभिभावक एवं समाज के सम्मान का पात्र बन सके। स्वामी दयानन्द गुरू के पद को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि बिना गुरू के सही ज्ञान मिल नहीं सकता है।

10.5.7 विद्यार्थियों के कर्तव्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विद्यार्थियों को अहंकार शून्य होकर, गुरू के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त करने का निर्देश दिया। गुरू के प्रति शिष्यों में पूज्य भाव का होना आवश्यक है। शिष्य गुरू से तभी सीख सकता है जब वह जिज्ञासु हो, सत्य और शुद्ध आचरण करने वाला हो तथा एकाग्र चित्त से अध्ययन करे। ये *तैत्तिरीय उपनिषद* में समावर्तन संस्कार के समय दिये जाने वाले उपदेश का पालन करने की छात्रों को सीख देते हैं। ''सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदा।... मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव।'' अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद न करो, माता, पिता, और गुरू देवताओं की तरह पूज्य हैं।

प्राचीन काल की ही तरह स्वामी दयानन्द सरस्वती गुरू–शिष्य के मध्य पिता–पुत्र जैसा घनिष्ट सम्बन्ध के पक्षधर थे। वे सत्य, शिव एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरू–शिष्य सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आवश्यक मानते थे। गुरू का यह कर्तव्य है कि वह छात्रों के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास को सुनिश्चित करे तथा गुरूकुल में आने वाले विद्यार्थियों का भी कर्तव्य है कि गुरूकुल में गुरू के उपदेशों एवं आज्ञाओं का पालन करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यार्जन करें।

10.3 गुरूकुल एवं दयानन्द–एंग्लो–वेदिक (डी0ए0वी0) विद्यालय

स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों का भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा। दयानन्द के समर्थकों ने दो तरह की शिक्षा संस्थायें स्थापित की– गुरूकुल और दयानन्द एंग्लो वेदिक विद्यालय एवं महाविद्यालय।

गुरूकुल व्यवस्था दयानन्द सरस्वती के मूल विचारों पर आधारित है। पहला गुरूकुल दिल्ली के समीप सिकन्दराबाद में खोला गया। बाद में

वृन्दावन में यमुना के किनारे इसे स्थानान्तरित कर दिया गया। यह वृन्दावन गुरूकुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सर्वाधिक प्रसिद्धि हरिद्वार के समीप स्थित गुरूकुल कांगड़ी को प्राप्त है। इसकी स्थापना स्वामी दयानन्द के योग्य शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द ने की थी। यहाँ पर भारतीय भाषा हिन्दी के माध्यम से उच्चतम एवं नवीनतम ज्ञान देने की शुरूआत की गई। और इस कार्य में इस विश्वविद्यालय ने अभूतपूर्व सफलता पाई। कन्याओं के लिए देहरादून, बड़ौदा और सासनी (अलीगढ़) के गुरूकुल बड़े प्रसिद्ध हैं। इन गुरूकुलों में वैदिक ज्ञान–विज्ञान, संस्कृत भाषा और साहित्य पर विशेष जोर दिया जाता है। ये गुरूकुल वैदिक काल की मर्यादाओं को जीवन्त करते हैं।

आर्यसमाज के ही एक दूसरे पक्ष ने लाल हंसराज के नेतृत्व में दयानन्द एंग्लो ओरिएन्टल विद्यालयों का सम्पूर्ण देश में जाल बिछा दिया। ये दयानन्द के विचारों को स्वीकार करते हुए अंग्रेजी भाषा के माध्यम से प्राचीन एवं नवीन दोनों ही तरह का ज्ञान देते थे। डी0ए0वी0 संस्थायें राष्ट्रभक्ति की शिक्षा देती थी। अंग्रेजी शासन के दौर में गुरूकुलों एवं डी0ए0वी0 संस्थाओं को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। स्वतंत्र भारत में भी ये दोनों तरह की संस्थायें अपनी–अपनी भूमिका निभा रही हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार शिक्षा के कौन से उद्देश्य हैं?

.....

.....

.....

4. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वाद–विवाद विधि का प्रयोग किस उद्देश्य से किया?

.....

.....

10.7 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने स्वामी दयानन्द के समय की राजनीतिक–सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों एवं कार्यों पर इन परिस्थितियों के प्रभाव को भी समझने का प्रयास किया गया। हमलोगों ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन की उन घटनाओं को भी देखा जिन्होंने उन्हें एक महान समाज सुधारक और एक सफल शिक्षक बनाया। स्वामी जी को प्रजातांत्रिक जीवन पद्धति पर विश्वास था। अतः उन्होंने अंधविश्वास की जगह तर्क पर बल दिया। उनका शिक्षा–दर्शन वस्तुतः प्राचीन भारतीय व्यवस्था और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के बेहतर तत्वों का श्रेष्ठ समन्वय है। हिन्दी भाषा के प्रचार, महिलाओं की शिक्षा, राष्ट्रीयता की भावना के जागरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किए गए प्रयासों का मूल्यांकन किया गया।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1. नारी–शिक्षा के संदर्भ में दयानन्द सरस्वती के विचारों की विवेचना कीजिए।
2. स्वामी दयानन्द ने कौन सी विधियों को प्रभावशाली शिक्षण हेतु उपयुक्त माना?
3. गुरूकुल व्यवस्था एवं दयानन्द–एंग्लो–वैदिक शिक्षण संस्थाओं के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. चौदह वर्ष की अवस्था में (1873 ई0 में) एक ऐसी घटना घटी जिसने किशोर मूलशंकर के विचारों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। शिवरात्रि के त्योंहार पर उपवास का व्रत किए लोग रात्रि–जागरण कर रहे थे। धीरे–धीरे मूलशंकर को छोड़ सभी लोग सो गए। एक छोटी सी चुहिया शिव जी की मूर्ति पर चढ़ कर प्रसाद खाने लगी। किशोर मूलशंकर के मन में प्रश्न उठा अगर ये सर्वशक्तिमान शंकर हैं तो इन पर चुहिया कैसे चढ़ सकती है। उन्होंने निश्चय किया कि इस बलहीन, प्राणहीन मूर्ति की जगह वह सच्चे शिव का दर्शन करेगा।

2- (i) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

(ii) वेद सब विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

(iii) सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(iv) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(v) प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(vi) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम का अवश्य पालन करना चाहिए।

3. स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य निम्नलिखित है–

(i) चरित्र का निर्माण

(ii) धर्म पर आधारित आचरण

(iii) वैदिक संस्कृति का पुनरूत्थान

(iv) शारीरिक विकास

(v) यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति

(vi) सत्य और शिव की प्राप्ति

(vii) व्यष्टि और समष्टि का कल्याण

(viii) राष्ट्रप्रेम की भावना का विकास

(ix) हिन्दी भाषा का प्रचार–प्रसार

(x) समाज–सुधार

4. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वाद–विवाद का उद्देश्य बताया ''वाद–विवाद का प्रयोजन सत्यान्वेषण है न कि किसी मत या धर्म को पराजित करने का भाव।''

10.10 सहायक अध्ययन सामग्री

प्रभाकर, विष्णु (2006), *स्वामी दयानन्द सरस्वती,* नई दिल्ली : साहित्य अकादमी।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर।

राधाकृष्णन, सर्वपल्लि (1989), *उद्देश्यपूर्ण जीवन*, नई दिल्ली : हिन्दी पॉकेट बुक्स।

शास्त्री, विश्वबन्धु (1981), *आर्यसमाज के दस नियमों की व्याख्या*, नई दिल्ली : आर्य प्रकाशन।

सहाय, यदुवंश (1992), *महर्षि दयानन्द*, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन।

इकाई 11: स्वामी विवेकानन्द

संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 जीवन–वृत्त

11.4 जीवन–दर्शन

- 11.4.1 धर्म
- 11.4.2 सत्य
- 11.4.3 अहिंसा
- 11.4.4 त्याग
- 11.4.5 मानव सेवा
- 11.4.6 जाति व्यवस्था का विरोध
- 11.4.7 सामाजिक व्याधि का प्रतिकार
- 11.4.8 देश भक्ति की आवश्यकता
- 11.4.9 संस्कृतियों का समन्वय

11.5 शिक्षा दर्शन

- 11.5.1 शिक्षा का उद्देश्य
- 11.5.2 पाठ्यक्रम
- 11.5.3 शिक्षण–विधि
- 11.5.4 शिक्षक का दायित्व
- 11.5.5 विद्यार्थी के कर्तव्य
- 11.5.6 नारी शिक्षा

11.6 शिक्षा का प्रसार

- 11.6.1 भ्रमणकारी सन्यासियों द्वारा शिक्षा
- 11.6.2 रामकृष्ण मिशन

11.7 सारांश

11.8 अभ्यास प्रश्न

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.10 सहायक अध्ययन सामग्री

11.1 प्रस्तावना

देश में वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने, सामाजिक सुधार को गति देने एवं राजनीतिक चेतना को जागृत करने में जितनी अहम भूमिका स्वामी विवेकानन्द की रही है उतनी शायद ही किसी महापुरूष की रही हो। जब सम्पूर्ण देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, विदेशी धर्म–गुरू भारतीय धर्म और संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखते थे, भारतीय बुद्धिजीवी भी मानसिक एवं बौद्धिक दासता की बेड़ियों से जकड़े हुए थे तब इस नर–श्रेष्ठ ने शिकागो के धर्म सम्मेलन में भारतीय धार्मिक–सांस्कृतिक परम्परा के विरासत के संदर्भ में ऐसा अद्‌भुत व्याख्यान दिया कि सम्पूर्ण पश्चिमी जगत भारत के आध्यात्मिक ज्ञान एवं सांस्कृतिक समृद्धि के समक्ष नतमस्तक हो गया। भारतीयों में भी आत्मसम्मान के भाव का संचार हुआ जिससे स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों को प्रेरणा मिली। साथ ही भारतीयों को एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता महसूस होने लगी और वे इसके विकास में लग गए।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन एवं शैक्षिक कार्यों के संदर्भ में एक बेहतर समझ बना पायेंगे। इस इकाई में हमलोग निम्न बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का अध्ययन करेंगे–

1. स्वामी विवेकानन्द का जीवन–वृत्त
2. स्वामी विवेकानन्द का जीवन–दर्शन
3. स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा–दर्शन
4. रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य

11.3 जीवन–वृत्त

12 जनवरी, 1863 को स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ता के एक प्रसिद्ध वकील विश्वनाथ दत्त के घर हुआ। माता प्रेम से उन्हें वीरेश्वर कहती थी पर नामकरण संस्कार के समय उनका नाम नरेन्द्रनाथ रखा गया। बचपन से ही नरेन्द्रनाथ में विलक्षण प्रतिभा के लक्षण दिखते थे। एक तरफ वे अत्यंत ही चंचल थे तो दूसरी तरफ उनकी स्मरण शक्ति अद्‌भुत थी। सात वर्ष की

अल्पायु में ही उन्हें कृतिवास की बंगला रामायण याद हो गयी थी।

नरेन्द्रनाथ एक मेघावी छात्र थे। 1879 में प्रथम श्रेणी में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने कलकत्ता के सबसे अच्छे महाविद्यालय– प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया। बाद में वे एक दूसरे महाविद्यालय में भी पढ़े। विवेकानन्द का अंग्रेजी और बंगला– दोनो ही भाषाओं पर अधिकार था। धर्मशास्त्र, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों में इनकी गहरी रूचि थी। वे विद्यार्थी जीवन में अत्यन्त ही क्रियाशील थे एवं विभिन्न क्रियाकलापों में रूचि लेते थे। परम्परागत भारतीय व्यायाम एवं कुश्ती से लेकर क्रिकेट जैसे आधुनिक खेल में उनकी रूचि थी। बी0ए0 की परीक्षा के उपरांत नरेन्द्र के पिता उनका विवाह कराना चाहते थे पर नरेन्द्र गृहस्थ का जीवन जीना नहीं चाहते थे। पिता की अकस्मात् मृत्यु ने विवाह के प्रसंग को रोक दिया। पर नरेन्द्र के कन्धे पर पूरे परिवार का बोझ आ पड़ा।

नरेन्द्रनाथ को कोई भी बन्धन या मोह बाँध नहीं सका। सत्य की खोज में वे ब्रह्मसमाज की सभाओं में आने–जाने लगे। लेकिन उनकी ध र्म–पिपासा वहाँ शांत नहीं हो पाई। उन्हें सत्य एवं ब्रह्म का साक्षात्कार स्वामी रामकृष्ण परमहंस से मिलने के उपरांत ही हुआ। चौबीस वर्ष की अवस्था में नरेन्द्रनाथ ने सन्यास ग्रहण कर लिया– वे अपने योग्य गुरू रामकृष्ण परमहंस के योग्यतम शिष्य 'स्वामी विवेकानन्द' के रूप में 'जगत प्रसिद्ध' हुए। विवेकानन्द ने परिब्राजक के रूप में कश्मीर से कन्याकुमारी तक समस्त भारत का भ्रमण किया। इस अनवरत भ्रमण ने जहाँ स्वामी विवेकानन्द के ज्ञान को बढ़ाया वहीं वे भारत के दीन–दुखियों की विवशता को भी अपनी आँखों से देख सके। स्वामी जी जहाँ भी गये लोग उनकी विद्वता, तेज और संकल्प–शक्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

स्वामी विवेकानन्द की चरम प्रसिद्धि का क्षण 1893 में आया जब वे संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। शिकागो धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने में होनी वाली कठिनाइयों के संदर्भ में विवेकानन्द स्वंय कहते हैं– ''आज से चार वर्ष पहले मैं अमेरिका जा रहा था– सात समुद्र पार बिना किसी जान पहचान के, एक धनहीन, मित्रहीन, अज्ञात सन्यासी के रूप में।'' अमेरिका पँहुचने के बाद की स्थिति के बारे में वे लिखते हैं– ''मेरे पास रूपये बहुत कम थे और वे शीघ्र समाप्त हो गए। इधर जाड़ा भी आ गया और मेरे

पास थे सिर्फ गरमी के कपड़े। इस घोर शीतप्रधान देश में आखिर क्या करूँ, यह कुछ सूझता न था। भीख माँगने पर जेल में ठूँस दिया जाता।'' इन विपरीत परिस्थितियों में भी स्वामी विवेकानन्द ने हिम्मत नहीं हारी। (मेरी समरनीतिः 6,7) उनके 'ब्रदरर्स एण्ड सिस्टर्स ऑफ अमेरिका' के सम्बोधन मात्र से सभा स्थल करतल ध्वनि से गूँज उठा। इस अभिभाषण से विवेकानन्द विश्व भर में सर्वश्रेष्ठ धार्मिक पुरूष के रूप में स्वीकार किए ही गए, हिन्दू धर्म एवं भारत की आध्यात्मिक परम्परा की श्रेष्ठता भी पूरे विश्व ने स्वीकार कर ली। उन्होंने विश्व के अनेक देशों का भ्रमण कर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की विजय–पताका पूरे विश्व में फहराई।

अपने गुरू स्वामी रामकृष्ण परमहंस के विचारों के प्रसार, वेदान्त ज्ञान के अध्ययन एवं प्रचार तथा दीन–दुखियों की सेवा के लिए स्वामी विवेकानन्द ने 1 मई, 1897 को रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। विवेकानन्द जीवन पर्यन्त अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्यशील रहे। वे एक महान ऋषि परम्परा के प्रतिनिधि थे, जिनका देहावसान 39 वर्ष की अल्पावस्था में हो गया। भारत के आध्यात्मिक गगन के चमकते सूरज का भरी दोपहरी में अस्त हो गया। पर आज भी स्वामी विवेकानन्द के वचन एवं कार्य हमारे मार्ग को आलोकित करने में सक्षम है।

11.4 स्वामी विवेकानन्द का जीवन–दर्शन

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त–दर्शन की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में की तथा निराशा एवं कुंठा के दल–दल में फँसी हुई भारतीय जनता को जीवन का नया पथ दिखाया।

स्वामी विवेकानन्द का वेदों और उपनिषदों पर अटूट विश्वास था। उन्होंने पूरे विश्व में वेदान्त दर्शन को सर्वजनीन, सार्वभौमिक दर्शन के रूप में प्रचारित–प्रसारित किया। स्वामी विवेकानन्द के नव्य वेदान्त दर्शन में आधुनिक वैज्ञानिक खोजों तथा समकालीन विचारों को स्थान मिला। स्वामी जी का दृढ़ विश्वास था कि देश की भैतिक उन्नति एवं सामान्य जन की समृद्धि उतना ही आवश्यक है जितना व्यक्ति और समाज की आध्यात्मिक उन्नति। विवेकानन्द का सम्पूर्ण दर्शन गरीबी के अभिशाप में डूबी भारतीय जनता के कल्याण की कामना है। वे प्रायः कहा करते थे– ''रोटी का प्रश्न हल किये बिना भूखे मनुष्य धार्मिक नहीं बनाये जा सकते। इसलिए रोटी का प्रश्न हल करने का

नया मार्ग बताना सबसे मुख्य और सबसे पहला कर्तव्य है।''

विवेकानन्द शंकराचार्य की ही तरह सृष्टि का कर्ता ब्रह्मा को ही मानते थे। वे यह भी स्वीकार करते थे कि यह वस्तु–जगत ब्रह्म की माया शक्ति के द्वारा निर्मित है, परन्तु ये माया और जगत को असत्य नहीं मानते थे, पर वे माया एवं जगत के मूल तत्व ब्रह्म को अन्तिम सत्य मानते थे। वे शंकराचार्य की ही तरह मानते थे कि आत्मा ब्रह्म का अंश होती है, इसलिए वह भी अपनें में पूर्ण होती है। शंकर की तरह विवेकानन्द भी मानते थे कि मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति है। परन्तु विवेकानन्द द्वारा प्रस्तावित मुक्ति अधिक व्यापक है। उनका विश्वास था कि जब तक मनुष्य शारीरिक दुर्बलता, मानसिक दासता, आर्थिक अभाव एवं हीनता की भावना से मुक्त नहीं होता तब तक उसकी मुक्ति संभव नहीं है।

विवेकानन्द ने ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया– वस्तु जगत का ज्ञान और आत्म तत्व का ज्ञान। एक प्रगतिशील आदर्शवादी की तरह विवेकानन्द ने इन दोनों ही तरह के ज्ञानों को सच माना। और कहा कि दोनों ही तरह का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वस्तु जगत के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष विधि और आत्म तत्व के ज्ञान के लिए अध्ययन, मनन और सत्संग पर जोर दिया।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मनुष्य के जीवन का अन्तिम उद्देश्य आत्मानुभूति है। वस्तुतः वे आत्मानुभूति, मुक्ति और ईश्वर प्राप्ति को समानार्थी मानते थे। स्वामी जी मानते थे कि सभी मनुष्यों में ईश्वर का निवास है अतः मानव सेवा सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्य को मन, वचन और कर्म से शुद्ध होकर अर्थोपार्जन करना चाहिए, दीन–हीनों की सेवा करनी चाहिए और योग मार्ग द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करते हुए मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए।

11.4.1 धर्म

विवेकानन्द के अनुसार भविष्य के धार्मिक आदर्शों को सभी धर्मों में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबको एक साथ लेकर चलना पड़ेगा। ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त– सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। उन्होंने धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया है। उनका कहना था कि धर्म के मूल लक्ष्य के विषय में सभी धर्म एकमत हैं। आत्मा की भाषा एक है जबकि राष्ट्रों की

भाषाएँ विभिन्न हैं, उनकी परम्परायें और जीने की शैली भिन्न है। धर्म आत्मा से सम्बन्धित है लेकिन वह विभिन्न राष्ट्रों, भाषाओं और परम्पराओं के माध्यम से प्रकट होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसार के सभी धर्मों में मूल आधार एकता है, यद्यपि उसके स्वरूप भिन्न–भिन्न हैं।

स्वामी विवेकानन्द धर्म को भारत राष्ट्र का जीवन–केन्द्र या प्रधान–स्वर मानते हैं। वे मानते थे कि भारतवर्ष में धर्म ही जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवन रूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वभाविक जीवन शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे तो वह राष्ट्र काल–कवलित हो जाता है। अतः विवेकानन्द भारत में धर्म प्रचार आवश्यक मानते थे। उनका कहना था कि भारतवर्ष में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म प्रचार आवश्यक है। वे कहते हैं ''भारत को सामाजिक अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने से पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय।'' (मेरी समरनीतिः 40)

11.4.2 सत्य

विवेकानन्द के अनुसार, विश्व में सत्य एक है और मानव उसे विभिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं।

अपने भाषण 'मेरी कार्यविधि' में स्वामीजी कहते है ''हमें शक्ति चाहिए, इसलिए अपने आप पर विश्वास करो। अपने स्नायुओं को शक्तिशाली बनाओ। हमें लोहे की पेशियां और फौलाद के स्नायु चाहिए। हम बहुत रो चुके हैं, अब और रोना नहीं, अपने पैरो पर खड़े हो जाओ और मानव बनो। हमें मानव गठन करने वाला धर्म चाहिए, हमें मनुष्य गठन करने वाले सिद्धान्त चाहिए, चारो ओर हमें मानव गठन करने वाली शिक्षा चाहिए। सत्य की परीक्षा यह है : कोई भी वस्तु जो तुम्हें शरीर से, बुद्धि से या आध्यात्मिकता से निर्बल करती है, उसे विष समझ कर त्याग दो, इसमें कोई जीवन नहीं है, यह सत्य नहीं हो सकती। सत्य माने पवित्रता, सत्य माने समग्र ज्ञान, सत्य द्वारा बल प्राप्ति होनी चाहिए।'' सत्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते है– ''सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, जो हृदय के अंधकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।''

11.4.3 अहिंसा

विवेकानन्द अहिंसा को श्रेष्ठ मानते है पर हिंसा को सर्वथा त्याज्य नहीं। उनके अनुसार गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने दृढ़ होना चाहिए और गुरू और बन्धुजनों के समक्ष नम्र।... यदि वह शत्रु के समक्ष वीरता नहीं दिखाता है, तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है किन्तु अपने बन्धु–बान्धव , आत्मीय स्वजन एवं गुरू के निकट उसे गौ के समान शांत और निरीह भाव अवलम्बन करना चाहिए।'' विवेकानन्द के अनुसार अहिंसा की कसौटी है, ईर्ष्या का अभाव।

11.4.4 त्याग

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार त्याग का अर्थ है, स्वार्थ का सम्पूर्ण अभाव। यूरोप और अमेरिका में भोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। इसलिए स्वामी जी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था। यहाँ के लोग धनाभाव के कारण जीवन के ऊँचे गुणों से विमुक्त हो गए। अतः उन्होंने भारतवासियों को जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नही था, प्रत्युत उन्होंने यहाँ के लोगो में असन्तोष जगाना चाहा और उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की। विवेकानन्द कहते है– ''त्याग के बिना कोई सिद्धि संभव नहीं है। त्याग मानवीय चेतना का पवित्रतम, सर्वोत्तम साध्य है।''

11.4.5 मानव सेवा

विवेकानन्द ने यह सीख दी कि मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है। उससे मुँह मोड़ना धर्म नहीं है। वे कहते थे अगर तुम्हें भगवान की सेवा करनी है तो मानव की सेवा करो। वह भगवान ही रोगी मनुष्य, दरिद्र मनुष्य और सब प्रकार के मनुष्यों के रूप में तुम्हारे सामने खड़ा है। इसलिए उन्होंने कहा– ''तुम्हें सिखाया गया है कि अतिथि देवो भव, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, पर अब मैं तुमसे कहता हूँ दरिद्र देवो भव।''

विवेकानन्द कहते है कि ''विश्व में सन्यासी क्यों जन्म लेते हैं? औरों के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग करने, जीव के आकाशभेदी क्रन्दन को दूर करने, विधवा के आँसू पोंछने, पुत्र–वियोग से पीड़ित अबलाओं के मन को शान्ति देने, सर्व–साधारण को जीवन–संग्राम के लिए तैयार करने, शास्त्र के उपदेशों को फैलाकर सबका ऐहिक और परमार्थिक मंगल करने और ज्ञानालोक

से सबके अन्दर जो ब्रह्मसिंह सुप्त है, उसे जागृत करने।''

11.4.6 जाति व्यवस्था के विरोधी

विवेकानन्द भारत में व्याप्त सामाजिक बुराईयों के विरूद्ध लगातार संघर्ष करते रहे। वे चाण्डाल में ईश्वर का निवास महसूस करते थे। उन्हीं के शब्दों में ''यदि मैं अत्यन्त नीच चाण्डाल होता, तो मुझे और भी आनन्द आता, क्योंकि मैं उन महापुरूष का शिष्य हूँ जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण होते हुए भी एक चाण्डाल के पाखाने की सफाई लगातार कई दिनों तक की थी। सबका सेवक बनकर ही एक हिन्दू अपने को उन्नत करने की चेष्टा करता है। (मेरी समरनीतिः 13,14)''

11.4.7 सामाजिक व्याधि के प्रतिकार का उपायः शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि सामाजिक व्याधियों का प्रतिकार बाहरी उपायों द्वारा नहीं होगा, इसके लिए भीतरी उपायों का अवलम्बन करना होगा, मन पर कार्य करने की चेष्टा करनी होगी। विवेकानन्द कहते हैं ''समाज के दोषों को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् शिक्षा–दान द्वारा परोक्ष रूप से उसकी चेष्टा करनी होगी।''

11.4.8 देशभक्ति की आवश्यकता

विवेकानन्द एक प्रखर राष्ट्र भक्त थे और वे सभी भारतीयों को राष्ट्रभक्ति की भावना से ओत–प्रोत देखना चाहते थे। वे भारतीय नवयुवकों को सम्बोधित करते हुए कहते है ''मेरे भावी देशभक्तो, हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से यह अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तान आज पशुतुल्य हो गयी है? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढ़क लिया है? यदि 'हाँ' तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है।'' इस समस्या के निवारण हेतु कर्तव्य पथ निश्चित करना स्वामी विवेकानन्द के अनुसार दूसरी सीढ़ी है और उस पथ पर दृढ़ता से चलना देशभक्त की निशानी है।

राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्र को जड़भावापन्न स्थिति से निकालने का उपाय बताते हुए विवेकानन्द कहते हैं– ''पहले राष्ट्र को शिक्षित करो, अपनी निजी विधायक संस्थाएँ बनाओ, फिर तो नियम आप ही आप आ जायेंगे। जिस शक्ति के बल से, जिसके अनुमोदन से विधान का गठन होगा,

पहले उसकी सृष्टि करो। आज राजा नहीं रहे; जिस नयी शक्ति से, जिस नये दल की सम्मति से नयी व्यवस्था गठित होगी, वह लोक शक्ति कहाँ है? उसी लोक शक्ति को संगठित करो। अतएव समाज–सुधार के लिए भी, प्रथम कर्तव्य है– लोगों को शिक्षित करना। और जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।''

इस तरह से स्वामी विवेकानन्द भारत को एक स्वतंत्र, शक्तिशाली प्रजातांत्रिक राष्ट्र बनाने के लिए जन–सामान्य की शिक्षा अनिवार्य मानते थे।

11.4.9 प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों का समन्वय

स्वामी विवेकानन्द मानते थे कि प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनो ही संस्कृतियों में गुण और दोष हैं। इनकी कमियों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं– ''यहाँ की भूमि विधवाओं के आँसू से कभी–कभी तर होती हैं, तो पाश्चात्य देश का वायु–मण्डल अविवाहित स्त्रियों की आहों से भरा रहता है। यहाँ का जीवन गरीबी की चपेट से जर्जरित है, तो वहाँ पर लोग विलासिता के विष से जीवन्मृत हो रहें है।... बुराइयाँ सभी जगह हैं।... रोग की जड़ साफ कर देना ही ठीक–ठाक उपाय है। (मेरी समरनीतिः 18,19)'' अतः दोनों ही संस्कृतियों के श्रेष्ठ तत्वों का समन्वय किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. शिकागो धर्म सम्मेलन में भाग लेने में स्वामी विवेकानन्द को किन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

2. विश्व के विभिन्न धर्मों के मध्य स्वामी विवेकानन्द कैसा सम्बन्ध

चाहते थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.5 शिक्षा–दर्शन

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है। मानव में शक्तियाँ जन्म से ही विद्यमान रहती है। शिक्षा उन्हीं शक्तियों या गुणों का विकास करती है। पूर्णता बाहर से नहीं आती वरन् मनुष्य के भीतर छिपी रहती है। सभी प्रकार का ज्ञान मनुष्य की आत्मा में निहित रहता है। गुरूत्वाकर्षण का सिद्धान्त अपने प्रतिपादन के लिए न्यूटन की खोज की प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। वह न्यूटन के मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान था। जब समय आया तो न्यूटन ने केवल उसकी खोज की। विश्व का असीम ज्ञान–भंडार मानव मन में निहित है, बाहरी संसार केवल एक प्रेरक मात्र है, जो अपने ही मन का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। पेड़ से सेव के गिरने से न्यूटन ने कुछ अनुभव किया और मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित विचारों की कड़ियों को व्यवस्थित किया और उसमें एक नयी कड़ी को देखा, जिसे मनुष्य गुरूत्वाकर्षण का नियम कहते हैं।

अतएव सभी ज्ञान, चाहे वह संसारिक हो अथवा परमार्थिक, मनुष्य के मन में निहित है। यह आवरण से ढ़का रहता है, और जब वह आवरण धीरे–धीरे हटता है, तो मनुष्य कहता है कि ''मुझे ज्ञान हो रहा है।'' ज्यों–ज्यों आवरण हटने की प्रक्रिया या आविष्कार की प्रक्रिया बढ़ती जाती है त्यों–त्यों मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर यह आवरण पूर्णतः पड़ा रहता है, वह मूढ़ या अज्ञानी है और जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिल्कुल हट जाता है, वह सर्वज्ञानी मनुष्य हो जाता है। जिस प्रकार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान निहित रहता है। उद्दीपक कारण ही वह घर्षण है, जो उठा ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है।

स्वामी विवेकानन्द सर्वहितकारी, सर्वव्यापी एवं मानव–निर्माण करने वाली शिक्षा पर जोर देते थे। वे मानव की स्वतंत्रता को मूल बिन्दु मानकर राजनीति से परे मानव निर्माण की योजना के सर्मथक थे। शिक्षा को धर्म से जुड़ा मानकर विवेकानन्द ने दोनों की मानव के अन्दर पाई जाने वाली प्रवृत्ति को उजागर करना ध्येय माना। मानव–कल्याण का मूल बीज शिक्षा को मानकर विवेकानन्द ने शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने की योजना बनाई। उन्होंने शिक्षा की एक उदार एवं संतुलित प्रारूप देश के सामने रखा ''आवश्यकता है विदेशी नियंत्रण हटाकर हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो और साथ ही साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सीखा जाये। हमें उद्योग–धंधो की उन्नति के लिए यांत्रिक शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी जिससे देश के युवक नौकरी ढूंढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिए समुचित धनोपार्जन भी कर सके और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सके।

शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने ज्ञान दान को श्रेष्ठ दान बताया। उन्होंने चार प्रकार के दान बतायेः धर्म (आध्यात्मिक ज्ञान का) दान, ज्ञान दान, प्राण दान और अन्न दान। इन सब में उन्होंने प्रथम दो दानों को श्रेष्ठ दान माना। वे ज्ञान–विस्तार को भारत की सीमाओं से बाहर भी ले जाना चाहते हैं। भारत ने संसार को अनेक बार आध्यात्मिक ज्ञान दिया। स्वामी जी ने धर्म प्रचार और लौकिक विद्या दोनों को ही मानव के लिए आवश्यक बताया पर उनका स्पष्ट मत था कि ''यदि लौकिक विद्या बिना धर्म के ग्रहण करना चाहो, तो मैं तुमसे साफ कह देता हूँ कि भारत में तुम्हारा ऐसा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा– वह लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त नहीं कर सकेगा। (मेरी समरनीतिः 47)''

वे कहते थे भारतीयों में आत्मविश्वास भरने के लिए उन्हें आत्मतत्व की जानकारी देनी चाहिए। वे कहते हैं– ''अब उनको (वंचितों को) आत्मतत्व सुनने दो, यह जान लेने दो कि उनमें से नीच–से–नीच में भी आत्मा विद्यमान है। वह आत्मा, जो कभी न मरती है, न जन्म लेती है, जिसे न तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है, जो अमर है, अनादि और अनन्त है, शुद्ध स्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। इस प्रकार विवेकानन्द ने शिक्षा के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की संभावना पर अत्यधिक बल दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित रहस्य या तांत्रिक विद्या की आलोचना

करते हुए उन्होंने कहा इन्होंने मानव के विवेक को समाप्त कर दिया। वे आदर्श शिक्षा व्यवस्था की कल्पना करते हुए कहते है ''हमें ऐसी सर्वांगसम्पन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके।'' वे केवल सूचनाओं के संग्रह को शिक्षा नहीं मानते थे। उनका कहना थाः ''शिक्षा उस जानकारी के समुच्चय का नाम नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में भर दिया गया है, और वहाँ पड़े–पड़े तुम्हारी सारी जिन्दगी भर बिना पचाए सड़ रही है। हमें तो भावों या विचारों को इस प्रकार आत्मसात् करना चाहिए, जिससे जीवन निर्माण हो, मनुष्यत्व आवे और चरित्रगठन हो। यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती, तो पुस्तकालय सबसे बड़े सन्त और विश्व–कोष ही ऋषि बन जाते।''

11.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा को व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक माना। उन्होंने हर समस्या का निदान शिक्षा को बताया। शिक्षा के उद्देश्यों का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं ''जो शिक्षा प्रणाली जन–साधारण को जीवन–संघर्ष से जूझने की क्षमता प्रदान करने में सहायक नहीं होती, जो मनुष्य के नैतिक बल का, उसकी सेवा–वृत्ति का, उसमें सिंह के समान साहस का विकास नहीं करती, वह भी क्या शिक्षा के नाम के योग्य है?'' स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्देश्य बतलाये–

(i) **अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्तिः** विवेकानन्द ने शिक्षा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य मानव में निहित पूर्णता का विकास है। वेदान्त–दर्शन के अनुसार प्रत्येक बालक में अनन्त ज्ञान, अनन्त बल एवं अनन्त व्यापकता की शक्तियाँ विद्यमान हैं, परन्तु उसे इन शक्तियों का पता नहीं। शिक्षा का उद्देश्य इन शक्तियों के बारे में छात्रों को जानकारी देना तथा प्रत्येक विद्यार्थी में अन्तर्निहित शक्तियों का उत्तरोत्तर विकास करना है।

(ii) **मानव–निर्माण करनाः** स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा प्रमुख उद्देश्य मानव का निर्माण करना बताया। वे कहते हैं ''शिक्षा द्वारा मनुष्य का निर्माण किया जाता है। समस्त अध्ययनों का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य का विकास करना है। जिस अध्ययन द्वारा मनुष्य की संकल्प–शक्ति का प्रवाह संयमित होकर प्रभावोत्पादक बन सके, उसी का नाम शिक्षा है।''

(iii) **शारीरिक पूर्णताः** विवेकानन्द के अनुसार मानव तभी पूर्णता प्राप्त कर सकता है जब उसका शरीर स्वस्थ हो। शारीरिक दुर्बलता पूर्णता के लक्ष्य प्राप्त करने में सबसे बड़ा बाधक तत्व है। वे युवकों को सम्बोधित करते हुए

कहते है ''सबसे पहले हमारे युवकों को सबल बनाना चाहिए। धर्म तो बाद की चीज है। तुम गीता पढ़ने की बजाय फुटबाल खेलकर स्वर्ग के अधिक नजदीक पहुँच सकते हो। यदि तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, अपने पैरों पर दृढ़ता पूर्वक खड़े हो सकते हो, तो तुम उपनिषदों और आत्मा की महत्ता को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हो।''

(iv) **चरित्र का निर्माणः** स्वामी विवेकानन्द उसी शिक्षा को शिक्षा मानते थे जो चरित्रवान स्त्री–पुरूष को तैयार कर सके। उनके अनुसार सबल राष्ट्र के निर्माण हेतु नागरिक का चरित्रवान होना आवश्यक है। वे कहते हैं ''आज हमें जिसकी वास्तविक आवश्यकता है, वह है चरित्रवान स्त्री–पुरूष। किसी भी राष्ट्र का विकास और उसकी सुरक्षा उसके चरित्रवान नागरिकों पर निर्भर है।'' अतः विद्यार्थियों में उच्च चरित्र का निर्माण शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

(v) **जीवन–संघर्ष की तैयारीः** शिक्षा विद्यार्थी को भावी जीवन के लिए तैयार करती है। विवेकानन्द की दृष्टि में जीवन–संघर्ष की तैयारी के लिए तकनीकी एवं विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है। विवेकानन्द कहते हैं ''आज की यह उच्च शिक्षा रहे या बन्द हो जाए, इससे क्या बनता–बिगड़ता है? यह अधिक अच्छा होगा, यदि लोगों को थोड़ी तकनीकी शिक्षा मिल सके, जिससे वे नौकरी की खोज में इधर–उधर भटकने के बदले किसी काम में लग सकें और जीविकोपार्जन कर सकें।''

(vi) **राष्ट्रीयता की भावना का विकासः** विवेकानन्द भारत की दुर्दशा से अत्यन्त ही मर्माहत थे। वे एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का विकास करना चाहते थे जो भारतीय विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास कर सके। वे कहते हैं– ''ऐ वीर! साहस का अवलम्बन करो। गर्व से कहो, मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि मूर्ख भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सभी मेरे भाई हैं। भारत के दीन–दुखियों के साथ एक होकर गर्व से पुकार कर कहो– ''प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी–देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है।''

इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से विवेकानन्द भारतीयों के मध्य राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना का विकास करना चाहते थे।

11.5.2 पाठ्यक्रम

जैसा कि हमलोग पहले ही देख चुके हैं स्वामी विवेकानन्द का यह मानना था कि हर राष्ट्र की कुछ विशेष गुणों के कारण अलग पहचान होती है। भारत राष्ट्र की विशिष्ट पहचान उसकी आध्यात्मिकता है। विवेकानन्द के अनुसार धर्म शिक्षा की आत्मा है। विवेकानन्द की धर्म की परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। वे धर्म अन्तर्गत सम्प्रदाय विशेष को न मानकर नैतिक जीवन पद्धति को मानते हैं। वे पाश्चात्य शिक्षा को अधर्म के विस्तार का कारण मानते हैं। हृदय का विकास जहाँ मानव को आध्यात्मिक बनाता है वहीं मात्र बौद्धिक विकास उसे स्वार्थी बनाता है।

विवेकानन्द शिक्षा में आध्यात्म के साथ विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा आवश्यक मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द का यह स्पष्ट तौर पर मानना था कि भारतीय आध्यात्म एवं पश्चिमी विज्ञान का समन्वय ही मानव कल्याण का सर्वाधिक विश्वसनीय आधार बन सकता है। स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी तथा उद्योग की शिक्षा ने मानव के जीवन को आरामदायक बनाया है। पर अगर इसका विकास बिना नैतिक–आध्यात्मिक समन्वय के साथ हुआ तो यह मानव जाति के विनाश का कारण बन सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान स्वामी विवेकानन्द की भविष्यवाणी सच हुई।

विवेकानन्द की शिक्षा व्यवस्था में कला को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वे मानते थे कि ''कला हमारे धर्म का ही एक अंग है।'' उन्होंने विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान चित्रांकित पात्रों, नयनाभिराम साड़ियों आदि से लेकर कृषक की झोपड़ियों तथा अनाज भरने के कोठारों तक खींचा। उन्हें जीवन का हर आयाम कलात्मक दिखता था और वे शिक्षा को कला की साधना का माध्यम बनाने पर जोर देते थे।

स्वामी विवेकानन्द भाषा की शिक्षा के संदर्भ में अत्यधिक उदार थे। वे संस्कृत भाषा की शिक्षा पर अत्यधिक जोर देते थे क्योंकि यही हमारे धर्म और संस्कृति की भाषा है। इसके साथ ही मातृभाषा की शिक्षा आवश्यक मानते थे। विज्ञान एवं तकनीक की उचित शिक्षा के लिए वे अंग्रेजी की भी शिक्षा महत्वपूर्ण मानते थे।

जनसामान्य में शिक्षा के प्रसार हेतु विवेकानन्द की शिक्षा–व्यवस्था में शारीरिक शिक्षा, खेलकूद और व्यायाम को उचित स्थान दिया गया है। वे

नवयुवकों को गीता पढ़ने की बजाए फुटबाल खेलने का सुझाव देते थे। उनका मानना था कि अगर शरीर स्वस्थ होगा तो गीता भी बेहतर ढ़ंग से समझ में आयेगी। उन्होंने नवयुवकों को शक्ति का महत्व बताते हुए कहा– ''शक्ति ही जीवन और कमजोरी मृत्यु है। शक्ति परम सुख है और अजर अमर जीवन है, कमजोरी कभी न हटने वाला बोध और यन्त्रणा है, कमजोरी ही मृत्यु है।''

इस प्रकार शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्वामी विवेकानन्द ने प्राच्य धर्म, दर्शन और भाषा तथा पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान, तकनीक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण को स्थान दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह महसूस किया था कि पाश्चात्य जगत के भौतिक ज्ञान से हम अपना भौतिक विकास कर सकते है और अपने देश के आध्यात्मिक ज्ञान से पश्चिमी जगत का कल्याण कर सकते है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण समन्वयवादी, आधुनिक और व्यापक था।

11.5.3 शिक्षण विधि

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि एकाग्रता है। वे कहा करते थे कि जितनी अधिक एकाग्रता होगी उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उनका कहना था कि एकाग्रता के बल पर जूता पॉलिश करने वाला भी बेहतर ढ़ंग से जूता पॉलिश कर सकेगा एवं रसोइया भी अधिक अच्छा भोजन बना सकेगा।

एकाग्रता तभी आ सकती है जब मनुष्य में *अनासक्ति* हो। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि तथ्यों का संग्रह शिक्षा नहीं है। सच्ची शिक्षा है तन को अनासक्ति द्वारा एकाग्र करने की क्षमता विकसित करना। इससे सभी तरह के तथ्यों का संग्रह किया जा सकता है, समस्याओं को समझा जा सकता है और उनके निराकरण का मार्ग ढूंढ़ा जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के ज्ञान के लिए *योग विधि* को अपनाने पर बल देते थे। भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जहाँ अल्प योग (अल्पकाल की एकाग्रता) पर्याप्त है वहीं आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूर्ण योग (दीर्घकालीन एकाग्रता) आवश्यक है।

स्वामी विवेकानन्द शिक्षा को प्रत्येक बालक–बालिका का जन्म सिद्ध अधिकार मानते थे। खोये हुए सांस्कृतिक एवं भौतिक वैभव को फिर से प्राप्त करने के लिए जनसाधारण की शिक्षा को वे आवश्यक बताते थे। उन्होंने

स्पष्ट शब्दों में कहा– ''मेरे विचार में जनसाधारण की अवहेलना राष्ट्रीय पाप है और हमारे पतन का कारण है। जब तक भारत की सामान्य जनता को एक बार फिर से शिक्षा, अच्छा भोजन और अच्छी सुरक्षा प्रदान नहीं की जायेगी, तब तक सर्वोत्तम राजनीतिक कार्य भी व्यर्थ होंगे।'' वे शिक्षा की सुविधा सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध कराना चाहते थे।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार आज की परिस्थितियों में भी उतनी ही उपयोगी है जितनी उनके समय में थी। आज वेदान्त और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता और अधिक है। स्वामी विवेकानन्द का दर्शन मानव मात्र का कल्याण के लिए है। उन्होंने स्वंय कहा था– ''हम मानव–निर्माण का धर्म चाहते हैं। हम मनुष्य का निर्माण करने वाले सिद्धान्त चाहते हैं और हम मानव निर्माण की सर्वागींण शिक्षा चाहते हैं।''

11.5.4 शिक्षक का दायित्व

विवेकानन्द ने कहा कि शिक्षक का कार्य मार्ग से रूकावटें हटाना है। अर्थात् व्यक्ति के अन्तर्गत ब्रह्मत्व की शक्ति पहले से ही विद्यमान है, शिक्षा का कार्य उसे उजागर करना है।

सर्वजनीन और सर्वसुलभ शिक्षा प्रसार के लिए स्वामी जी ने शिक्षा देने हेतु ऐसे अध्यापकों की अपेक्षा की जो सदाचारी हों, त्यागी हों और उच्च भाव से ओत–प्रोत हों। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारत में शिक्षा 'ज्ञानदान' या 'विद्यादान' अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है और यह दानी पुरूषों द्वारा होता है। अतः ज्ञान प्रसार का कार्य निस्वार्थ त्यागी पुरूषों के कन्धों पर ही होना चाहिए। शिक्षकों को निस्वार्थ भाव से शिक्षा देनी चाहिए न कि धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ की पूर्ति के लिए। शिक्षकों को मानव–जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से प्रेरित होना चाहिए क्योंकि स्वार्थ पूर्ण भाव, जैसे लाभ अथवा यश की इच्छा, इसके अभीष्ट उद्देश्य को नष्ट कर देगा।

शिक्षा के लिए विवेकानन्द गुरूगृह प्रणाली के पोषक थे। उनका मत था कि विद्यालयों का पर्यावरण एवं वातावरण गुरूगृह की ही तरह शुद्ध होना चाहिए, जहाँ व्यायाम, खेल–कूद, अध्ययन–अध्यापन के साथ भजन–कीर्तन और ध्यान की भी व्यवस्था हो। वे कहते है– ''मेरे विचार के अनुसार शिक्षा का अर्थ है गुरूकुल–वास। शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन के बिना कोई शिक्षा हो ही नहीं सकती। जिनका चरित्र जाज्वल्यमान अग्नि के समान हो, ऐसे

व्यक्ति के सहवास में शिष्य को बाल्यावस्था के आरम्भ से ही रहना चाहिए, जिससे कि उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने रहे।''

11.5.5 विद्यार्थी के कर्तव्य

शिक्षार्थी के लिए स्वामी जी कठोर नियमों का पालन एवं इन्द्रिय निग्रह पर जोर देते थे, जिससे छात्र शिक्षक में श्रद्धा रखकर सत्य को जानने का प्रयास करे। उन्होंने कहा ''शिक्षक के प्रति श्रद्धा, विनम्रता, समर्पण तथा सम्मान की भावना के बिना हमारे जीवन में कोई विकास नहीं हो सकता। उन देशों में जहाँ शिक्षक–शिक्षार्थी सम्बन्धों में उपेक्षा बरती गई है, वहाँ शिक्षक एक व्याख्याता मात्र रह गया है। वहाँ शिक्षक अपने लिये पाँच डालर की आशा रखने वाले और छात्र, शिक्षक के व्याख्यान को अपने मस्तिष्क में भरने वाले रह जाते हैं। इतना कार्य सम्पन्न होने पर दोनों अपनी–अपनी राह पर चल देते हैं। इससे अधिक उनमें कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।''

विवेकानन्द विद्यार्थी–जीवन में ब्रह्मचर्य पालन पर जोर देते हैं। उनके अनुसार इस काल में विद्यार्थी को मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य–पालन करना चाहिए। इससे संकल्प–शक्ति दृढ़ होती है तथा आध्यात्मिक शक्ति तथा वाग्मिता का विकास होता है।

11.5.6 नारी शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द स्त्री–पुरूष समानता के समर्थक थे। इसलिए महिलाओं की शिक्षा भी उनकी शिक्षा सम्बन्धी योजना में महत्वपूर्ण विषय है। उनका मानना था कि देश की उन्नति के लिए महिलाओं की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने तपस्वी, ब्रह्मचारिणी तथा त्यागी महिलाओं को प्रशिक्षण देना आवश्यक माना ताकि ऐसी महिलायें दूसरी महिलाओं को सम्यक शिक्षा प्रदान कर सकें।

महिलाओं की समुचित शिक्षा के लिए विवेकानन्द ने पुरूषों की भाँति महिलाओं के लिए अलग संघ स्थापित करने पर जोर दिया। उनका विचार था कि मठों की स्थापना के माध्यम से वहाँ प्रशिक्षित ब्रह्मचारी स्त्रियाँ, सन्यासी और सुशिक्षित बन कर नारी जाति को शिक्षा देने का प्रयास करेंगी। शिक्षित स्त्रियाँ भले–बुरे का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगी और स्वतंत्र तथा स्वाभाविक रूप से प्रगतिपथ पर अग्रसर हो सकेंगी। पुरूषों की तरह स्त्रियों को भी भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक विषयों तथा लौकिक विषयों की शिक्षा दी जानी

चाहिए, जिससे वे दूसरों तक सम्यक रूप से प्रसारित कर सकें।

वे कहते हैं कि ''जिस तरह माता–पिता अपने पुत्रों को शिक्षा देते है उसी तरह उन्हें पुत्रियों को भी शिक्षित करना चाहिए। जबकि हम उन्हें प्रारम्भ से ही दूसरे पर निर्भर रहकर परतंत्र रहने की शिक्षा देते हैं।'' विवेकानन्द की दृष्टि में मिलनी चाहिए कि वे दूसरों पर निर्भर रहने की बजाय स्वयं अपनी समस्याओं का निराकरण कर सकें। वे लड़कियों की शिक्षा के केन्द्र में धर्म को रखने का सुझाव देते हैं। इसके अतिरिक्त इतिहास एवं पुराण, गृह–व्यवस्था, कला एवं शिल्प, बच्चों की उचित देखभाल, पाक कला आदि की शिक्षा देने का सुझाव देते हैं। वे कन्याओं से 'सीता' के उज्ज्वल चरित्र से शिक्षा लेने को कहते हैं।

11.6 शिक्षा का प्रसार

स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्र और मानव की समस्याओं का निदान शिक्षा को माना। वे शिक्षा को समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के प्रभावशाली माध्यमों के प्रयोग पर बल दिया।

11.6.1 भ्रमणकारी सन्यासियों द्वारा शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द की यह योजना श्रमण प्रकृति से मिलती–जुलती है। उन्होंने कहा कि शिक्षा के प्रसार का कार्य उन हजारों सन्यासियों के माध्यम से हो सकता है जो गाँव–गाँव धर्मोपदेश करते हुए घूमते रहते हैं। उन्हीं के शब्दों में ''हमारे देश में एकनिष्ठ और त्यागी साधु हैं जो गाँव–गाँव धर्म की शिक्षा देते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ लोगों को शैक्षिक विषयों में भी प्रशिक्षित किया जाये तो गाँव–गाँव दरवाजे जाकर वे न केवल धर्म की ही शिक्षा देंगे बल्कि ऐहिक शिक्षा भी दिया करेंगे।'' उन्होंने उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया कि यदि इनमें से एक दो शाम को साथ में एक मैजिक लैन्टर्न, एक–एक ग्लोब और कुछ नक्शे आदि लेकर गाँव में जायें तो इनकी सहायता से वे अनपढ़ों को बहुत कुछ गणित, भूगोल, नक्षत्र–विज्ञान, ज्योतिष आदि की शिक्षा दे सकते हैं। ये सन्यासी विभिन्न देशों के बारे में कहानियाँ सुनाकर निर्धन लोगों को नाना प्रकार का समाचार दे सकते हैं जिनसे उनका ज्ञानवर्धन हो सके। बातचीत के माध्यम से सीधी सूचना के कारण ज्यादा प्रभावकारी जानकारी दी जा सकती है जो शायद पुस्तकों के माध्यम से संभव न हो सके।

विवेकानन्द ने गरीब लड़कों की आर्थिक मजबूरी को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट किया कि गरीब लड़के पाठशाला जाने की बजाय अर्थोपार्जन हेतु खेतों में माता–पिता की सहायता करने अथवा किसी अन्य तरीके से धन अर्जित करना ज्यादा पसन्द करते हैं, उनके लिए ऐसे सन्यासियों का घर–घर जाकर शिक्षा देना ज्यादा सराहनीय कदम होगा।

स्वामी जी शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने हेतु निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था चाहते थे। स्वामी जी मानते थे कि शिक्षा देने का कार्य त्यागी और तपस्वी पुरूषों का है। उन्हें लोभ से दूर रहते हुए ऐसे बालकों के पास पहुँचकर शिक्षा प्रदान करनी चाहिए जो आर्थिक अभाव के कारण शिक्षा ग्रहण करने हेतु अध्यापक के पास न आ पायें। स्वामी जी की मान्यता थी कि अशिक्षित जनसमूह को साक्षर बनाने की अपेक्षा जीवनोपयोगी शिक्षा देना अधिक आवश्यक है। इसलिए स्वामी जी औपचारिक शिक्षा के बजाय अनौपचारिक शिक्षा पर अधिक जोर देते थे।

11.6.2 रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानन्द ने मानव जाति के उत्थान के लिए नवीन सन्यासी सम्प्रदाय का गठन किया, जो रामकृष्ण मिशन के नाम से प्रसिद्ध है। विवेकानन्द ने इसका उद्देश्य निश्चित किया– ''आत्मनो मोक्षार्थ जगत् हिताय च।''– 'अपनी मुक्ति तथा जगत के कल्याण के लिए।' रामकृष्ण मठ की स्थापना 1897 में की गई तथा रामकृष्ण मिशन का पंजीकरण 1909 में किया गया। मठ और मिशन स्वामीजी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को साकार रूप देने का माध्यम है। मठ का मुख्य कार्यालय बेलूर मठ में है। देश में तो मठ और मिशन की अनेक शाखायें हैं ही, विदेशों में भी 130 शाखायें स्थापित की गई हैं। रामकृष्ण मठ और मिशन का मुख्य उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से समाज–सेवा है। पुनरूजीवित हिन्दू धर्म के लिए विश्व की सांस्कृतिक विजय को इसने अपना साध्य माना।

भारत में मठ और मिशन का कार्य है मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर समाज को आध्यात्मिक शांति और संसारिक वैभव से प्लावित करे। मनुष्य की संसारिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए 'विद्यादान' तथा 'ज्ञानदान', शिल्पकारों एवं श्रमजीवियों को प्रोत्साहित करना तथा वेदान्त एवं दूसरे धर्मों के भावों का प्रसार करना मिशन का उद्देश्य है।

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की मुहर के लिए साँप द्वारा घेरे

हुए कमल दल के बीच में हंस का छोटा सा चित्र तैयार किया था। इस चित्र का तरंगपूर्ण जल समूह कर्म का, कमल दल भक्ति का और उदयीमान सूरज ज्ञान का प्रतीक है। चित्र में जो साँप का घेरा है, वह योग और जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति का द्योतक है। चित्र के मध्य में जो हंस की मूर्ति है उसका अर्थ है परमात्मा। अर्थात् कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग के साथ सम्मिलित होने से ही परमात्मा का दर्शन होता है।

रामकृष्ण मिशन का एक महत्वपूर्ण कार्य है जनसेवा। यह आपदा की स्थिति में पूरी निष्ठा से लोगों की सेवा करता है। मठ के शैक्षिक उद्देश्यों पर जोर डालते हुए विवेकानन्द ने कहा ''इस मठ को धीरे–धीरे एक सर्वांग सुन्दर विश्वविद्यालय के रूप में परिणत करें। इसमें दर्शनशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के साथ–साथ औद्योगिक विषयों की भी शिक्षा देनी होगी।'' उनके विचार में राष्ट्र की उन्नति उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में जनता के मध्य शिक्षा का प्रसार होगा। विवेकानन्द के इन सुझावों पर मठ एवं मिशन चलने का प्रयास कर रहे हैं। इनके द्वारा अनेक विद्यालय, महाविद्यालय, शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, धार्मिक विद्यालय, औद्योगिक विद्यालय, कृषि संस्थान, संस्कृत विद्यालय एवं महाविद्यालय, पालीटेकनीक स्कूल, कम्प्यूटर सेन्टर, अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र आदि प्रभावशाली ढ़ंग से चलाये जा रहे हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के कौन से उद्देश्य बताये?

.....

.....

.....

.....

4. ज्ञान प्राप्त करने की कौन सी दो विधियों को स्वामी विवेकानन्द ने महत्वपूर्ण माना?

.....

.....

.....

.....

.....

5. रामकृष्ण मिशन के कौन से प्रमुख उद्देश्य हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.7 सारांश

यह इकाई स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गहन प्रकाश डालता है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन की उन प्रमुख घटनाओं की इसमें विवेचना की गई है, जिन्होंने उनके जीवन–दर्शन एवं शिक्षा–दर्शन के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विवेकानन्द के जीवन–दर्शन के महत्वपूर्ण संप्रत्ययोंः धर्म, अध्यात्म, सेवा, सत्य, राष्ट्रप्रेम आदि की व्याख्या की गई। इस इकाई में स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का विश्लेषण करते हुए बताया गया कि शिक्षा का तात्पर्य अन्तर्निहित शक्तियों का उद्घाटन है। इस प्राप्त करने हेतु स्वामी विवेकानन्द द्वारा सुझाए गए पाठ्यक्रम एवं ज्ञान प्राप्त करने की विधि का विश्लेषण किया गया। साथ ही शिक्षा प्रसार हेतु स्वामी विवेकानन्द द्वारा सुझाए गए अभिनव विधियों (सन्यासियों एवं रामकृष्ण मिशन द्वारा) की भी व्याख्या की गई है।

11.8 अभ्यास प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को मानव–जीवन के लिए आवश्यक क्यों बताया?
2. नव्य वेदान्त दर्शन से आप क्या समझते हैं?
3. स्वामी विवेकानन्द ने अध्यापक और विद्यार्थी के क्या कर्तव्य बताये?

4. स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के प्रसार हेतु किन–किन साधनों के उपयोग पर बल दिया?

11.9 बोध प्रश्नों का उत्तर

1. शिकागो के धर्म सम्मेलन में भाग लेने में स्वामी विवेकानन्द को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्हें कोई परिचय पत्र देने को तैयार नही था। वे अमेरिका एक धनहीन, मित्रहीन अज्ञात सन्यासी के रूप में गये थे। उनके पास पैसे नहीं थे और जाड़ा ऋतु के अनुरूप कपड़े भी नहीं थे। वे भिक्षा माँगकर भी काम नहीं चला सकते थे क्योंकि इससे उन्हें कारावास की सजा भुगतनी पड़ती। इन सबके बावजूद स्वामी विवेकानन्द ने हिम्मत नहीं हारी।

2. स्वामी विवेकानन्द सभी धर्मों की एकता में विश्वास रखते थे। उन्होंने धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया। उनका मानना था कि धर्म के मूल लक्ष्य के विषय में सभी धर्म एकमत हैं। आत्मा की भाषा एक है जबकि राष्ट्रों की भाषाएँ भिन्न हैं। धर्म आत्मा से सम्बन्धित है लेकिन वह विभिन्न राष्ट्रों एवं परम्पराओं के माध्यम से प्रकट होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संसार के सभी धर्मों का मूल आधार एक है, यद्यपि उसका स्वरूप भिन्न–भिन्न है।

3. स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बतायेः

   (i) अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना।

   (ii) मानव–निर्माण करना।

   (iii) शारीरिक पूर्णता की प्राप्ति।

   (iv) चरित्र का निर्माण करना।

   (v) जीवन–संघर्ष हेतु तैयार करना।

   (vi) राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना।

4. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने की दो प्रमुख विधियाँ हैं–

   (i) एकाग्रता एवं

   (ii) अनासक्ति

5. रामकृष्ण मिशन का प्रमुख लक्ष्य है 'आत्मनो मोक्षार्थ जगत् हिताय च।' अर्थात् अपनी मुक्ति तथा जगत के कल्याण के उद्देश्य को प्राप्त करना। इसके लिए उन्होंने रामकृष्ण मिशन के निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य तय किये।

   (i) दुखी, वंचित एवं पीड़ित जनता की सेवा करना।

   (ii) धर्म एवं अध्यात्म का प्रचार–प्रसार करना।

   (iii) जनसामान्य को शिक्षित करना।

   (iv) युवा पीढ़ी को स्वावलम्बी बनाना।

11.10 सहायक अध्ययन सामग्री

ओड़, लक्ष्मीलाल के0 (1983), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि*, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

गुप्त, राजेन्द्र प्रकाश (1997), *स्वामी विवेकानन्द व्यक्ति और विचार*, नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स।

स्वामी निर्वेदानन्द (1956), *ऑवर एडुकेशन*, कलकत्ता : रामकृष्ण मिशन।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर।

स्वामी विवेकानन्द (1982), *मेरी समरनीति*, नागपुर : रामकृष्ण मठ (पं0 सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा अनुवादित)।

स्वामी विवेकानन्द (2004), *एडुकेशन*, मद्रास : श्री रामकृष्ण मठ (टी0एस0 अविनाशलिंगम द्वारा सम्पादित)।

इकाई 12: श्री अरविन्द

संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 जीवन–वृत्त

12.4 जीवन–दर्शन

12.5 शिक्षा–दर्शन

12.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

12.5.2 पाठ्यक्रम

12.5.3 शिक्षण विधि

12.5.4 अरविन्द की दृष्टि में अध्यापक

12.5.5 छात्र संकल्पना

12.5.6 शिक्षण संस्थायें

12.6 सारांश

12.7 अभ्यास प्रश्न

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.9 सहायक अध्ययन सामग्री

12.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक शासन की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करने के लिए भारत माँ ने जिन महापुरूषों को जन्म दिया उनमें श्री अरविन्द प्रमुख थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। श्री अरविन्द एक महान लेखक, गंभीर विचारक, ओजस्वी पत्रकार, सफल राजनेता, सिद्ध द्रष्टा एवं विलक्षण योगी थे। इन सभी रूपों में उन्होंने परतंत्र राष्ट्र के स्वाभिमान को बढ़ाया। वस्तुतः श्री अरविन्द वैदिक काल से चली आ रही ऋषि परम्परा के उज्ज्वल कड़ी थे। विद्वानों ने उनके दर्शन को उपनिषदों के दर्शन के समकक्ष माना है। उन्हें उपनिषदों के भाष्यकार नहीं, स्वंय उपनिषदिक सत्य का द्रष्टा माना गया है। उन्होंने पाण्डिचेरी आश्रम में आजीवन योग और

शिक्षा में सर्वथा अभिनव प्रयोग करते हुए उन्हें आधुनिक युग के अनुकूल बनाने का महती कार्य किया।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई में हमलोग श्री अरविन्द के विचारों और कार्यों का अध्ययन करेंगे। अरविन्द के संश्लिष्ट जीवन–दर्शन और शिक्षा–दर्शन को सरल रूप में देखने का प्रयास करेंगे। जिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं का हमलोग इस इकाई में चर्चा करेंगे वे हैं–

1. श्री अरविन्द का जीवन–वृत्त
2. अरविन्द के व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम
2. श्री अरविन्द का जीवन–दर्शन
3. श्री अरविन्द का शिक्षा–दर्शन
4. श्री अरविन्द के दर्शन पर आधारित संस्थायें

12.3 जीवन–वृत्त

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में औपनिवेशिक शासन अपनी शक्ति के चरम पर पहुँच चुका था। राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भारत पराजित महसूस कर रहा था। इसी समय बौद्धिक रूप से समर्थ भारतीयों में भारत के पुनर्जागरण की लालसा तीव्र हो रही थी। वे भारत की गौरवशाली परम्परा के आधार पर एक समर्थ, शक्तिशाली एवं स्वशासी देश की कल्पना करने लगे थे। इसी राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक द्वंद के दौर में महर्षि अरविन्द का प्रादुर्भाव हुआ। उनके जीवन–वृत्त में इस द्वन्दात्मक राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवेश को आसानी से देखा जा सकता है।

श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता में हुआ था। वे तीन भाईयों में कनिष्ठ थे। उनके पिता कृष्णधन घोष एक प्रसिद्ध चिकित्सक थे। उन्होंने इंग्लैंड में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया था। वे पाश्चात्य संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे और उसी रंग में रंगे हुए थे। उनकी माता श्रीमती स्वर्णलता देवी प्रसिद्ध राष्ट्रवादी राजनारायण बोस की पुत्री थी। अरविन्द के पिता ने प्रारम्भ से यह प्रयास किया कि उनके बच्चों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव न पड़े– वे पश्चिमी संस्कृति के अनुरूप पलें–बढ़ें। अतः उन्होंने बाल्यवस्था में ही अरविन्द को दार्जिलिंग के आइरिश ईसाई स्कूल, लॉरेटो

कान्वेन्ट में प्रवेश दिलाया जहाँ अधिकांशतः अंग्रेजों के बच्चे थे। जब अरविन्द केवल सात वर्ष के ही थे तो उनके पिता ने उन्हें दोनों भाईयों सहित इंग्लैंड में श्रीमती ड्रेवेट के संरक्षण में आचार–विचार और शिक्षा ग्रहण करने के लिए छोड़ दिया। 1885 ई0 में अरविन्द का प्रवेश लन्दन के प्रसिद्ध सेन्टपॉल स्कूल में कराया गया। पाँच वर्ष की अल्पअवधि में ही उन्होंने पाश्चात्य शास्त्रीय भाषाओं– ग्रीक और लैटिन में दक्षता प्राप्त कर ली। साथ ही यूरोप की आधुनिक भाषाओं अंग्रेजी, फ्रेंच, इटालियन, जर्मन और स्पेनिश का भी उन्होंने अध्ययन किया। इतनी भाषाओं पर अधिकार कोई अत्यन्त ही कुशाग्र बुद्धि का छात्र कर सकता है।

1889 ई0 में उन्होंने कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज में प्रवेश लिया। यहाँ अध्ययन के दौरान उन्होंने आई0सी0एस0 की परीक्षा की तैयारी की। आई0सी0एस0 की नौकरी को अधिक सम्मान प्राप्त था– वस्तुतः भारत में ये सर्वोच्च नौकरशाह होते थे। और इसमें प्रायः अंग्रेज ही सफल होते थे। इस परीक्षा में अरविन्द ने ग्यारहवां स्थान प्राप्त कर उल्लेखनीय सफलता पाई। पिता का स्वप्न तो पूरा हो रहा था पर पुत्र को अंग्रेजों की दासता स्वीकार नहीं थी। अतः वे जानबूझ कर घुड़सवार की परीक्षा में अनुपस्थित रहे– इस तरह से उन्होंने आई0सी0एस0 की नौकरी का स्वेच्छा से त्याग कर दिया।

अरविन्द विद्यार्थी जीवन से ही भारत की परतंत्रता को अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण मानते थे। स्वतंत्रता हेतु संघर्षरत राजनीतिक संस्थाओं 'इंडियन मजलिस' तथा 'द लौटस एण्ड डैगर' के सम्पर्क में इंग्लैंड में आये। इंग्लैंड के प्रभुत्व के विरूद्ध संघर्ष कर रहे आयरिश स्वतंत्रता सेनानियों ने भी अरविन्द को उत्कट देशप्रेम की भावना से ओत–प्रोत कर दिया।

1893 में भारत लौटने पर अरविन्द ने बड़ौदा के उदार एवं प्रगतिशील महाराजा सयाजीराव के यहाँ तेरह वर्षों तक विभिन्न प्रशासनिक एवं अकादमिक पदों पर कार्य किया। इस दौरान उन्होंने बंगला एवं संस्कृत का गहन अध्ययन किया। उन्होंने कालिदास एवं भर्तृहरि के कार्यों का अंग्रेजी में अनुवाद किया।

उपनिषदों, पुराणों और भारतीय दर्शन के अध्ययन ने उनके मानस को गहराई से प्रभावित किया। वे अपनी स्थिति के बारे में लिखते है ''मुझमें तीन तरह के पागलपन हैं– प्रथम, मैं मानता हूँ कि सारी सम्पत्ति प्रभु की है और उसे प्रभु के कार्य में लगाना चाहिए। दूसरा पागलपन यह है कि चाहे जैसा हो, मैं भगवान का साक्षात् दर्शन करना चाहता हूँ और तीसरा पागलपन यह है कि

मैं अपने देश की नदियों, पहाड़ों, भूमि एवं जंगलों को एक भौगोलिक सत्तामात्र नहीं मानता। मैं इसे माता मानता हूँ और इसकी पूजा करता हूँ।''

1901 में अरविन्द का विवाह मृणालिनी देवी से हुआ। अरविन्द का जीवन अब भी योगी की तरह सादगी पूर्ण रहा। बंगाल में बढ़ती राष्ट्रीयता की भावना को दबाने के लिए 1905 में लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन कर दिया। पूरे भारत और विशेषकर बंगाल में अंग्रेजी सरकार के इस कदम का उग्र विरोध हुआ। अरविन्द बंगाल लौट आए और सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। स्वदेशी आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार में अरविन्द ने अहम भूमिका निभाई। कर्ल्क पैदा करने वाली औपनिवेशिक शिक्षा के विकल्प के रूप में राष्ट्रवादी भारतीयों ने कलकत्ता में ''नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन'' का गठन किया। श्री अरविन्द एक राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्राचार्य बने। विपिन चन्द्र पाल द्वारा शुरू की गयी राष्ट्रीय पत्रिका *वन्दे मातरम्* के सम्पादक श्री अरविन्द नियुक्त किए गए। इनके सम्पादकत्व में *वन्दे मातरम* राष्ट्रीय पुनरूत्थान एवं क्रान्तिकारी विचारों का सर्वप्रमुख वाहक बन गया। साथ ही 'युगान्तर' जैसी क्रान्तिकारी विचारधारा की पत्रिकाओं में भी वे लगातार अपने ओजस्वी विचार रख रहे थे। इसी दौरान उन्होंने स्वंय अंग्रेजी में '*कर्मयोगिन*' नामक पत्रिका का सम्पादन और प्रकाशन प्रारम्भ किया। बाद में बंगला भाषा में 'धर्म' नामक साप्ताहिक का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। अब श्री अरविन्द की ख्याति पूरे देश में एक अग्रणी राजनेता और प्रखर विचारक के रूप में होने लगी। स्वतंत्रता सेनानी उनसे प्रेरणा ग्रहण करते थे। 1908 में मुजफ्फरपुर में खुदीराम बोस द्वारा अंग्रेजों पर बम फेंके जाने वाले मामले में श्री अरविन्द को भी गिरफ्तार कर लिया गया। 1909 में जेल से रिहा हुए। कर्मयोगिन में प्रकाशित एक लेख के आधार पर अरविन्द पर राजद्रोह के मुकदमे की तैयारी होने लगी। इस दौरान वे राजनीति से सन्यास लेकर पहले चन्द्रनगर फिर पाण्डिचेरी चले गए। पाण्डिचेरी अब उनकी कर्मभूमि एवं तपोभूमि बन गई।

1910 से 1917 तक सार्वजनिक जीवन का पूर्णतः त्याग कर अरविन्द गम्भीर साधना में लीन रहे। फ्रांस में जन्मी मीरा रिचार्ड 1914 में श्री अरविन्द के सम्पर्क में आई। 1920 से आश्रम उन्हीं की देख रेख में आगे बढ़ता गया। उन्हें 'श्री माँ' के नाम से पुकारा जाने लगा। उन्हीं के सुझाव पर श्री अरविन्द ने '*आर्य*' नामक एक मासिक पत्रिका निकालना प्रारम्भ किया। इसमें अरविन्द

के प्रमुख कार्यों का प्रकाशन हुआ। पाण्डिचेरी में अरविन्द के साथ अनेक उपासक, साधक एवं उनके अनुगामी रहने लगे। 1926 ई0 में अरविन्द आश्रम की स्थापना की गई। अरविन्द पाण्डिचेरी में चार दशक तक सर्वांग योग की साधना में रत रहे। इस महायोगी ने 5 दिसम्बर, 1950 को रात्रि में चिर–समाधि ले ली।

महर्षि अरविन्द एक महान लेखक थे। उनकी पहली पुस्तक कविता–संग्रह थी जो सन् 1995 में प्रकाशित हुई और अंतिम कृति 'सावित्री' थी जो 1950 में प्रकाशित हुई। उन्होंने कविताओं एवं नाटकों के अतिरिक्त धर्म, अध्यात्म, योग, संस्कृति एवं समाज पर अनेक पुस्तकों एवं निबन्धों को लिखा। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं दि लाइफ डिवाइन, दि सिन्थिसि ऑफ योग, एसेज ऑन दि गीता, दि फाउन्डेशन्स ऑफ इन्डियन कल्चर, दि फ्यूचर पोयट्री, दि ह्यूमन साइकिल, दि आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, सावित्री आदि।

12.4 जीवन–दर्शन

श्री अरविन्द ने योग दर्शन के महत्व को रेखांकित करते हुए आधुनिक परिवेश के अनुरूप उसकी पुनर्व्याख्या की। उनके दर्शन को अनुभवातीत सर्वांग योग दर्शन के नाम से जाना जाता है क्योंकि उन्होंने अपने विचार को योग की संकुचित व्याख्या तक सीमित रखने की जगह सत्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न मार्गों को समन्वित रूप में बाँधकर देखने का प्रयास किया।

अरविन्द के अनुसार जीवन एक अखण्ड प्रक्रिया है। चेतना के अनेक स्तर हैं। इसे निम्नत्तर स्तर से उठाकर उच्चतम स्तर तक ले जाया जा सकता है। उन्होंने अनुभव किया कि आधुनिक युग में मस्तिष्क एवं बुद्धि की दृष्टि से विकास चरम को प्राप्त कर चुका है। अब दैवी समाज की कल्पना साकार की जा सकती है। अगर इससे आगे नहीं बढ़ा गया तो ह्रास या पराभव निश्चित है। अतः इस चेतन तत्व को प्रकाश, शक्ति एवं सत्य से समन्वित करना आवश्यक है। क्योंकि इसी के माध्यम से वह मानव जीवन के प्रमुख उद्देश्य अनुभवातीत सत्य–चेतन–तत्व में संपूर्ण रूप से रूपान्तरित हो सकती है।

श्री अरविन्द के अनुसार इस सृष्टि के रचयिता, पालनकर्ता और संहारक ईश्वर है। जिसे धर्म में ईश्वर कहा जाता है उसे ही दर्शन में ब्रह्म कहा गया है। ईश्वर सृष्टि का कर्ता, सनातन और सर्वात्मा है। ईश्वर परमपुरूष है, ब्रह्म निर्विकार एवं निराकार है किन्तु अन्ततः दोनों एक हैं। ईश्वर द्वारा इस

जगत के निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण श्री अरविन्द ने दो प्रकार से किया है। विकास की दो विपरीत दिशाएँ हैं– अवरोहण एवं आरोहण। ब्रह्म अवरोहण द्वारा अपने को वस्तु जगत में परिवर्तित करता है। इसके सात सोपान हैं– सत्, चित्त, आनन्द, अतिमानस, मानस, प्राण एवं द्रव्य। दूसरी प्रक्रिया है आरोहण की। इसमें द्रव्य रूप इस जगत में मनुष्य अपने द्रव्य रूप से आरोहण द्वारा सत् की ओर क्रमशः चलायमान होता है। इसके भी सात चरण हैं द्रव्य, प्राण, मानस, अतिमानस, आनन्द, चित्त और सत्। अरविन्द आत्मा को परमात्मा से इस अर्थ में भिन्न मानते हैं कि आत्मा में परमात्मा के दो गुण– आनन्द और चित्त तो होते हैं पर सत् नहीं। विभिन्न योनियों से होते हुए आत्मा मनुष्य योनि में प्रवेश करती है और आनन्द और चित्त के साथ सर्वोच्च उद्देश्य सत् को प्राप्त करती है। श्री अरविन्द भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही तत्वों के मूल में ब्रह्म को पाते हैं। अतः दोनों ही तरह के ज्ञान के एकात्मकता को जानना ही ज्ञान है। व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान को उन्होंने अन्य भारतीय मनीषियों की तरह दो भागों में बाँटा है– द्रव्यज्ञान (या अपरा विद्या) एवं आत्म ज्ञान (परा विद्या)। द्रव्यज्ञान प्रारम्भ है जिसकी परिणति आत्मज्ञान में होनी चाहिए। द्रव्यज्ञान प्राप्त करने का साधन इन्द्रियाँ हैं और आत्मज्ञान प्राप्त करने का साधन अन्तःकरण है। आत्मतत्व का ज्ञान योग के द्वारा ही संभव है। श्री अरविन्द के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य सत् चित्त एवं आनन्द की प्राप्ति है। इस महान लक्ष्य को गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं ध्यानयोग द्वारा प्राप्त किया सकता है। संसार से पलायन की जगह निष्काम भाव से कर्म करने से ही सत्, चित्त एवं आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। पर इसके लिए स्वस्थ शरीर, विकार रहित मन एवं संयमित आचार–विचार आवश्यक है। योग के द्वारा मानव अपने शरीर, सोच , विचार एवं कार्य पर नियंत्रण रख उन्हें उचित दिशा में ले जा सकता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. श्री अरविन्द ने अपने में स्थित पागलपन के संदर्भ में क्या कहा है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. विकास की दिशाओं– अवरोहण एवं आरोहण के कौन–कौन से सोपान हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

12.5 अरविन्द का शिक्षा–दर्शन

श्री अरविन्द का दर्शन इस धारणा पर आधारित है कि मानव का बौद्धिक विकास अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया है। इसके आगे आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। यदि मानव इस दिशा में नहीं बढ़ता है तो न केवल उसका विकल्प क्रम अवरूद्ध होगा वरन् वह पतन की ओर अग्रसर हो जायेगा।

इन्द्रियानुभव को श्री अरविन्द सर्वोच्च ज्ञान नहीं मानते थे, वरन् उसे निम्न कोटि का ज्ञान मानते थे। उनके अनुसार ज्ञान की अनेक कोटियाँ है और सर्वोच्च कोटि आध्यात्मिक अनुभूति है जिसे हम इस जगत में प्राप्त कर सकते हैं।

अरविन्द मनुष्य के एकांगी विकास को हानिप्रद मानते थे। वे स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु मानव के सर्वांगीण विकास पर जोर देते थे। इसके लिए उन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के समन्वय पर जोर दिया। उनके दर्शन में न तो प्राचीन भारतीय संस्कृति से पलायन का भाव है न ही पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण। दोनों का समन्वित रूप ही बेहतर शिक्षा व्यवस्था का विकास कर सकता है।

1907 में श्री अरविन्द ने 'ए सिस्टम ऑफ नेशनल एडुकेशन' नामक निबन्ध लिखा। इसमें उन्होंने अपनी शिक्षा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा ''प्रत्येक मानव के अन्दर कुछ ईश्वर प्रदत्त दिव्य शक्ति है, कुछ जो उसका अपना है, जिसे पूर्णता की ओर अग्रसर किया जा सकता है। शिक्षा का कार्य है इसे चिन्हित करना, विकसित करना एवं उपयोग में लाना। शिक्षा का सर्वप्रमुख लक्ष्य होना चाहिए विकसित होती आत्मा की अन्तर्निहित शक्ति को पूर्णतः विकसित कर श्रेष्ठ कार्य हेतु तैयार करना।'' 1910 में अपने एक दूसरे बहुचर्चित लेख में अरविन्द ने एक ऐसा वाक्य लिख जो शिक्षा का सूत्र वाक्य बन गया। उन्होंने लिखा ''सही शिक्षा का प्रथम सिद्धान्त है कि कुछ भी पढ़ाया नहीं जा सकता है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के विचार में हर व्यक्ति की आत्मा में ज्ञान अन्तर्निहित है। उन्होंने सही शिक्षा को उद्घाटित करने का साधन अन्तःकरण को माना। श्री अरविन्द के अनुसार अन्तःकरण के चार पटल हैं– चित्त, मानस, बुद्धि और अन्तर्दृष्टि। चित्त वस्तुतः भूतकालिक मानसिक संस्कार है। जब कोई व्यक्ति कोई बात याद करता है तो वह छन कर चित्त में संग्रहित होती है। इसी से क्रियाशील स्मृति आवश्यकता एवं क्षमतानुसार कभी–कभी कुछ चीजों को चुन लेती है। सही चुनाव हेतु उपयुक्त शिक्षा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे पटल मानस को मस्तिष्क कहा जा सकता है। यह ज्ञानेन्द्रियों से तथ्यों को प्राप्त कर उसे विचार का रूप देता है। ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मस्तिष्क स्वंय भी तथ्यों या संप्रत्ययों को ग्रहण करता है। अतः ज्ञानेन्द्रियों एवं मस्तिष्क का प्रशिक्षण लाभदायक है। अन्तःकरण के तीसरे पटल 'बुद्धि' की भूमिका शिक्षा में अधिक महत्वपूर्ण है। मस्तिष्क द्वारा प्राप्त किए ज्ञान को व्यवस्थित करना उनका विश्लेषण एवं संश्लेषण कर निष्कर्ष पर पहुँचने का कार्य बुद्धि का है। अन्तःकरण का चतुर्थ पटल 'अन्तर्दृष्टिपरक प्रत्यक्षीकरण' की शक्ति है। इससे ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन होता है और मानव भविष्य के बारे में भी जान सकता है। पर मानव का अन्तःकरण इस शक्ति को अभी तक जागृत नहीं कर सका है। यह विकास की अवस्था में है और भविष्य में सद्शिक्षा द्वारा इस अन्तर्निहित शक्ति को मानव प्राप्त कर सकता है।

12.5.1 शिक्षा का उद्देश्य

श्री अरविन्द ने शिक्षा के निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्देश्य बतायें–

बालक का सर्वांगीण विकास

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सर्वांगीण विकास करना है। ताकि इनका उपयोग वे स्वंय में निहित दैवी सत्य को प्राप्त करने में उपकरण के रूप में कर सकें। शिक्षा छात्रों को स्वंय का समग्र रूप से विकास करने में सहायता प्रदान करती है। वे बालक के शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा आदि विभिन्न पक्षों के समन्वित विकास पर बल देते हैं। श्री अरविन्द एसेज ऑन द गीता में लिखते हैं ''बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और जीवन पूर्ण है, उसको अभिव्यक्त करने वाली होनी चाहिए। मानस की क्रिया और विकास जिस साँचे में ढ़लनी चाहिए, वह उनके अन्तरंग गुण और शक्ति का साँचा है। उसे नई वस्तुएँ अवश्य प्राप्त करनी चाहिए, परन्तु वह उनको सर्वोत्तम रूप से और सबसे अधिक प्राणमय रूप में स्वयं अपने विकास, प्रकार और अन्तरंग शक्ति के आधार पर प्राप्त करेगा।''

आत्म–तत्व की शिक्षा

अरविन्द शिक्षा का उद्देश्य सूचनाओं को एकत्र करना नहीं मानते। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है आत्म–तत्व की शिक्षा या आत्म–शिक्षा प्रदान करना। जिससे मानव आत्म तत्व को परमात्मा के साथ एकाकार कर सके।

विद्यार्थी का सामाजिक विकास

अरविन्द ने शिक्षा का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य बालकों में सामाजिक पक्ष के विकास को माना। वे एक दैवी समाज और दैवी मानव की कल्पना करते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य ऐसे सर्वांग पूर्ण मनुष्य का विकास करना है, जो केवल व्यक्ति के रूप में ही नहीं बल्कि समाज के सदस्य के रूप में विकसित होता है।

राष्ट्रीयता की शिक्षा

श्री अरविन्द का दृढ़ विश्वास था कि मानव की ही तरह प्रत्येक राष्ट्र की भी आत्मा होती है जो मानव–आत्मा एवं सार्वभौमिक–आत्मा के मध्य की कड़ी है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में चल रहे राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन को अरविन्द ने नेतृत्व प्रदान किया था। अतः वे एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का विकास करना चाहते थे जो भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के अनुरूप

हों। उनका कहना था कि ''हम जिस शिक्षा की खोज में हैं, वह एक भारतीय आत्मा और आवश्यकता तथा स्वभाव और संस्कृति के उपयुक्त शिक्षा है, केवल ऐसी शिक्षा नहीं है जो भूतकाल के प्रति भी आस्था रखती हो, बल्कि भारत की विकासमान आत्मा के प्रति, उसकी भावी आवश्यकताओं के प्रति, उसकी आत्मोत्पत्ति की महानता के प्रति और उसकी शाश्वत आत्मा के प्रति आस्था रखती है।''

सामन्जस्य की शिक्षा

श्री अरविन्द बाह्य रूप से विरोधी दिख रहे तत्वों में एक व्यापक सामन्जस्य की संभावना देखते थे। उनके विचारों में हम ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, द्वैत और अद्वैत का समन्वय आसानी से देख सकते है। श्री अरविन्द शिक्षा के द्वारा सामन्जस्य और समन्वय की प्रक्रिया को मानव मात्र के कल्याण के लिए और आगे ले जाना चाहते थे।

इस प्रकार से श्री अरविन्द ने शिक्षा के द्वारा व्यक्तित्व के सर्वांगीण और समन्वित विकास पर बल दिया। वे शिक्षा को सौंदर्य पर आधारित करना चाहते थे ताकि सत्य की अनुभूति हो सके। इस प्रकार उनकी शिक्षा का लक्ष्य सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वित रूप को प्राप्त करना था।

12.5.2 पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम निर्माण के सन्दर्भ में अरविन्द के आधारभूत तीन सिद्धान्त हैं:—

i. बालक स्वयं सीखता है, अध्यापक उसकी सहायता सुषुप्त शक्तियों के समझने में करता है।

ii. पाठ्यक्रम बच्चे की विशिष्टताओं को ध्यान में रख कर बनाना चाहिए। यह आत्मानुभूति के महान उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

iii. पाठ्यक्रम निर्माण में वर्तमान से भविष्य तथा समीप से दूर का सिद्धान्त अपनाना चाहिए। शिक्षा 'स्वदेशी' सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। पूर्व तथा पश्चिम के ज्ञान के समन्वय पर अरविन्द जोर देते थे— पर उनका मानना था कि पहले स्वदेशी ज्ञान में विद्यार्थी की नींव मजबूत कर ही पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा दी

जानी चाहिए। वे कहते हैं ''सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का लक्ष्य और सिद्धान्त निश्चय ही आधुनिक सत्य और ज्ञान की अवहेलना करना नहीं है, बल्कि हमारी नींव को हमारे अपने विश्वास, हमारे अपने मस्तिष्क, हमारी अपनी आत्मा पर आश्रित करना है।''

श्री अरविन्द ने अपनी सर्वांग विचारधारा के अनुरूप शिक्षा क्रम की एक वृहद पन्चमुखी योजना प्रस्तुत की। ये पाँच पक्ष हैं– भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अन्तरात्मिक तथा आध्यात्मिक। ये पाँचों पक्ष उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाएँ हैं। साथ ही प्रारम्भ होने के उपरांत प्रत्येक पक्ष का विकास आजीवन होता रहता है।

(i) **शारीरिक शिक्षाः**– शरीर मानव के सभी कर्मों का माध्यम है। श्री अरविन्द का योग दर्शन में स्वस्थ शरीर को बहुत महत्व दिया गया है। शारीरिक शिक्षा के तीन पक्ष हैं– (अ) शारीरिक क्रियाओं को संयमित करना (ब) शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का समन्वित विकास (स) शारीरिक दोषों को खत्म करना। शारीरिक विकास हेतु श्री अरविन्द आश्रम में योग, व्यायाम और विभिन्न प्रकार के खेलों की समुचित व्यवस्था है।

(ii) **प्राणिक शिक्षाः**– प्राणिक शिक्षा के अन्तर्गत इच्छा–शक्ति को दृढ़ करने का अभ्यास कराया जाता है। तथा चरित्र निर्माण पर जोर दिया जाता है। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति उपदेशों या व्याख्यानों से नहीं हो सकती है। अध्यापकों को आदर्श–व्यवहार प्रस्तुत करना होता है ताकि छात्र उनकी अच्छाइयों को ग्रहण कर सकें। साथ ही महापुरूषों के आदर्श उपस्थित करने होते हैं। छात्र स्वाध्याय एवं संयम से भी इन गुणों को प्राप्त करता है।

(iii) **मानसिक शिक्षाः**– मन अत्यधिक चंचल होता है इसलिए इसे नियंत्रित करना कठिन है। पुस्तकीय ज्ञान या तथ्यों के संकलन से यह कार्य नहीं हो सकता है। मानसिक शिक्षा स्वस्थ संस्कृति के निर्माण एवं बेहतर सामाजिक सम्बन्धों के लिए आवश्यक है। श्री माताजी के अनुसार मन की शिक्षा के पाँच अंग हैं–

1. एकाग्रता की क्षमता को जाग्रत करना।
2. मन को व्यापक, विस्तृत और समृद्ध बनाना।
3. उच्चतम लक्ष्य का निर्धारण कर समस्त विचारों को उसके साथ सुव्यवस्थित करना।
4. विचारों पर संयम रखना तथा गलत विचारों का त्याग करना।
5. मानसिक स्थिरता, पूर्ण शान्ति तथा सर्वोच्च सत्ता से आने वाली अंतःप्रेरणाओं को सही स्वरूप में ग्रहण करने की क्षमता का विकास करना।

मानसिक विकास के लिए योग को अपनाना आवश्यक है। यम, नियम, आसान और प्राणायाम विद्यार्थी की एकाग्रता बढ़ाने में सहायक होते हैं।

(iv) **आन्तरात्मिक शिक्षाः**— आन्तरात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत उन शाश्वत दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जो मानव मन में प्रारम्भ से ही मथता रहा है जैसे जीवन का लक्ष्य क्या है? पृथ्वी पर मनुष्य के अस्तित्व का क्या कारण है? मानव और शाश्वत सत्ता का क्या सम्बन्ध है? आदि। अन्तरात्मा के विकास के बिना मानव के संपूर्ण विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। अन्तरात्मा के विकास से ही मानव जीवन—लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अन्तरात्मा के विकास के लिए योग—साधना आवश्यक है।

(v) **आध्यात्मिक शिक्षाः**— आध्यात्मिक शिक्षा शिक्षा प्रक्रिया का उच्चतम शिखर है। इसके माध्यम से शिक्षार्थी सार्वभौम सत्ता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। श्री माताजी के अनुसार आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर ''सहसा एक आन्तरिक कपाट खुल जाएगा और तुम सब ऐसी ज्योति में प्रवेश करोगे जो तुम्हें अमरता का आश्वासन प्रदान करेगी तथा स्पष्ट अनुभव कराएगी कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे। नाश बाह्य रूपों का होता है और अपनी वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध में तुम्हें यह भी पता लगेगा

कि ये रूप वस्त्रों के समान हैं, जिन्हें पुराने पड़ जाने पर फेंक दिया जाता है।''

श्री अरविन्द मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने के प्रबल पक्षधर थे। उनका मानना था कि विदेशी भाषा के शब्दों का संदर्भ भिन्न होता है अतः विदेशी भाषा का उपयोग विद्यार्थी का ध्यान शिक्षण–तत्व से हटाती है और वह एकाग्र होकर शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाता है। पर श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं के विरोधी भी नहीं थे। वे चाहते थे छात्र अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं को सीखें।

विभिन्न विषयों के शाब्दिक ज्ञान के साथ–साथ श्री अरविन्द ने पाठ्यक्रम में विभिन्न क्रियाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने विद्यालय को समुदाय के सामाजिक–आर्थिक परिवेष से जोड़ने पर बल दिया। वे शिल्प की शिक्षा पर बल देते थे। वे काव्य, कला और संगीत की शिक्षा आवश्यक मानते थे। इन सबसे सृजनात्मकता और कल्पनाशीलता का विकास होता है। श्री अरविन्द विज्ञान की शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हैं। विज्ञान से अन्वेषण, विश्लेषण, संश्लेषण तथा समालोचना की शक्ति का विकास होता है। प्रकृति के विभिन्न जीवों, पादपों एवं पदार्थों के अवलोकन एवं अध्ययन से मानसिक शक्तियों का विकास होता है और संवेदनशीलता बढ़ती है।

वस्तुओं के उपरांत शब्दों और विचारों पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है। वे राष्ट्रीय साहित्य और इतिहास का शिक्षण आवश्यक मानते थे। वे राष्ट्र को भूमि के टुकड़े से बहुत अधिक मानते थे। इतिहास के माध्यम से वे विद्यार्थियों में राष्ट्रप्रेम की भावना का विकास करना चाहते थे। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के दौरान विद्यार्थियों की एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहाः ''एक राष्ट्र के इतिहास में कभी–कभी ऐसे समय भी आते है, जबकि दैव उसके सम्मुख एक ऐसा कार्य, एक ऐसा लक्ष्य उपस्थित कर देता है जिसके सामने प्रत्येक वस्तु त्याग देनी होती है– चाहे वह कितनी भी ऊँची और पवित्र क्यों न हो। हमारी मातृभूमि के लिए भी ऐसा समय आ गया है, जबकि उसकी सेवा से अधिक प्रिय और कुछ नहीं है, जबकि अन्य सबकुछ को इसी लक्ष्य की ओर निर्देशित किया जाना चाहिये। तुम अध्ययन करते हो तो उसी के लिए अध्ययन करो। अपने शरीर, मन और आत्मा को उसी की सेवा के लिए प्रशिक्षित करो। तुम अपनी आजीविका कमाओगे, ताकि तुम उसके लिए जीवित रह सको। तुम विदेशों को जाओगे ताकि तुम ज्ञान के साथ वापस

लौट सको जिससे कि तुम उसकी सेवा कर सको।''

श्री अरविन्द नैतिक शिक्षा को आवश्यक मानते हैं। वे राजनीति को भी नीति पर आधारित करना चाहते थे। वे धर्म के मूल तत्वों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने का सुझाव देते हैं। वे धर्म को आत्मा और प्रकृति के बीच मध्यस्थ के रूप में देखते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं श्री अरविन्द शारीरिक शिक्षा पर बल देते हैं क्योंकि शरीर ही सारे धर्म और कर्म का आधार है। वे योग के द्वारा मन, मस्तिष्क और शरीर तीनों का सही दिशा में सामन्जस्यपूर्ण विकास पर बल देते हैं।

12.5.1 शिक्षण–विधि

यद्यपि अरविन्द ने शिक्षण विधि के बारे में स्पष्ट नीति या कार्ययोजना का विकास नहीं किया पर उनके कार्यों से उनकी शिक्षण विधि के संदर्भ में मूलभूत सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जा सकता है।

श्री अरविन्द का यह मानना था कि छात्र को कुछ भी ऐसा नहीं सिखाया नहीं जा सकता जो पहले से उसमें निहित नहीं है। छात्र को सीखने की स्वतंत्रता होनी चाहिए– शिक्षक का कर्तव्य है कि वह उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करे। शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया में बच्चे की इच्छा एवं रूचि अधिक महत्व रखता है। विद्यार्थी जिस विषय की शिक्षा में रूचि रखता हो उसे उस विषय की शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही शिक्षण विधि का चयन छात्र की रूचि के अनुसार होनी चाहिए। शिक्षक को इस तरह से शिक्षण कार्य करना चाहिए कि छात्र पढ़ाये जा रहे पाठ एवं विषय में रूचि ले।

श्री अरविन्द ने इस बात पर जोर दिया कि बच्चे की शिक्षा वर्णमाला से प्रारम्भ नहीं होनी चाहिए। उसे प्रारम्भ में प्रकृति के विभिन्न रूपों– पेड़–पौधों, सितारों, सरिता, वनस्पतियों एवं अन्य भौतिक पदार्थों का निरीक्षण करने का अवसर देना चाहिए। इससे विद्यार्थियों में निरीक्षण शक्ति, संवेदनशीलता, सहयोग एवं सहअस्तित्व का भाव विकसित होता है। इसके बाद अक्षरों या वर्णों को सिखाना चाहिए। फिर शब्दों का अर्थ बताकर उनका विभिन्न तरीकों से प्रयोग करना सिखाना चाहिए। शब्द प्रयोग द्वारा साहित्यिक क्षमता का विकास होता है।

विज्ञान–शिक्षण में छात्र की जिज्ञासा प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके लिए आस–पास के वातावरण में स्थित जीव–जन्तु, पेड़–पौधे, मिट्टी–पत्थर, तारे–नक्षत्र आदि का निरीक्षण कर प्रकृति के रहस्यों का

उद्‌घाटन कर विभिन्न विज्ञानों की शिक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिए।

छात्रों को दर्शन पढ़ाते समय छात्रों में बौद्धिक चेतना का विकास करने का प्रयास करना चाहिए। इतिहास इस तरह से पढ़ाया जाना चाहिए कि विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो। श्री अरविन्द शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग पर बल देते थे। इससे राष्ट्रीय साहित्य एवं इतिहास को समझने में आसानी होती है, साथ ही चारों ओर के परिवेश का भी बेहतर ज्ञान मिलता है।

अरविन्द ने ऐसी शिक्षण–विधि अपनाने पर जोर दिया जिससे छात्र शिक्षा का अर्थ केवल सूचनाओं का संग्रह न माने। वह रटने पर जोर न दे वरन् ज्ञान प्राप्त करने के कौशलों को महत्वपूर्ण मानकर उनका विकास करे। विद्यार्थियों में समझ, स्मृति, निर्णय क्षमता, कल्पना, तर्क, चिन्तन जैसी शक्तियों का विकास किया जाना चाहिए।

श्री अरविन्द धार्मिक शिक्षा को आवश्यक मानते थे, पर उनका यह स्पष्ट मत है कि सप्ताह के कतिपय दिनों में कुछ कालांशों को धार्मिक शिक्षा के लिए तय कर उसकी शिक्षा देना उचित या लाभदायक नहीं है। धार्मिक शिक्षा बाल्यावस्था से ही पवित्र, शान्त एवं शुद्ध प्राकृतिक वातावरण में दी जानी चाहिए। आस्था से पूर्ण जीवन ही धार्मिक शिक्षा का बेहतर माध्यम है।

12.5.4 अरविन्द की दृष्टि में अध्यापक

अध्यापक मात्र 'इन्स्ट्रक्टर' नहीं है। उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य ''अपने आपको समझने'' में छात्र की सहायता करना है। वह सूचनाओं को विद्यार्थियों के समक्ष परोसने वाला नहीं वरन् मार्ग–दर्शक है। अध्यापक विद्यार्थियों की क्रियात्मक एवं रचनात्मक शक्तियों के विकास में सहायता प्रदान करता है।

महर्षि अरविन्द के अनुसार शिक्षक को राष्ट्रीय संस्कृति के माली के रूप में कार्य करना चाहिए। उसका कर्तव्य है संस्कार की जड़ों में खाद देना। और जड़ों को सींच–सींच कर विद्यार्थी को महा–मानव बनाना।

महर्षि अरविन्द की शिष्या श्री माँ ने माता–पिता के कर्तव्यों के संदर्भ में जो बाते कहीं वह अध्यापकों पर भी पूर्णतः लागू होती है। वे कहती हैं ''बच्चे को शिक्षा देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रथम कर्तव्य है अपने आप को शिक्षित करना, अपने बारे में सचेतन होना और अपने ऊपर नियन्त्रण रखना,

जिससे हम अपने बच्चे के सामने कोई बुरा उदाहरण प्रस्तुत न करें। उदाहरण द्वारा ही शिक्षा फलदायी होती है। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारा बच्चा तुम्हारा आदर करे, तो अपने लिए आदर भाव रखो और हर क्षण सम्मान के योग्य बनो। कभी भी स्वेच्छाचारी, अत्याचारी, असहिष्णु और क्रोधित मत होओ। जब तुम्हारा बच्चा तुमसे कोई प्रश्न पूछे, तब तुम यह समझकर कि वह तुम्हारी बात नहीं समझ सकता, उसे जड़ता और मूर्खता के साथ कोई उत्तर मत दो। अगर तुम थोड़ा कष्ट उठाओ तो तुम्हारी बात वह हमेशा समझ सकेगा।''

अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी में कार्य करने वाले अध्यापकों को अलग से कोई वेतन नहीं दिया जाता है। श्री अरविन्द शिक्षा को धन के आदान प्रदान से जोड़ कर इसे व्यापार का रूप देने के विरोधी थे। अतः आश्रम–विद्यालय और विश्वविद्यालय के कार्यरत अध्यापकों की आवश्यकता को आश्रम उसी तरह से पूरा करता है जैसे अन्य साधकों की। यह प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के महान आदर्श पर आधारित है जब गुरू शिष्यों से अध्ययन काल के दौरान कोई आर्थिक माँग नहीं करते थे।

12.5.5 छात्र–संकल्पना

श्री अरविन्द विद्यार्थी को प्रछन्न रूप में 'सर्वशक्तिमान चैतन्य' मानते हैं। वे विद्यार्थी को केवल शरीर के रूप में ही नहीं देखते हैं। शरीर के साथ–साथ प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा आदि विभिन्न पक्षों को समान महत्व देते हैं। इन सबका वे समन्वित विकास चाहते हैं। महर्षि अरविन्द शिक्षा में *अन्तःकरण* को महत्वपूर्ण मानते हैं। जैसा कि हम लोग पहले ही देख चुके हैं अन्तःकरण के कई स्तर होते हैं। अन्तःकरण का प्रथम स्तर ''चित्त'' कहलाता है। यह स्मृतियों का संचय स्थल है। द्वितीय स्तर ''मन'' कहलाता है। यह इन्द्रियों से सूचनाओं एवं अनुभवों को ग्रहण कर उन्हें संप्रत्ययों एवं विचारों में परिवर्तित करता है। अन्तःकरण का तृतीय स्तर ''बुद्धि'' है। जिसका शिक्षा प्रक्रिया में अत्यधिक महत्व है। यह सूचनाओं एवं ज्ञान–सामग्रियों को व्यवस्थित करता है, निष्कर्ष निकालता है और सामान्यीकरण करता है। इस तरह से बुद्धि सिद्धान्त निरूपण करता है। अन्तःकरण का सर्वोच्च स्तर ''साक्षात अनुभूति'' है। श्री अरविन्द का स्पष्ट मत है कि ''मस्तिष्क को ऐसा कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता, जो कि बालक में सुप्त ज्ञान के रूप में पहले से ही विद्यमान न हो।'' अध्यापक इन अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत करता है, बाहर से वह कुछ भी आरोपित नहीं कर सकता है।

बालक के सभी शारीरिक तथा मानसिक अंग उसके स्वयं के वश में होने चाहिए, न कि अध्यापक के नियन्त्रण में। बालक की रूचियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें कार्य मिलना चाहिए।

अरविन्द आश्रम की सारी शिक्षा–व्यवस्था निःशुल्क है। विद्यार्थी एक बार अगर प्रवेश पा लेता है तो उसे कोई शुल्क नहीं देना पड़ता है। यह प्राचीन गुरूकुल व्यवस्था के अनुरूप है। श्री अरविन्द विद्यार्थियों में स्वअनुशासन की भावना जगाना चाहते थे। आश्रम का सम्पूर्ण वातावरण आध्यात्मिक है अतः स्वभाविक है कि यहाँ के विद्यार्थियों की चेतना का स्तर ऊँचा हो।

12.5.6 शिक्षण–संस्थायें

राजनीति से सन्यास ग्रहण करने के उपरांत 1910 में श्री अरविन्द पाण्डिचेरी आ गये। वे यहीं साधना–रत हो गये। धीरे–धीरे साधकों एवं अरविन्द के अनुगामियों की संख्या बढ़ती गई। 1926 में यहाँ अरविन्द आश्रम की स्थापना की गई। 1940 से साधकों को आश्रम में बच्चों को रखने की अनुमति दे दी गई। बच्चों की आवश्यकता को देखते है श्री अरविन्द ने 1943 में आश्रम विद्यालय की स्थापना की।

6 जनवरी, 1952 को श्री माँ ने 'श्री अरविन्दो इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी सेन्टर' की स्थापना की– जिसे बाद में 'श्री अरविन्द इन्टरनेशनल सेन्टर ऑफ एडुकेशन' के नाम से जाना गया। यह पाण्डिचेरी के योगाश्रम का अविभाज्य अंग है क्योंकि योग और शिक्षा का उद्देश्य समान है– सम्पूर्णता की प्राप्ति कर शाश्वत सार्वभौमिक सत्ता से आत्मतत्व का मिलन। इस तरह यहाँ प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च स्तर की शिक्षा एवं शोध की व्यवस्था है।

चूँकि शिक्षा का उद्देश्य है आत्मतत्व की जागृति एवं विकास, अतः लड़कों एवं लड़कियों की शिक्षा के केन्द्र में कोई कृत्रिम अन्तर नहीं किया जाता है। अतः अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के केन्द्र में लड़कियों के लिए भी वही शैक्षिक कार्यक्रम है जो लड़कियों के लिए। यहाँ तक कि शारीरिक शिक्षा में भी भिन्नता नहीं है। इसके बावजूद विकल्प बहुत अधिक हैं पर चयन का आधार लिंग या परम्परागत निषेध न होकर आन्तरिक अभिरूचि है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था बहुत हद तक वाणिज्य का रूप ले चुकी है जहाँ अध्यापक अर्थिक लाभ के लिए अध्यापन करता है और छात्र पैसा चुका कर अन्य चीजों की तरह शिक्षा को खरीदते हैं। आश्रम में एक बार प्रवेश के बाद शिक्षा पूर्णतः निःशुल्क है। और अध्यापक भी अन्य साधकों की ही तरह आश्रम की व्यवस्था से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। उन्हें अलग

से कोई वेतन नहीं दिया जाता है। वे प्रेम और सत्य की खोज के सहयात्री हैं न कि ज्ञान का बेचने और खरीदने वाले। शिक्षा केन्द्र एक समुदाय एवं एक चेतना के रूप में कार्य करता है जिसके केन्द्र में समर्पण का भाव है। 1973 में अपने शरीर–त्याग के पूर्व श्री माँ ने शिक्षा केन्द्र की जड़ें मजबूत कर दी थी। उनके बाद भी अरविन्द के आदर्शों के अनुरूप शिक्षा केन्द्र शिक्षण–अधिगम के क्षेत्र में नये–नये प्रयोग कर रहा है।

1968 में श्री माँ ने 'ओरोविले' की स्थापना की। यह जाति, धर्म, भाषा, प्रजाति से ऊपर उठकर संपूर्ण नगर के सामूहिक निवास एवं शिक्षा का अद्‌भुत प्रयोग है। यह मानव के भविष्य में विश्वास की अभिव्यक्ति है। ओरोविले जीने की एक 'नई शैली' के विकास का प्रयास है जो श्री अरविन्द के 'नई मानवता' के संप्रत्यय पर आधारित है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. शिक्षा की पन्चमुखी योजना के पाँच पक्ष कौन–कौन से हैं?

.....

.....

4. श्री अरविन्द के अनुसार प्रारम्भ में बच्चे को किस चीज की शिक्षा देनी चाहिए?

.....

.....

5. श्री अरविन्द के दर्शन पर आधारित कौन सी शिक्षण संस्थायें हैं?

.....

.....

12.6 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने श्री अरविन्द के प्रमुख राजनीतिक, साहित्यिक,

आध्यात्मिक प्रयोगों एवं कार्यों को समझा। श्री अरविन्द एक साथ एक महान विचारक, राजनेता, साहित्यकार, शिक्षक एवं योगी थे। उन्होंने सर्वांग योग की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के माध्यम से अतिमानस के विकास का प्रयास किया। इस इकाई में हमलोगों ने पाया कि अरविन्द अपनी शिक्षा व्यवस्था में भारतीय परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों एवं आधुनिक विज्ञान के समन्वय पर जोर देते हैं। वे हर तरह से समन्वयवादी थे। उनमें प्रखर राष्ट्रीयता का भाव था पर उनका सारा दर्शन और योग मानव मात्र के कल्याण के लिए था। यही तथ्य उनके प्रयोगों एवं कार्यों को आज भी प्रासंगिक बनाता है।

12.7 अभ्यास प्रश्न

1. श्री अरविन्द की 'ब्रह्म और ईश्वर की संकल्पना' को स्पष्ट करें।
2. श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?
3. 'श्री अरविन्द की शिक्षा व्यवस्था प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के श्रेष्ठ तत्वों का समन्वय है।' विवेचना करें।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. श्री अरविन्द ने अपने पागलपन के संदर्भ में कहा है– ''मुझमें तीन तरह के पागलपन हैं– प्रथम, मैं मानता हूँ कि सारी सम्पत्ति प्रभु की है और उसे प्रभु के कार्य में लगाना चाहिए। दूसरा पागलपन यह है कि चाहे जैसा हो, मैं भगवान का साक्षात् दर्शन करना चाहता हूँ और तीसरा पागलपन यह है कि मैं अपने देश की नदियों, पहाड़ों, भूमि एवं जंगलों को एक भौगोलिक सत्तामात्र नहीं मानता। मैं इसे माता मानता हूँ और इसकी पूजा करता हूँ।''

2. *अवरोहण* के सोपान हैं– सत्, चित्त आनन्द, अतिमानस, मानस, प्राण एवं द्रव्य।

आरोहण के सोपान हैं– द्रव्य, प्राण, मानस, अतिमानस, आनन्द, चित्त और सत्।

3. शिक्षा की पन्चमुखी योजना के पाँच पक्ष हैं:–

i. शारीरिक शिक्षा

ii. प्राणिक शिक्षा

iii. मानसिक शिक्षा

iv आन्तरात्मिक शिक्षा एवं

v. आध्यात्मिक शिक्षा

4. बच्चे की शिक्षा वर्णमाला से प्रारम्भ नहीं होनी चाहिए। उसे प्रारम्भ में प्रकृति के विभिन्न रूपों– पेड़–पौधों, सितारों, सरिता, वनस्पतियों एवं अन्य भौतिक पदार्थों का निरीक्षण करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इससे विद्यार्थियों में निरीक्षण शक्ति, संवेदनशीलता, सहयोग एवं सहअस्तित्व का भाव विकसित होता है। इसके उपरांत वर्णमाला एवं शब्दों का ज्ञान देना चाहिए।

5. श्री अरविन्द के सिद्धान्तों पर आधारित महत्वपूर्ण शिक्षण संस्थायें हैं–

   (i) श्री अरविन्दो आश्रम

   (ii) श्री अरविन्दो आश्रम विद्यालय

   (iii) श्री अरविन्दो इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी सेन्टर या श्री अरविन्दो इन्टरनेशनल सेन्टर ऑफ एडुकेशन

   (iv) ओरोविले

12.9 सहायक अध्ययन सामग्री

अरविन्द, श्री (1969), *योग समन्वय,* पाण्डिचेरीः श्री अरविन्द सोसायटी।

ओड़, लक्ष्मीलाल के0 (1983), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि,* जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

किरण, अमल (1995), *आस्पेक्टस् ऑफ श्री अरविन्दो,* वाटरफोर्डः इन्टीग्रल लाइफ फाउन्डेशन।

डावसेट, नार्मन सी0 (1996), *एडुकेशन एण्ड दि ग्रोइंग चाइल्ड,* पाण्डिचेरीः श्री अरविन्दो सोसाइटी।

दास, मनोज (1999), *श्री अरविन्दो ऑन एडुकेशन,* दिल्लीः एन0सी0टी0ई0।

दि मदर (1978), *ऑन एडुकेशन,* पाण्डिचेरीः श्री अरविन्दो सोसाइटी।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

खण्ड

4

प्रमुख भारतीय शिक्षाशास्त्री

इकाई-13
रवीन्द्रनाथ टैगोर 7

इकाई-14
महामना पं0 मदन मोहन मालवीय 29

इकाई-15
महात्मा गाँधी 50

इकाई-16
राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन 70

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सम्पादक

प्रो0 एस0 पी0 गुप्ता	निदेशक शिक्षा विद्या शाखा उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 एन0 पी0 भोक्ता	वरिष्ठ उपाचार्य, शिक्षा शास्त्र विभाग दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, जून 2009,
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

MAED-08 : शैक्षिक विचारक

खण्ड 1. पाश्चात्य शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 1. रूसो

इकाई 2. प्लेटो

इकाई 3. जॉन डीवी

इकाई 4. कमेनियस

खण्ड 2. प्रमुख पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री

इकाई 5. फ्रोबेल

इकाई 6. मारिया मान्टेसरी

इकाई 7. हरवर्ट स्पेन्सर

इकाई 8. टी. पी. नन

खण्ड 3. भारतीय शैक्षिक सम्प्रदायों के विचारक

इकाई 9. शंकराचार्य

इकाई 10. दयानन्द सरस्वती

इकाई 11. विवेकानन्द

इकाई 12. श्री अरविन्द

खण्ड 4. प्रमुख भारतीय शिक्षा शास्त्री

इकाई 13. रवीन्द्र नाथ टैगोर

इकाई 14. पं0 मदन मोहन मालवीय

इकाई 15. महात्मा गाँधी

इकाई 16. राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन

खण्ड-परिचय-4 प्रमुख भारतीय शिक्षाशास्त्री

शैक्षिक विचारक के खण्ड चार में चार प्रमुख भारतीय शिक्षाशास्त्रियों : रवीन्द्रनाथ टैगोर, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाँधी एवं पुरूषोत्तम दास टण्डन के शैक्षिक विचारों एवं कार्यों को समाहित किया गया है। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी इन चार राष्ट्र नेताओं की यह विशेषता है कि उन्होंने औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के समानान्तर वैकल्पिक राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के विकास का प्रयास किया।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शिक्षा को प्रकृति एवं प्राचीन भारतीय संस्कृति से जोड़ने का सफल प्रयास किया। उन्होंने शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन, शिक्षा सत्र तथा विश्व भारती जैसी संस्थाओं के द्वारा उपेक्षित गाँवों से लेकर सम्पूर्ण वसुधा के कल्याण के लिए शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम विकसित किया। 'श्रीनिकेतन' ग्रामीण भारत के पुनरूत्थान का प्रयास है तो शांतिनिकेतन एवं विश्वभारती विश्वबन्धुत्व एवं अन्तरराष्ट्रीयता का द्योतक। वे शिक्षा के द्वारा मानव को उसकी संकीर्ण सीमाओं से निकालकर उन्हें ''वसुधैव कुटूम्बकम्'' की भावना से ओतप्रोत करना चाहते थे।

महामना मदनमोहन मालवीय ने न केवल औपनिवेशिक शासन का हर संभव विरोध किया वरन् उनके द्वारा दी जा रही सांस्कृतिक चुनौतियों का भी सफलतापूर्वक सामना किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों के संरक्षण एवं विकास तथा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। महामना सच्चे अर्थों में एक महान समाज सुधारक, राष्ट्रीय नेता, सफल वकील, जुझारू पत्रकार तथा महान शिक्षाविद् थे।

महात्मा गाँधी के पास एक सम्पूर्ण जीवन दृष्टि थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने मौलिक एवं क्रांतिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपपादन किया। शिक्षा को उन्होंने अहिंसक क्रांति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन माना। 'बुनियादी शिक्षा' या 'नई तालीम' के केन्द्र में भारत का गाँव, किसान एवं मजदूर है। शिल्प पर आधारित शिक्षा को अगर भारत में ईमानदारी से लागू किया जाता तो हम स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व पर आधारित समता मूलक समाज के निर्माण में अधिक सफल होते।

राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन भारतीय ऋषि परम्परा के संत पुरूष थे। एक राजनीतिज्ञ, पत्रकार, साहित्यकार एवं वकील के रूप में उन्होंने राष्ट्र की सेवा निष्काम भाव से की। शिक्षा में भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों को उन्होंने स्थान दिलाया। हिन्दी भाषा एवं साहित्य की शिक्षा को उच्चतम स्वरूप प्रदान किया और असंख्य निरक्षरों को व्यक्तिगत रूप से साक्षर बनाया। उनका सम्पूर्ण जीवन शिक्षा का अक्षय स्रोत है।

इकाई 13: रवीन्द्रनाथ टैगोर

संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 जीवन वृत्त

13.4 गुरूदेव की शिक्षा सम्बन्धी कृत्तियां

13.5 गुरूदेव का जीवन–दर्शन

13.6 शिक्षा दर्शन

- 13.6.1 बच्चे की स्वतंत्रता
- 13.6.2 भारतीय शैक्षिक परम्परा के पक्षधर
- 13.6.3 अर्न्तराष्ट्रीयता की भावना
- 13.6.4 सूचना शिक्षा नहीं
- 13.6.5 शिक्षा के उद्देश्य
- 13.6.6 पाठ्यक्रम
- 13.6.7 शिक्षा के तीन केन्द्र
- 13.6.8 सरलता एवं निर्धनता
- 13.6.9 शिक्षा का माध्यम
  - 13.6.9.1 मातृभाषा
  - 13.6.9.2 सृजन
  - 13.6.9.3 प्रकृति
- 13.6.10 गुरूदेव की छात्र संकल्पना
- 13.6.11 गुरूदेव की दृष्टि में अध्यापक

13.7 गुरूदेव द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थायें

- 13.7.1 शान्तिनिकेतन
- 13.7.2 शिक्षा सत्र
- 13.7.3 श्रीनिकेतन
- 13.7.4 विश्वभारती

13.8 सारांश

13.9 अभ्यास कार्य

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.11 सहायक अध्ययन सामाग्री

13.1 प्रस्तावना

रवीन्द्रनाथ टैगोर विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे। उनका व्यक्त्वि बहुआयामी था। वे एक ही साथ महान साहित्यकार, समाज सुधारक, अध्यापक, कलाकार एवं संस्थाओं के निर्माता थे। वे एक स्वप्नदृष्टा थे, जिन्होंने अपने सपनों को साकार करने के लिए अनवरत् कर्मयोगी की तरह काम किया। उनकी कालजयी सफलताओं से भारतीयों में आत्मसम्मान का भाव आया। उनके विशाल व्यक्त्वि को राष्ट्र की सीमांए बांध नहीं पायी। वे एक विश्व नागरिक थे। उनका शिक्षा दर्शन सम्पूर्ण वसुधा के संरक्षण एवं विकास का उद्देश्य लेकर चलती है, जिसमें सौन्दर्याभूति है, सत्य है और जीव मात्र का कल्याण है।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप निम्नलिखित तथ्यों का विश्लेषण कर सकेंगे–

- रवीन्द्रनाथ टैगोर का जीवन वृत्त
- रवीन्द्रनाथ टैगोर का जीवन दर्शन
- रवीन्द्रनाथ टैगोर का शिक्षण दर्शन
- टैगोर द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थांए

13.3 जीवन वृत्त

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म बंगाल के एक अत्यंत ही सम्पन्न एवं सुसंस्कृत परिवार में 6 मई, 1861 को हुआ था। धर्मपरायणता, साहित्य में अभिरूचि तथा कलाप्रियता उन्हें विरासत में मिली। वे महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर के कनिष्ठ पुत्र थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान एवं उत्साही समाज सुधारक थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम 1863 ई0 में बोलपुर के पास अपनी साधना के लिए एक आश्रम की स्थापना की। कालान्तर मे यही स्थल रवीन्द्रनाथ टैगोर की कर्मस्थली बनी। यहीं पर गुरूदेव ने शांतिनिकेतन, विश्वभारती, श्रीनिकेतन जैसी विश्व प्रसिद्ध संस्थाओं की स्थापना की।

समृद्ध परिवार में जन्म लेने के कारण रवीन्द्रनाथ का बचपन बड़े आराम से बीता। पर विद्यालय का उनका अनुभव एक दुःस्वप्न के समान रहा

जिसके कारण भविष्य में उन्होंने शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाने के लिए अभूतपूर्व प्रयास किए। कुछ माह तक वे कलकत्ता में ओरिएण्टल सेमेनरी में पढ़े पर उन्हें यहाँ का वातावरण बिल्कुल पसंद नहीं आया। इसके उपरांत उनका प्रवेश नार्मल स्कूल में कराया गया। यहाँ का उनका अनुभव और कटु रहा। विद्यालयी जीवन के इन कटु अनुभवों को याद करते हुए उन्होंने बाद में लिखा ''जब मैं स्कूल भेजा गया तो, मैने महसूस किया कि मेरी अपनी दुनिया मेरे सामने से हटा दी गई है। उसकी जगह लकड़ी के बेंच तथा सीधी दीवारें मुझे अपनी अंधी आखों से घूर रही है।'' इसीलिए जीवन पर्यन्त गुरूदेव विद्यालय को बच्चों की प्रकृति, रूचि एवं आवश्यकता के अनुरूप बनाने के प्रयास में लगे रहे।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ को औपचारिक विद्यालयी शिक्षा नाममात्र की मिली। पर घर में ही उन्होंने संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, संगीत, चित्रकला आदि की श्रेष्ठ शिक्षा निजी अध्यापकों से प्राप्त की।

उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वे 1878 में इंग्लैंड गये। वहाँ भी वे कुछ ही दिन तक बाइटन स्कूल के विद्यार्थी के रूप में रह पाये। अंततः वे भारत लौट आये। पुनः 1881 ई0 मे कानून की पढ़ाई के विचार से वे विलायत गये। पर वहाँ पहुंचने के उपरांत वकालत की पढाई का विचार उन्होंने त्याग दिया, और वे स्वदेश वापस आ गये। इस प्रकार उन्होंने औपचारिक शिक्षा तो प्राप्त नही की, पर पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। दोनों ही संस्कृतियों का सर्वश्रेष्ठ तत्व गुरूदेव के व्यक्त्वि का हिस्सा बन गया।

1901 में बोलपुर के समीप रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्मचर्य आश्रम के नाम से एक विद्यालय की स्थापना की, जिसे बाद में शान्तिनिकेतन के नाम से पुकारा गया। तत्पश्चात उन्होंने अपने को पूर्णतः शिक्षा साहित्य एवं समाज की सेवा में अर्पित कर दिया।

गुरूदेव को सक्रिय राजनीति मे रूचि नहीं थी, पर जब अंग्रेजों ने अन्याय पूर्वक बंगाल का विभाजन किया तो गुरूदेव ने इसके विरूद्ध चलने वाले स्वदेशी आन्दोलन का नेतृत्व किया। वे कलकत्ता की गलियों में एकता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व का गीत गाते हुए निकल पड़े। बंगाल का विभाजन रद्द हुआ।

कवि, साहित्यकार, अध्यापक एवं समाजसेवी के रूप में रवीन्द्रनाथ

टैगोर की ख्याति बढ़ती गयी। 1913 में उन्हें 'गीतांजली' नामक काव्य पुस्तक पर साहित्य का विश्वप्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार मिला। वे एशिया के प्रथम व्यक्ति थे, जिन्हें यह विश्व प्रतिष्ठित पुरस्कार मिला था। अब पूरा विश्व उन्हें विश्वकवि के रूप में देखने लगा। उन्होंने अमेरिका, एशिया एवं यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण किया। 1915 में अंग्रेजी सरकार ने उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि प्रदान की।

1919 में जब जालियाँवाला बाग में हजारों निहत्थे भारतीयों की औपनिवेशिक सरकार द्वारा हत्या की गई, तो रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'नाइटहुड' की उपाधि लौटा दी और वे पीड़ित भारतीयों के साथ खड़े हो गये। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने देश को राजनीतिक नेतृत्व भी प्रदान किया। सन् 1941 में इस महान कवि एवं ऋषि तुल्य गुरूदेव का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु पर गुरूदेव के प्रशंसक महात्मा गाँधी ने कहा था ''गुरूदेव के पार्थिव शरीर की राख पृथ्वी में मिल गई है, लेकिन उनके व्यक्तित्व का प्रकाश सूर्य की ही तरह तब तक बना रहेगा जब तक पृथ्वी पर जीवन है... गुरूदेव एक महान अध्यापक ही नहीं थे वरन् एक ऋषि थे।''

13.4 गुरूदेव की शिक्षा संबन्धी कृत्तियां

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर एक महान रचनाकार थे। उनकी रचनाओं का संसार बहुत ही विस्तृत था। शिक्षा से संबंधित उनकी चार महत्वपूर्ण पुस्तकें है। सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'शिक्षा' है जो प्रथम बार 1908 में प्रकाशित हुई। प्रारंभ में इसमें सात निबंध थे, बाद में इसमें गुरूदेव द्वारा लिखित 16 अन्य निबंधों को भी संकलित किया गया। अन्य तीन पुस्तकें है– 'शान्तिनिकेतन ब्रह्मचर्य आश्रम', 'आश्रम रेर रूप वो विकास' तथा 'विश्वभारती'। इसके अतिरिक्त सौ से भी अधिक प्रकाशित निबंध एवं व्याख्यान है– जिनका अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में हो चुका है।

शिक्षा से संबंधित गुरूदेव की रचनांए शिक्षा के विभिन्न स्तरों एवं पक्षों– 'प्राथमिक–उच्च', 'ग्रामीण–शहरी', 'व्यक्ति–समुदाय' का चित्रण करते है। उनकी कई कवितांए शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। लिपिका में संग्रहित 'तोता कहानी' वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर सर्वाधिक तीखा व्यंग है। यह दर्शाता है कि विभिन्न स्तरों पर शिक्षा की व्यवहारिक समस्याओं की उनको कितनी गहरी समझ थी।

13.5 गुरूदेव का जीवन–दर्शन

गुरूदेव का जीवन–दर्शन प्राचीन ऋषियों की तरह व्यापक था। उनका व्यापक जीवन–दर्शन उपनिषदों के गहन चिन्तन–मनन के परिणाम स्वरूप विकसित हुआ था। उपनिषदों में विवेचित विश्वबोध की भावना ने गुरूदेव के व्यक्तित्व सोच और कार्य को अत्यधिक प्रभावित किया। वे सम्पूर्ण जीव–जगत में इस सत्ता को महसूस करते हैं। इसीलिए गुरूदेव को मानव मात्र की एकता में अनन्त विश्वास है। उन्हें विश्व की बाह्य विविधताओं के मध्य एकता नजर आती है। उनका विश्वास है कि ईश्वर सम्पूर्णता का अनन्त आदर्श है और मनुष्य उस पूर्णता को प्राप्त करने की शाश्वत प्रक्रिया है। एक और अनेक का मिलना तथा बाह्य का आंतरिक से समन्वय, इन दोनों के बारे में गहन सोच तथा इन्हें जीवन में प्रयुक्त करने हेतु व्यवहारिक मार्ग की खोज गुरूदेव के जीवन का परम लक्ष्य था।

टैगोर के जीवन दर्शन में मानव करूणा का महत्वपूर्ण स्थान है। वे भारतीयों की गरीबी से अत्यधिक द्रवित हो जाते थे। इसने उनकी जीवन दृष्टि को व्यापक रूप से प्रभावित किया। गुरूदेव के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उन्हें मानव की निर्णय लेने एवं उसे क्रियान्वित करने की इच्छा शक्ति पर दृढ़ विश्वास था। उनका मानना था कि ''हम जो भी नवनिर्माण करना चाहते है, उसमें व्यक्ति या समाज किसी के भी आत्मसम्मान को ठेस नहीं पहुँचना चाहिए तथा ऐसा कोई कार्य नहीं चाहिए जिससे जीवन के आध्यात्मिक और संसारिक पक्षों में दुराव हो।

अपने निबन्ध 'द पोएट्स स्कूल' मे गुरूदेव ने लिखा ''मानव इस संसार में इसलिए नहीं आया है कि वह इसके बारे में सारी सूचनांए एकत्रित करे तथा उसे अपना दास बनाए, वह इसे यहाँ अपना घर बनाने आया है, वह यहाँ जीव मात्र का सहयोगी और वसुधा का पूजक बनने आया है, वह यहाँ प्रेम, कलात्मक रचनात्मकता तथा आनन्द के द्वारा अपनी इच्छा को पूर्ण करने आया है। गुरूदेव की दृष्टि में इन सब को जीवन के प्रति सम्पूर्ण उपागम को अपनाकर पाया जा सकता है, न कि आंशिक विकास एवं स्वार्थ के द्वारा।''

टैगोर को मानव की क्षमता में पूर्ण विश्वास था। उन्होंने व्यक्तित्व के सामन्जस्यपूर्ण विकास पर बल दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जब मानव जाति पर गंभीर संकट आया उस समय भी महाकवि ने मानव के विवेक पर आस्था जताते हुए कहा कि हम इस संकट को पार कर सृजनात्मक जीवन के

लक्ष्य को प्राप्त करेंगे। टैगोर व्यक्ति के सम्मान और उसकी स्वतंत्रता में आस्था रखते थे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय ग्राम जीवन एवं संस्कृति का पुनरूत्थान चाहते थे। 1905 में उन्होंने 'स्वदेश समाज' नाम से एक लम्बा निबंध लिखा। इसमें कृषि, शिल्प, ग्रामोद्योग आदि के पुनर्विकास पर जोर दिया गया। स्वप्रबन्धित समाज के निर्माण पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। इस संदर्भ में गुरूदेव के प्रयासों की सराहना करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा ''उन्होंने (रवीन्द्रनाथ टैगोर ने) भारत की निर्धनता का कारण समझा तथा इसे कैसे समाप्त किया जाया, इस संदर्भ में उनके पास पैनी दृष्टि थी। इस कार्य हेतु उन्होंने सबसे अधिक बल शिक्षा पर दिया– न केवल बच्चों की शिक्षा बल्कि प्रौढ़ों की भी शिक्षा। भारत अपना परम्परागत गौरव हासिल कर सके इसके लिए उन्होंने संभावनाओं को तलाशा तथा राह गढ़े।''

टैगोर दर्पपूर्ण राष्ट्रवाद के घोर विरोधी थे। वे सभी संस्कृतियों के मध्य सहयोग एवं समन्वय की कामना रखते थे। उन्होंने विश्वभारती विश्वविद्यालय को सभी संस्कृतियों का मिलन स्थल बनाया। इस विश्वविद्यालय का ध्येय वाक्य 'यत्र विश्वम् भवेत्य नीड़म्'' टैगोर के आदर्शो को परिलक्षित करता है। वास्तव में गुरूदेव एक विश्व नागरिक थे और वे मानव को उसकी क्षुद्र सीमाओं से निकाल कर उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना से ओत–प्रोत करना चाहते थे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. स्कूल भेजे जाने पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की क्या प्रतिक्रिया हुई थी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. गुरूदेव ने शिक्षा सम्बन्धी कौन सी पुस्तकों की रचना की?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 शिक्षा दर्शन

अनेक विद्वान रवीन्द्रनाथ टैगोर को एक क्रांतिकारी शिक्षाशास्त्री के रूप में देखते हैं। उनका शिक्षा दर्शन और शिक्षा विधि इतना अर्थपूर्ण और उपयोगी है कि उन्हें अलग से भी देखा जाये तो उनका महत्व कम नहीं होता है।

शिक्षा संबंधी गुरूदेव के मूल विचार उनके प्रसिद्ध लेख 'तपोवन' (1909) में देखे जा सकते हैं। उनके शिक्षा दर्शन का निर्माण मूलतः भारतीय दार्शनिक परम्परा विशेषतः उपनिषदों द्वारा हुआ था। गुरूदेव पर प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति का गहरा प्रभाव था। उनके विचारों की झलक 'तपोवन', 'तपस्या', 'आश्रम', 'संगम', 'ब्रह्मचर्य' जैसे महत्वपूर्ण शब्दों के प्रयोग में मिलती है। इस दृष्टि से रवीन्द्रनाथ टैगोर निश्चित रूप से आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री कहे जा सकते हैं। उनका मानना था कि ईश्वर ने अपनी योजना के तहत ही बच्चे को नैसर्गिक प्रतिभा प्रदान कर धरती पर भेजा है। टैगोर बालकों में उदात्त भावनाओं को जागृत कर उन्हें आध्यात्मिक भूमि पर लाना चाहते थे।

टैगोर को कुछ विद्वान प्रकृतिवादी शिक्षाशास्त्री मानते हैं पर टैगोर का प्रकृतिवाद पश्चिम के प्रकृतिवाद से बिल्कुल भिन्न है। गुरूदेव के शैक्षिक सिद्धान्त का सार मनुष्य और प्रकृति के बीच अध्यात्मिक एकता है। टैगोर की दृष्टि में बच्चों का विकास नैसर्गिक रूप से प्रकृति की गोद में होना चाहिए। टैगोर पर रूसो एवं अंग्रेजी रूमानी कवियों, जैसे शेली और वर्ड्सवर्थ का प्रभाव

देखा जा सकता है। वे कहा करते थे कि ''शिक्षा फैक्टरी में काम करने की दक्षता हासिल करने के लिए नहीं है, और न ही विद्यालयों और महाविद्यालयों में परीक्षा में पास करने के लिए है। सच्ची शिक्षा तपोवन में प्रकृति के साथ एकरूप हो तपस्या के माध्यम से शुद्ध होकर ही प्राप्त की जा सकती है।''

13.6.1 बच्चे की स्वतंत्रता

गुरूदेव के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जन्म किसी न किसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए होता है। प्रत्येक बालक अपनी लक्ष्य–प्राप्ति की दिशा में बढ़ सके, इसके लिए उसे योग्य बनाना शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य है। उन्होंने अपनी दो कविताओं 'पॉवर ऑफ अफेक्सन' तथा 'बंगमाता' में इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि हर बच्चे का अपना व्यक्तित्व होता है, जिसके विकास को किसी भी संस्था द्वारा बाधित नहीं किया जाना चाहिए। यह आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त को दर्शाता है। माँ को बच्चे को अपने गर्भ के कैद से मुक्त करने के उपरांत अपने स्नेह के कारागार में बंद न कर स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अवसर देना चाहिए। उनकी दृष्टि में हर बच्चा स्वंय का, वसुधा का तथा सार्वभौम सत्ता (ईश्वर) का है। हर व्यक्ति को मानव होने का अधिकतम लाभ उठाना चाहिए।

गुरूदेव टैगोर के अनुसार शिक्षा केवल वही नहीं है जिसे विद्यालय में दी जाती है– न ही कुछ इस तरह की चीज है जिसे प्रत्येक सप्ताह कुछ ही घंटो में दे दी जा सकती है। शिक्षा को व्यक्तित्व के अन्य पक्षों से अलग वस्तु मानना गलत है।

13.6.2 भारतीय शैक्षिक परम्परा के पक्षधर

अपने व्यक्तिगत अनुभव से रवीन्द्रनाथ ने अनुभव किया कि पश्चिमी/अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य औपनिवेशिक शासन हेतु कर्ल्क तैयार करना था और जहाँ तक संभव हो तथाकथित शिक्षित भारतीयों में भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रति हीनता की भावना पैदा करना था।

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारत की गरीबी और पश्चिमी देशों की समृद्धि देखी थी। उन्होंने महसूस किया कि भारत इन देशों से बहुत कुछ सीख सकता है। इसके बावजूद उनकी जड़ें भारतीय संस्कृति और परम्परा में जमी रहीं। **शिक्षा और संस्कृति** (1935) में उन्होंने लिखा ''जब भारत की

संस्कृति अपने सर्वोच्च अवस्था में थी वह कभी धन की कमी के कारण हतोत्साहित या शर्मिन्दा नहीं हुई। इसका कारण यह था कि उस संस्कृति का उद्देश्य आत्मिक जीवन का विकास करना था, भौतिक सम्पदा का संग्रहण नहीं। शिक्षा का उद्देश्य इसी लक्ष्य को प्राप्त करना होना चाहिए...इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर विभिन्न विषयों का शिक्षण किया जाना चाहिए। वह इसलिए कि मानव का स्तर या सम्मान व्यवहारिकता तथा सामाजिक कल्याण के समन्वय पर निर्भर करता है।''

आधुनिक शिक्षा की मशीनों पर निर्भरता के कविवर विरोधी थे। वे इसे शिक्षा के लिए हानिप्रद मानते थे। उनका कहना था कि जीवित पांव किसी भी वाहन से अधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा ऐसी हो जो पांव यानि मानव को मजबूत बनाये मशीन को नहीं।

13.6.3 अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना

गुरूदेव में अर्न्तराष्ट्रीयता की भावना कुट–कुट कर भरी थी। यूरोप की अच्छाईयों को ग्रहण करने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी। वे कहते है 'हमलोग यह कहने के लिए व्यग्र हो जाते है कि हम सबकुछ जानते है।'' जबकि हमें पूरे आत्मविश्वास के साथ कहना चाहिए कि ''हम सब कुछ कर सकते है''। आज यूरोप का यही धर्म बन गया है। उनके आत्मसम्मान की कोई सीमा नहीं है। उन्होंने जल, धरती और आकाश सब पर विजय प्राप्त कर लिया है। दूसरी ओर हमलोग ईश्वर से प्रार्थना भर करते रहे। फलतः देवताओं ने भी हमे धोखा दिया।' लेकिन वे यूरोपीय सभ्यता के अंधभक्त भी नहीं थे। उनका माना था कि सभी आधुनिक भौतिक साधनों के बावजूद बिना सांस्कृतिक चेतना के मानव जीवन व्यर्थ है।

परम्परागत विद्यालयों मे ईश्वर की योजना एवं बच्चे के व्यक्तित्व की विशेषताओं को ध्यान में रखे बिना वर्कशाप की तरह सभी बच्चों को एक सा बनाने का प्रयास किया जाता है। अगर कहीं से विरोध होता है तो अनुशासन के नाम पर उस आवाज को दबा दी जाती है। कविवर के अनुसार जीवन इस तरह से सीधी रेखा में नहीं चलता। रवीन्द्रनाथ के अनुसार विद्यालय शिक्षा देने की विशेष संस्था है। यह प्रौढ़ों के लिए तो उपयुक्त हो सकता है पर बच्चों के लिए नहीं। बच्चे तपस्वी नहीं हैं जो पाठशाला रूपी मठ में प्रवेश लेकर तत्काल शिक्षा ग्रहण करने लगे।

13.6.4 सूचना शिक्षा नहीं

गुरूदेव शिक्षा में सूचनाओं को इकट्ठा करने की प्रवृत्ति के विरोधी थे। उनका कहना था कि ''हमलोग पृथ्वी पर इस दुनिया को स्वीकार करने आये है, केवल जानने के लिए नहीं। हम ज्ञान के द्वारा शक्तिशाली बन सकते है पर सहानुभूति के द्वारा हम सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकते है। सर्वोच्च शिक्षा वह है जो हमें केवल सूचनांए ही नहीं देता है वरन् हमारे जीवन को सम्पूर्ण वसुधा से जोड़ता है पर हम पाते है कि वर्तमान शिक्षा सहानुभूति की न केवल लगातार योजनाबद्ध ढंग से उपेक्षा करती है वरन् दबाती भी है। प्रारंभ से ही बच्चे को प्रकृति से अलग कर दिया जाता है। *बच्चे से हम उसकी पृथ्वी छिन लेते हैं भूगोल पढ़ाने के लिए, वाणी छिन लेते है व्याकरण पढ़ाने के लिए, उसकी भूख महाकाव्यों की कथाओं की है पर हम उसे ऐतिहासिक तथ्यों की सारणी एवं तिथियां परोसते है। वह मानव जगत में पैदा हुआ पर उसे हम मशीनों की दुनिया में देशनिकाला देते है। बच्चे की प्रकृति इसके विरूद्ध सहने की अपनी पूरी ताकत के साथ विरोध करती है। पर अंत में उसे दण्ड के द्वारा शान्त कर दिया जाता है।''* आज शिक्षालय के स्तर को मापने का आधार विद्यालय भवन की भव्यता, पुस्तकों की संख्या तथा शैक्षिक उपकरणों की उपलब्धता है जबकि रवीन्द्रनाथ ने शिक्षा के वास्तविक पक्ष पर ध्यान दिया। इन भौतिक सम्पदाओं से लालच एवं स्वार्थ तो फल–फूल सकता है पर सामाजिक मूल्य नहीं, जो कि सही शिक्षा का लक्ष्य है।

13.6.5 शिक्षा के उद्देश्य

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर बच्चों के सर्वांगीण विकास को शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते थे। टैगोर थोपी हुई शिक्षा के विपरीत, प्रकृति के मुक्त वातावरण में बच्चों की इच्छा के अनुरूप शिक्षा देने के पक्षधर थे।

गुरूदेव मानव के विभिन्न पक्षों का समन्वित विकास चाहते थे। शिक्षा का उद्देश्य मात्र परीक्षा उत्तीर्ण करना नहीं वरन् बेहतर मानव का निर्माण करना है। इसके लिए मस्तिष्क के साथ–साथ भावात्मक एवं शारीरिक पक्ष के समन्वित विकास का लक्ष्य रखा गया ।

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर शिक्षा एवं प्रशिक्षण के द्वारा भारतीय ग्राम्य संस्कृति को पुनः जीवित कर शक्तिशाली बनाना चाहते थे। इसके लिए

उन्होंने कृषि, ग्रामोद्योग आदि की शिक्षा पर काफी बल दिया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर शिक्षा के द्वारा मानव और प्रकृति के आदि सम्बन्ध को और मजबूत करना चाहते थे। वे मानव को शिक्षा के द्वारा प्रकृति के प्रति संवेदनशील बनाना चाहते थे।

गुरूदेव आत्म अनुशासन पर बल देते थे। वे हिंसा के द्वारा बच्चों पर अनुशासन थोपने के खिलाफ थे। शान्तिनिकेतन में बच्चों को स्वतंत्रता देने के पीछे इसी स्वअनुशासन का सिद्धान्त काम करता था।

गुरूदेव शिक्षा द्वारा प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों में सहयोग चाहते थे। प्राच्य जगत पश्चिम का विज्ञान एवं तकनीक ग्रहण करे तथा पाश्चात्य जगत को अपनी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक वैभव प्रदान करे।

गुरूदेव शिक्षा के द्वारा बालकों एवं युवकों का नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास चाहते थे। वे इसके लिए युवकों को तपस्या एवं भक्ति के मार्ग का अवलम्बन करने का सुझाव देते हैं। नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास ही मानव को सच्चे अर्थों में स्वतंत्र कर सकता है।

युद्धरत मानव समाज में सहयोग एवं सामन्जस्य का भाव विकसित करने के लिए रवीन्द्रनाथ टैगोर छात्रों एवं अध्यापकों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना चाहते थे।

13.6.6 पाठ्यक्रम

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पाठ्यक्रम के संदर्भ में व्यवस्थित विचार नहीं दिए पर उनकी रचनाओं एवं कार्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाने के पक्षधर थे ताकि जीवन के सभी पक्षों का विकास हो सके। वे मानवीय एवं सांस्कृतिक विषयों को महत्वपूर्ण स्थान देते है। विश्वभारती में इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य, प्रकृति अध्ययन आदि की शिक्षा तो दी ही जाती है, साथ ही अभिनय, क्षेत्रीय अध्ययन, भ्रमण, ड्राइंग, मौलिक रचना, संगीत, नृत्य आदि की भी शिक्षा दी जाती है।

विश्वभारती में प्राच्य संस्कृतियों के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया। चीन की शिक्षा का अलग पाठ्यक्रम है। विभिन्न भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था है। रवीन्द्रनाथ टैगोर शिक्षा को पुस्तक केन्द्रित बनाने के विरोधी थे। वे अनुभव केन्द्रित एवं क्रिया प्रधान शिक्षा पर बल देते थे। छोटे बच्चों पर पाठ्य पुस्तकों के बोझ को वे डालना नहीं चाहते थे। उनके अनुसार प्रकृति से

बच्चा जीवन की सही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। ऊँची कक्षाओं में पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग किया जा सकता है।

13.6.7 शिक्षा के तीन केन्द्र

गुरूदेव के शिक्षा सिद्धान्त एवं शिक्षा सम्बंधी कार्यों का गहन विश्लेषण किया जाये तो हम पाते है कि उनके अनुसार मानव के तीन जीवन केन्द्र या शिक्षा केन्द्र है– (अ) मानव स्वंय, दूसरे सभी से भिन्न एवं विलग; (ब) समुदाय, जिसमें मानव दूसरों के साथ सहयोग से रहता है; तथा (स) प्रकृति या वसुधा– जिसमें कभी मानव स्वंय में रहता है तो कभी दूसरों के साथ जिनमें प्रकृति के समस्त तत्व एवं शक्तियां है– सजीव–निर्जीव, गुरू–लघु, भैतिक या अध्यात्मिक। इन तीनों के मध्य का सम्बन्ध प्रत्येक क्षण परिवर्तित रहने के बावजूद स्थायी होता है। इन तीनों के मध्य का सम्बन्ध जब टूटता है तो व्यक्ति और समाज के जीवन में विकृति आती है। आज प्रकृति और मानव के मध्य सहयोग की जगह संघर्ष एवं शोषण का सम्बन्ध बन गया है। अतः मानव जितना ही अधिक पाता है उतना ही अधिक लालची बन जाता है। गुरूदेव की दृष्टि में शिक्षा के तीनों केन्द्रों में सहयोग रहने पर ही मानव एवं समाज का कल्याण संभव है।

13.6.8 सरलता एवं निर्धनता

रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार सरल जीवन रचनात्मक जीवन होता है। किसी वस्तु का निर्माण कर के जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे बिना परिश्रम किए प्राप्त कर लेने में नहीं। जीने की शैली ऐसी होनी चाहिए कि वह स्वंय में शिक्षा बन जाये। उनका यह मानना था कि वास्तविक शिक्षा समृद्धि एवं विलासिता के वातावरण में नहीं मिल सकती है, न ही इसे बिना कठिन परिश्रम के प्राप्त किया जा सकता है। सही शिक्षा स्वंय स्वीकृत निर्धनता से ही आती है।

'माई स्कूल' (1916) में रवीन्द्रनाथ ने निर्धनता को ऐसी पाठशाला बताया जिसमें बच्चा जीवन का प्रथम पाठ पढ़ता है तथा सर्वोत्तम प्रशिक्षण पाता है। सम्पन्न व्यक्ति के बच्चों को भी निर्धनतम माता–पिता के बच्चों की तरह चलना सीखना होता है। निर्धनता हमें जीवन तथा संसार के सम्पूर्ण संपर्क मे लाता है। टैगोर अध्यापकों को दी जाने वाली अत्यंत ही अल्प सुविधाओं के संबंध में कहते है ''मैं अपने विद्यालय के महान अध्यापकों को

न्यूनतम सुविधायें ही प्रदान करता हूँ– इसलिए नही कि यह गरीबी है– वरन् इसलिए कि यह व्यक्ति को विश्व का बेहतर अनुभव प्रदान करता है।'' इन्हीं आदर्शों को ध्यान में रखकर शान्तिनिकेतन का जीवन आरामदायक नहीं बनाया गया।

13.6.9 शिक्षा का माध्यम

गुरूदेव ने शिक्षा के तीन महत्वपूर्ण माध्यम बताये। ये हैं: मातृभाषा, सृजन एवं प्रकृति।

13.6.9.1 मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा

गुरूदेव ने प्रारम्भ से ही यह महसूस किया कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा ने शिक्षित भारतीयों और जनसामान्य के बीच की खाई गहरी कर दी है। साथ ही वे अंग्रेजों द्वारा भारत की परम्परागत शिक्षा को समाप्त करने की दुखद प्रक्रिया से परिचित थे। उनका मानना था कि जब भारतीय मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करते थे तो उनका मस्तिष्क चैतन्य एवं क्रियाशील रहता था। अतः उन्होंने मातृभाषा के बजाए माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग की आलोचना की। कवि एवं अध्यापक रवीन्द्रनाथ भाव विह्वल होकर मातृभाषा का समर्थन करते है। वे लिखते है ''शिक्षाय मातृभाषा मातृदुग्ध।'' शिक्षा में मातृभाषा माता के दुध के समान है (शिक्षाः 236)। वे तो शिक्षा के उच्चतम चरण तक मातृभाषा लागू करने के पक्ष में थे। यहाँ तक कि वे मातृभाषा की माध्यम से ही अंग्रेजी पढ़ाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने एक प्राइमर ''इंग्राजी सोपान'' लिखा। उनके विचार में औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली गहन अंधेरे में से गुजरती ट्रेन के प्रकाशित डिब्बे के समान थी। कुछ विशेष लोग ही पढ़ पा रहे थे। और भारी संख्या में जनता पीछे छुटती जा रही थी (शिक्षाः 216)। उनकी दृष्टि में जब तक मातृभाषा माध्यम न बने तब तक शिक्षा का प्रसार नही हो सकता।

गुरूदेव मानते थे कि सफल आत्म प्रकाशन केवल अपनी भाषा के माध यम से ही हो सकती है। यह समाज के विकास एवं सुप्रबन्ध के लिए आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार भारत को मातृभाषा को अपने पुनर्जागरण का प्रतीक बनाना चाहिए। मातृभाषा को उसका उचित स्थान देना, गुरूदेव की दृष्टि में अपने आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास को पुनर्स्थापित करना है।

13.6.9.2 सृजनः शिक्षा का श्रेष्ठ माध्यम

मानव के जीवन में पूर्णता की हेतु रवीन्द्रनाथ ने शिक्षा में रचनात्मक कार्यों पर अत्यधिक जोर दिया। व्यक्ति एवं प्रकृति के मध्य की एकता को सुदृढ़ करने के अतिरिक्त कला, संगीत एवं साहित्य मानव की असामाजिक व विध्वंसात्मक प्रवृतियों को उचित दिशा प्रदान करती है। कला व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों का विकास कर उसे पूर्ति एवं परितोष का भाव प्रदान करता है। व्यक्त्वि के विकास में लय एवं लालित्य का गुरूदेव ने बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान माना। कला व्यक्ति को प्रकृति के समीप ले जाकर उसमें सौन्दर्यानुभूति बढ़ाती है। रवीन्द्रनाथ शरीर, मस्तिष्क तथा हृदय का समन्वित विकास चाहते थे। इसके लिए उन्होंने कला को शिक्षा का प्रभावशाली माध्यम माना। शिक्षा का एक उद्देश्य आत्म प्रकाशन है। आत्म प्रकाशन हेतु शब्दों के अतिरिक्त रेखाओं एवं रंगो, ध्वनि एवं लय की भाषा को भी जानना जरूरी है।

गुरूदेव ने कला का फाईन आर्ट्स (ललित कला) एवं अप्लायड आर्टस (प्रयुक्त कला) में विभाजन को गलत माना। वे बौद्धिक पक्ष को अधिक महत्व देने तथा संवेदनात्मक पक्ष की उपेक्षा के विरोधी थे। वे सृजनशील कलाकार को दार्शनिक की तुलना में कम महत्वपूर्ण माने जाने के विरोधी थे।

13.6.9.3 प्रकृति शिक्षा का प्रभावशाली माध्यम

गुरूदेव के मन में प्रकृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी। यह श्रद्धा उनके कवि या कलाकार हाने के नाते कम और एक संवेदनशील मानव होने के नाते अधिक थी। मानव के पास इस बात का विकल्प रहता है कि वह पृथ्वी पर रचनात्मक जीवन जिये या विध्वंसात्मक। वह एक बेहतर जीवन शैली का विकास कर सकता है। जिसमें प्रकृति माता है और अन्य सभी जीवों के साथ समन्वय एवं सहानुभूति का व्यवहार करते हुए जीवन के श्रेष्ठ लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। पर अगर वह अपने को प्रकृति का स्वामी मानता है और उसका शोषण करता है तो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए विनाश का कारण बन सकता है। अतः वे चाहते थे कि मानव प्रकृति के सौन्दर्य एवं दयालुता के प्रति चैतन्य रहे। इस कार्य के लिए प्रकृति के प्रति प्रेम और सम्मान शिक्षा का अनिवार्य हिस्सा होना चाहिए। शान्तिनिकेतन की स्थानीय नदी कोपाई, लाल बालू से ढ़की समतल भूमि तथा विस्तृत क्षितिज बच्चों के लिए आर्कषण का केन्द्र था। बच्चा वृक्षों, पशुओं, झाड़ियों के मध्य दौड़ना, खेलना, कूदना चाहता है। शहर के विद्यालयों की चाहरदीवारी के अन्दर उसे कैद रखना वस्तुतः उसे अशिक्षित बनाए रखना है। ऐसी शिक्षा गुरूदेव की

दृष्टि में आत्मा या जीवन रहित होती है।

13.6.10 गुरूदेव की छात्र संकल्पना

रवीन्द्रनाथ टैगोर शिशु को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। उनके हृदय में बालक के प्रति अनंत प्रेम, प्रगाढ़ सहानुभूति तथा निश्छल करूणा सदैव प्रवाहित होती है। घर में बालक पर रखी जाने वाली कृत्रिम नियंत्रण तथा विद्यालय के कठोर अनुशासन से उसकी आत्मा कराह उठती है। सामाजिक कृत्रिमता बच्चे के प्रकृत गुणों को दबा देते है। टैगोर की दृष्टि में बालक की सच्ची शिक्षा उसके प्रकृत गुणों की रक्षा तथा उसके विकास में निहित है।

बाल्यकाल में विद्यार्थी को प्राकृतिक जीवन के समीप रहने का अवसर मिलना चाहिए। इससे उसका शारीरिक, मानसिक, भावात्मक एवं बौद्धिक विकास समन्वित और स्वस्थ ढ़ंग से हो पाता है। प्रकृति के रहस्यों को जानने के लिए उसके साथ समरस होना पड़ता है। कवि की दृष्टि में ''चारों ओर फैली हुई प्रकृति हमारी महान शिक्षिका है। वह हमारे जीवन को सौन्दर्य और आनन्द, समरसता और मधुर भावनाओं के साँचे में ढ़ालती है, इसके साथ ही हमें अपनी अन्तरात्मा के प्रति मनन करने की प्रेरणा देती है।'' शान्तिनिकेतन में गुरूदेव ने प्रकृति के माध्यम से बच्चों को शिक्षा देने का प्रयोग किया। स्वंय उन्हीं के शब्दों में ''मेरे विद्यालय में विद्यार्थियों ने वृक्ष के रूप विज्ञान का ज्ञान सहज रूचि से अर्जित किया है। नाममात्र के स्पर्श से वे पता लगा सकते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से आतिथ्य प्रकट करने वाले तने पर वे कहाँ पैर जमा सकते हैं... मेरे बच्चे फल एकत्रित करने, विश्राम लेने तथा अवांछनीय तत्वों से स्वंय को छिपाने आदि के लिए वृक्षों का सर्वश्रेष्ठ सम्भव उपयोग करने में समर्थ है।''

13.6.11 गुरूदेव की दृष्टि में अध्यापक

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर अध्यापक के रूप में ऐसे व्यक्ति की कल्पना करते है जो छात्रों को उपदेश देने की जगह अपने व्यवहार एवं कार्य से उसे सद्मार्ग पर ले जाये। अध्यापक का अपना जीवन तथा सत्य खोज की लगन इस तरह होनी चाहिए कि छात्र सत्य एवं प्रकृति को सम्मान देने की भावना को आत्मसात कर ले। यह तभी संभव है जब गुरू एवं शिष्य एक–दूसरे के साथ रहें। उनके अनुसार अध्यापक का छात्र से सम्बन्ध केवल देने का नहीं है वरन् जीवन के सत्य को साथ–साथ अनुभव करने का है। गुरू एवं शिष्य

का व्यक्तिगत घनिष्ठ सम्बन्ध शिक्षा देने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है।

टैगोर यह मानते थे कि वही व्यक्ति बच्चों को सही ढ़ंग से शिक्षा दे सकता है जिसमें बालक की निश्छलता एवं मृदुलता बनी रहती है। वे लिखते हैं ''जिस अध्यापक के अन्दर का बाल्य मन मर गया वह बच्चों की जिम्मेदारी लेने का अधिकारी नहीं है। अध्यापक के अन्दर का स्थायी बालक बच्चों की एक आवाज पर बाहर आ जाता है। इसकी एक ही आवाज में एक मृदुल, जीवित मुस्कुराहट आ जाती है। अगर बच्चा उसे अपनी ही तरह का एक सदस्य न मानकर प्रागैतिहासिक काल का अपरिचित विशाल जानवर मानता हो तो वह अपने कोमल हाथों को बिना भय के उसकी ओर नहीं बढ़ा पाएगा।'' (शिक्षाः 311, 312) बच्चे सबसे अच्छी शिक्षा प्यार, विश्वास एवं प्रसन्नता के माहौल में ही प्राप्त कर सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ इस बात को बर्दाश्त कर सकते थे कि ऊँची कक्षाओं में अच्छे अध्यापक न हों पर वे छोटे बच्चों के लिए सर्वाधिक अनुभवी एवं संवेदनशील अध्यापकों को ही रखते थे। रवीन्द्रनाथ अध्यापकों एक ही मंत्र दिया करते थे ''कृपया सिद्धान्तों की शिक्षा बच्चों को न दे, इसके बजाए अपने को पूर्णतः उनके अनुराग में समर्पित कर दे।''

13.7 रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थायें

रवीन्द्रनाथ टैगोर उन महान शिक्षाशास्त्रियों में से एक है जिन्होंने शिक्षा से सम्बन्धित केवल सिद्धान्त ही प्रतिपादित नही किए वरन् उन्हें व्यवहारिक रूप भी देने का प्रयास किया। इस क्रम में गुरूदेव ने अनेक शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की, जो निम्नलिखित है–

13.7.1 शान्तिनिकेतन–

1901 मे रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना बोलपुर के पास की। बाद में इसका नाम उन्होंने शान्तिनिकेतन रखा। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि जिस समय ब्रह्मचर्य विद्यालय की स्थापना की गई उस समय टैगोर नेवैद्य नामक कवितांए लिख रहे थे। जिस पर उपनिषद् के आर्दशों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उसी समय ब्रह्मबांधव उपाध्याय ने टैगोर को 'गुरूदेव' कहा और वे अंत तक गुरूदेव बने रहे। टैगोर विद्यालयों के नियमों को संहिता पर आधारित करना चाहते थे ताकि भारतीय परम्परा के अनुसार विद्यालय का संचालन किया जा सके।

प्रारंभ में शान्तिनिकेतन को रवीन्द्रनाथ टैगोर के दो पुत्रों रतिन्द्रनाथ तथा समिन्द्रनाथ के साथ प्रारंभ किया गया। बाद में छात्रों तथा अध्यापकों की संख्या बढ़ती गई। 1913 तक गुरूदेव ने स्वंय ही इस संस्था का व्यय वहन किया। 1913 में नोबेल पुरस्कार मिलने के उपरांत आर्थिक संकट कम हुआ। अमेरिका, यूरोप, चीन, जापान आदि देशों के भ्रमण करने से गुरूदेव के शैक्षिक विचारों में परिपक्वता आई। शान्तिनिकेतन विश्वभर की संस्कृतियों का मिलन स्थल बन गया जहाँ कोई भी बिना धर्म, देश या संस्कृति के भेदभाव के सम्मानपूर्वक शिक्षा ग्रहण कर सकता था।

टैगोर शान्तिनिकेतन से कुछ हद तक निराश हुए। उन्हें लगा कि उसमें उनके विचारो पर अमल नहीं किया जा रहा है। वे कहते हैं ''अभिभावकों की अवसरवादिता परीक्षा प्रणाली लागू करने के लिए जिम्मेवार है। इसने एक प्रकार से आजादी और स्वतः स्फूर्तता का वातावरण कमजोर किया।''

13.7.2 शिक्षा सत्र–

अपना प्रयोग जारी रखने के लिए टैगोर ने 1924 में 'शिक्षा सत्र' के नाम से एक और स्कूल प्रारम्भ किया। इसमें ऐसे बच्चे शामिल किए गये जो अनाथ थे या जिनके माता–पिता इतने गरीब थे कि वे उन्हें किसी भी स्कूल में नही भेज सकते थे। उन्हें इस स्कूल से बड़ी आशाएं थी। वस्तुतः उन्हें उम्मीद थी कि शान्तिनिकेतन की कमियां इस विद्यालय में नही आयेंगी और यह विद्यालय उनके विचारों का सही अर्थों मे मूर्तरूप होगा। लेकिन 'शिक्षा सत्र' के महत्वपूर्ण शैक्षिक प्रयोगों को टैगोर के उपरांत विस्मृत कर दिया गया और वह एक सामान्य विद्यालय बन गया।

13.7.3 श्रीनिकेतन–

गुरूदेव भारतीय ग्राम्य जीवन को पुनः उसकी गौरवशाली परम्पराओं के आधार पर पुनर्जीवित करना चाहते थे। 1905 में उन्होंने 'स्वदेश समाज' नामक निबन्ध में कृषि, शिल्प, ग्रामोद्योग को पुनः विकसित करने पर जोर दिया। इन्हीं सपनों को वास्तविक रूप देने के लिए शान्तिनिकेतन के एक मील की दूरी पर, 'सुरूल' नामक स्थान में ग्रामीण पुनर्रचना के लिए उन्होंने श्रीनिकेतन की स्थापना की।

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि 1920 के दशक के मध्य उन्होंने दो प्रसिद्ध नाटक उस समय लिखे जब श्रीनिकेतन का प्रयोग चल रहा था। ये थे

1922 में लिखी गई **मुक्तोधारा** और 1924 में लिखी गई **रक्तकरबी**। दोनों में ही मशीनी सभ्यता के प्रति विरोध का भाव है। वे प्रकृति पर मशीनी टेक्नोलॉजी के प्रभुत्व से चितिंत थे। तकनीकी प्रभुत्व वाले समाज के शोषण के चरित्र के प्रति तिरस्कार की भावना स्पष्ट है। श्रीनिकेतन का प्रयोग आरम्भ करने के लिए उन्हें विदेश से एमहर्स्ट द्वारा लाई गई वित्तीय सहायता पर निर्भर होना पड़ा था। श्रीनिकेतन प्रयोग के दौरान ग्रामीण समाज की विशेष जरूरत के आधार पर विकसित आत्म सहायता और सहयोग के जरिए सामुदायिक विकास पर ध्यान दिया गया।

13.7.4 विश्वभारती –

1921 के अंत में शान्तिनिकेतन का विस्तार 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय के रूप में किया गया। यह विश्वविद्यालय अपने आदर्श वाक्य 'यत्र विश्वम् भवेत्य नीड़म्' को साकार करता है। सच ही यहाँ सम्पूर्ण वसुधा 'विश्वभारती' नामक घोसले में समा जाती है। यह एक ऐसी संस्था है जहाँ पूर्व की सभी संस्कृतियों का मिलन होता है, जहाँ दर्शन और कला की हर परम्परा एक दूसरे से सम्बन्ध बनाती है, जहाँ पूर्व और पश्चिम के दार्शनिक, साहित्यकार एवं कलाकार अपनत्व महसूस करते है।

विश्वभारती एक आवासीय विश्वविद्यालय है जहाँ सह–शिक्षा की व्यवस्था है। राष्ट्रीयता, धर्म, जाति, भाषा के आधार पर विद्यार्थियों एवं अध्यापकों में कोई भेदभाव नहीं है। सभी ईश्वर की उत्कृष्ट रचना मानव के रूप में सम्मान के साथ अध्ययन करते हैं। सन् 1951 में भारतीय संसद मे 'विश्वभारती' को केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में मान्यता दी। इससे आर्थिक सुदृढ़ता तो आयी पर अन्य सरकार पर आधारित अन्य विश्वविद्यालयों की तरह इसमें भी नवीनता एवं सृजनात्मकता पर जोर क्रमशः कम होने लगा।

विश्वभारती में अनेक विभाग है, जिन्हें 'भवन' कहा जाता है। ये भवन निम्नलिखित है–

(i) **पाठ भवन**– यह उच्च विद्यालय स्तर तक की शिक्षा बंगला भाषा में प्रदान करता है।

(ii) **शिक्षा भवन**– इसमें इण्टर तक की शिक्षा दी जाती है। बंगला, अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित, भूगोल, विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा की

व्यवस्था है।

(iii) **विद्या भवन**– इसमें स्नातक स्तर का तीन वर्षीय पाठ्यक्रम, दो वर्षों का एम0ए0 तथा एम0एस–सी0 का पाठ्यक्रम और पी–एच0डी0 की व्यवस्था है।

(iv) **विनय भवन**– यह अध्यापक शिक्षा विभाग है। जिसमें बी0एड्0, एम0एड0 एवं शिक्षाशास्त्र में पी–एच0डी0 की व्यवस्था है।

(v) **कला भवन**– कला तथा शिल्प में दो वर्ष का पाठ्यक्रम हाईस्कूल के उपरांत चार वर्षीय डिप्लोमा तथा स्त्रियों के लिए दो वर्ष का सर्टिफिकेट कोर्स कला भवन में उपलब्ध है। इस भवन में अपना पुस्तकालय एवं संग्रहालय है।

(vi) **संगीत विभाग**– इसमें संगीत और नृत्य से सम्बन्धित विभिन्न तरह के पाठ्यक्रम संचालित किए जाते है।

(vii) **चीन भवन**– इसमें चीनी भाषा और संस्कृति, इतिहास के बारे में शिक्षा दी जाती है।

(viii) **हिन्दी भवन**– इस भवन में हिन्दी भाषा एवं साहित्य की उच्च स्तरीय शिक्षा की व्यवस्था है।

(ix) **इस्लाम अनुसंधान विभाग**– इसमें इस्लाम धर्म के अध्ययन और अनुसंधान का प्रबन्ध किया गया है।

इस प्रकार विश्वभारती में विद्यालय स्तर से लेकर उच्च स्तर के शिक्षा की समुचित व्यवस्था है।

महात्मा गाँधी ने गुरूदेव द्वारा स्थापित संस्थाओं के बारे में कहा ''गुरूदेव की शक्ति नई चीजों के निर्माण में थी। उन्होंने शान्तिनिकेतन, श्रीनिकेतन, विश्वभारती जैसी संस्थाओं की स्थापना की। इन संस्थाओं में गुरूदेव की आत्मा निवास करती है। ये संस्थायें केवल बंगाल की ही नहीं वरन् पूरे भारत की धरोहर हैं।''

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा के तीन माध्यम कौन से हैं ?

.....

.....

.....

4. गुरूदेव ने शिक्षा के कौन से तीन केन्द्र बताये?

.....

.....

.....

5. 'शिक्षा सत्र' का रवीन्द्रनाथ टैगोर के शैक्षिक कार्यों में क्या महत्व हैं?

.....

.....

.....

.....

13.8 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने रवीन्द्रनाथ टैगोर की शिक्षा दर्शन का विस्तृत अध्ययन किया। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम हमलोगों ने रवीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन की उन घटनाओं का अध्ययन किया जिनकी गुरूदेव के शिक्षा दर्शन के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रही। गुरूदेव के जीवन दर्शन के अन्तर्गत हमलोगों ने मानव का सर्वोच्च सत्ता और प्रकृति से सम्बन्ध का अध्ययन किया। साथ ही टैगोर के विश्वबंधुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बंध में विचारों की व्याख्या की गई।

टैगोर का शिक्षा दर्शन वस्तुतः उनके जीवन दर्शन का व्यवहारिक पक्ष है। इस तथ्य का अध्ययन हमलोगों ने शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, माध्यम, केन्द्र आदि के संदर्भ में किया। टैगोर की छात्र एवं शिक्षक संकल्पना की भी विस्तृत विवेचना की गई। इकाई के अंत में हमलोगों ने गुरूदेव द्वारा स्थापित संस्थाओं शान्तिनिकेतन, शिक्षा सत्र, श्रीनिकेतन एवं विश्वभारती विवेचना की।

इस तरह से यह इकाई हमें टैगोर के शिक्षा दर्शन की सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक– दोनों ही पक्षों का ज्ञान देता है।

13.9 अभ्यास कार्य

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर की जीवन दृष्टि को निर्धारित करने वाले कारकों की विवेचना करें।
2. रवीन्द्रनाथ टैगोर को आप आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री मानेंगे या प्रकृतिवादी? उत्तर के पक्ष में तर्क दें।
3. रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित विभिन्न संस्थाओं के मध्य की समानता एवं भिन्नता को स्पष्ट करें।

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ''जब मैं स्कूल भेजा गया तो मैंने महसूस किया कि मेरी अपनी दुनिया मेरे सामने से हटा दी गई है। उसकी जगह लकड़ी के बेंच तथा सीधी दीवारें मुझे अपनी अंधी आँखो से घूर रही हैं।''
2. गुरूदेव की शिक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण कृतियां है–

(अ) शिक्षा

(ब) शान्तिनिकेतन ब्रह्मचर्य आश्रम

(स) आश्रम रेर रूप ओ विकास

(द) विश्वभारती

3. शिक्षा के तीन माध्यम है–
    1. मातृभाषा
    2. सृजन
    3. प्रकृति
4. शिक्षा के तीन केन्द्र है–
    1. व्यक्ति स्वंय
    2. समुदाय
    3. प्रकृति

5. शान्तिनिकेतन से कुछ हद तक निराश होने पर शिक्षा सम्बन्धी अपने प्रयोगों को जारी रखने के लिए गुरूदेव ने 'शिक्षा सत्र' नामक विद्यालय की स्थापना की। इसमें केवल ऐसे बच्चों को प्रवेश दिया गया जो अनाथ थे या जिनके माता–पिता इतने गरीब थे कि वे अपने बच्चों को विद्यालय भेज नहीं पाते। रवीन्द्रनाथ टैगोर को इस विद्यालय से बड़ी उम्मीद थी और उन्होंने अपने कई प्रयोग इसी विद्यालय में किये।

13.11 सहायक अध्ययन सामग्री

1. आचार्य, परमेश (2000), 'टैगोर और गाँधी के शैक्षिक आर्दशों का तुलनात्मक अध्ययन', *देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प,* दिल्लीः ग्रंथ शिल्पी।
2. ओड़, लक्ष्मीलाल के0 (1983), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि*, जयपुरः राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, पृ0 214–224।
3. जोशी, इलाचन्द्र (1956), *विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर*, भारतीय विद्यापीठ।
4. पाण्डेय, आर0एस0 ( ), *विश्व के महान शिक्षाशास्त्री*, आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।
5. भट्टाचार्या, बी0बी0 (1964), रवीन्द्र शिक्षा दर्शन, कलकत्ताः जिज्ञासा प्रकाशन।
6. शिवानी (1976), शान्तिनिकेतन, दिल्लीः सरस्वती प्रिटिंग प्रेस।
7. राठी, चन्द्रकिरण (1996), *रवीन्द्रनाथ के निबन्ध,* नई दिल्लीः साहित्य अकादमी।

इकाई 14: महामना पं0 मदन मोहन मालवीय

संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 महामना के समय भारत की राजनीतिक–सामाजिक स्थिति

14.4 महामना का जीवन–वृत्त

14.5 महामना की जीवन–दृष्टि

- 14.1.1 महामना आदर्शवादी विचारक
- 14.1.2 सनातन धर्म के उपासक
- 14.1.3 निस्वार्थ सेवा भाव
- 14.1.4 स्वदेशी आन्दोलन
- 14.1.5 राष्ट्रीय पुनर्निमाण का कार्यक्रम
- 14.1.6 जनतंत्र में आस्था
- 14.1.7 हिन्दी आन्दोलन के प्रणेता

14.6 महामना का शिक्षा–सिद्धान्त

- 14.1.1 शिक्षा का उद्देश्य
- 14.1.2 पाठ्यक्रम
- 14.1.3 अध्यापकों एवं छात्रों के कर्त्तव्य

14.7 महामना द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थाये

- 14.1.1 हिन्दू बोर्डिंग हाउस
- 14.1.2 गौरी पाठशाला
- 14.1.3 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

14.8 सारांश

14.9 अभ्यास कार्य

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.11 सहायक अध्ययन सामग्री

14.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब अंग्रेजी साम्राज्य की शक्ति अपने चरम पर पहुँच चुकी थी उस समय भारत में अनेक महापुरूषों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने न केवल औपनिवेशिक शासन का विरोध किया वरन् उनके द्वारा प्रस्तुत की जा रही सांस्कृतिक चुनौतियों का भी सफलतापूर्वक सामना किया। इन राष्ट्रीय नेताओं में महामना मदन मोहन मालवीय का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों के संरक्षण एवं विकास के लिए तथा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने पत्रकारिता द्वारा भी लगातार भारतीय जनमानस को जागरूक एवं शिक्षित किया। महामना सच्चें अर्थों में एक महान समाज सुधारक, राष्ट्रीय नेता, सफल वकील, जुझारू पत्रकार तथा महान शिक्षाविद् थे।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हम महामना मदन मोहन मालवीय के संदर्भ में निम्नलिखित बिन्दुओं पर स्पष्ट समझ बना सकेंगे–

1. महामना मालवीय के प्रादुर्भाव के समय भारत की राजनीतिक–सामाजिक स्थिति
2. महामना मदन मोहन मालवीय का जीवन वृत्त
3. महामना की जीवन–दृष्टि
4. महामना का शिक्षा दर्शन
5. महामना द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थायें

14.3 महामना के समय भारत की राजनीतिक–सामाजिक स्थिति

पूरी उन्नीसवीं शताब्दी भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार का इतिहास है। इस शताब्दी में लगभग संपूर्ण भारत पर अंग्रेजो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। देशी रियासतों में भी वास्तविक सत्ता अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में ही थी। भारतीयों की हर प्रकार की स्वतंत्रता छीन ली गई थी। वे हर तरह से गोरों के गुलाम हो चुके थे।

अपने ही देश में भारतीय दूसरे दर्जे की प्रजा हो चुके थे। गोरे अपने को भारतीयों से श्रेष्ठ प्रजाति मानते थे। अतः वे भारतीयों को घृणा के भाव से देखते थे। शहर में अंग्रेजों की बस्तियां अलग थी। उनके साथ भारतीय यात्रा नहीं कर सकते थे। अंग्रेजो के पार्क, मनोरंजन स्थल आदि में भारतीय प्रवेश तक नहीं पा सकते थे। अंग्रेजो के सामने भारतीय घोड़े या किसी अन्य वाहन पर चढ़ कर नहीं जा सकते थे।

परम्परागत भारतीय उद्योगों का अंग्रेजो ने जान–बूझ कर विनाश किया। भारत से कच्चे माल को इंग्लैंड ले जाकर वे वहाँ से तैयार माल भारत लाकर ऊँचे दामों पर बेचते थे। सोने की चिड़िया भारत संसार के निर्धनतम देशों मे से एक होता गया।

अंग्रेजों के पूर्व राजा या राजवंश के परिर्वतन से भारतीय कृषकों पर कोई प्रभाव नही पड़ता था। वे अपनी भूमि के स्वामी बने रहते थे। कृषि उनके लिए केवल एक आर्थिक क्रिया–कलाप नहीं वरन् जीने की शैली थी। पर अंग्रेजों ने किसानों के शोषण के लिए नई भूमि व्यवस्था लागू की। स्थायी बन्दोबस्त, महलवारी एवं रैयतवारी व्यवस्थाओं के द्वारा भूमि पर किसानों का परम्परागत अधिकार समाप्त कर दिया गया। अब जमीन पर उसी का अधिकार था जो अंग्रेजी सरकार को सबसे अधिक लगान दे सके। खुशहाल भारतीय किसान दरिद्र होता गया। आश्चर्य नहीं कि अंग्रेजों के काल में अनेक दुर्भिक्ष हुए– जिनसें लाखों किसानों, उनके बच्चों और औरतों की मौत हुई। इतिहासकार विपन चन्द्र के अनुसार पूरा गंगा–यमुना का दोआब अकाल मृत्यु के शिकार हुए किसानों की हड्डियों से श्वेत हो गया।

शैक्षिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अंग्रेज भारतीयों को हमेशा के लिए मानसिक और बौद्धिक रूप से गुलाम बनाए रखना चाहते थे। वे भारतीयों को 'श्वेत लोगो का बोझ' मानते थे। जिसे 'व्हाइट मेनस् बर्डेन' के नाम से इतिहास में जाना जाता है। चार्ल्स ग्रांट (1792) से लेकर लार्ड मैकाले (1835) तक सभी भारतीयों को निम्न सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक स्तर के व्यक्ति मानते थे। मैकाले तो भारतीयों को स्थायी रूप से बौद्धिक गुलामी के लिए तैयार कर रहे थे।

इन सबके विरूद्ध 1857 में भारतीय जनमानस ने अंग्रेजों के विरूद्ध क्रांति की घोषणा कर दी। पर 1857 के संघर्ष में भारतीय असफल रहे और अंग्रेजी सत्ता को दी जा रही चुनौती समाप्त हो गई।

14.4 महामना का जीवन–वृत्त

1857 की क्रांति की असफलता के बाद भारतीय जनमानस निराश सा हो गया था। ऐसे में 25 दिसम्बर, 1861 को तीर्थराज प्रयाग में बालक मदन मोहन का जन्म हुआ। इन्होंने आगे चलकर न केवल भारतीय संस्कृति का संरक्षण किया वरन् शिक्षा के द्वारा परम्परागत तथा आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के समन्वित विकास एवं प्रसार से पराधीन राष्ट्र के आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान को बढ़ाया।

मदन मोहन मालवीय के पितामह प्रेमधर जी संस्कृत के बड़े विद्वान थे। धर्म के प्रति उनकी बड़ी गहरी निष्ठा थी। पितामह की तरह पितामही भी धर्मनिष्ठ और शील सम्पन्न थी। मदन मोहन के पिता पं0 ब्रजनाथ पं0 प्रेमधर की ही तरह धर्मनिष्ठ,जव संस्कृत के विद्वान तथा राधाकृष्ण के अनन्य भक्त थे। परिवार की आर्थिक दशा काफी दयनीय होते हुए भी वे कभी दान नहीं लेते थे। मदन मोहन की माता श्रीमती मूना देवी जी स्वभाव की बड़ी सरल और ह्रदय की बड़ी कोमल थी।

मदन मोहन पर परिवार की आर्थिक दशा का, माता के शील तथा स्नेह का, पिता और पितामह के धर्म के प्रति अनुराग का गहरा प्रभाव पड़ा। उनका जीवन धर्मनिष्ठ, भगवद्भक्ति, दीनबन्धु समाजसेवी के रूप में विकसित हुआ। उन्होंने अपनी पिचहत्तरवीं वर्षगांठ पर कहा ''पितामह, पितामही, पिता और माता बड़े धर्मात्मा, सदाचार और निःस्वार्थ ब्राह्मण थे, उन्हीं के प्रसाद से मैं इतना काम कर सका हूँ।''

मदन मोहन को पाँच वर्ष की आयु में विद्यारंभ कराया गया। उन्हें प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही तरह की शिक्षाओं का गहराई से अनुशीलन करने का अवसर मिला। पहाड़ा एवं सामान्य गणित पढ़ने वे एक महाजनी पाठशाला में जाते थे। उसके उपरांत उन्होंने धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला में संस्कृत, धर्म और शारीरिक शिक्षा पाई। फिर वे धर्म प्रवर्द्धिनी पाठशाला के विद्यार्थी बने। इस प्रकार उन्हें परम्परागत भारतीय ज्ञान, धर्म, दर्शन का अच्छा अभ्यास हो गया।

सन् 1868 में प्रयाग में गर्वनमेण्ट हाईस्कूल खुला। मदन मोहन ने इसमें प्रवेश लिया। यहाँ बड़े परिश्रम से अंग्रेजी की शिक्षा ग्रहण की। साथ ही साथ वे संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त करते रहे। एन्ट्रेस उत्तीर्ण करने के उपरांत

मदन मोहन म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में पढ़ने लगे। मासिक छात्रवृत्ति मिल जाने से उनका आर्थिक संकट कुछ हद तक कम हुआ। 1881 में एफ0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की और 1884 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी0ए0 की परीक्षा विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण की। पारिवारिक जिम्मेदारियों के कारण वे एम0ए0 की परीक्षा में नही बैठ सके। उन्होंने सरकारी उच्च विद्यालय में पहले 40 रूपये और बाद में 60 रू0 मासिक वेतन पर अध्यापक पद स्वीकार कर लिया।

समाज सेवा के प्रति मदन मोहन मालवीय की लगन छात्र जीवन से ही दिखती है। समाज सेवा हेतु छात्र जीवन में ही उन्होंने 'साहित्य सभा' एवं 'हिन्दू समाज' नामक संस्थाओं की स्थापना की थी। सरकारी नौकरी महामना को बाँधे नही रख सकी। तीन वर्षों तक सरकारी नौकरी में रहने के बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी। 1886 में कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में महामना के भाषण ने राष्ट्रीय नेताओं को काफी प्रभावित किया। अब वे कालाकाँकर आकर दैनिक समाचार पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन करने लगे। 1887 से 1889 तक इस कार्य को सफलता पूर्वक किया। महामना की बहुमुखी प्रतिभा इसी तथ्य से स्पष्ट है कि समाचार पत्र के सम्पादन के साथ–साथ उन्होंने वकालत की पढ़ाई जारी रखी। 1891 में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण कर आप इलाहाबाद उच्च न्यायालय में वकालत करने लगे।

अधिवक्ता के रूप में महामना को बहुत अधिक सफलता मिली और उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। अब उनका सामाजिक–राजनीतिक कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया था। वे देश को राजनीतिक नेतृत्व देने के लिए तैयार थे। 1909 और 1918 में वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। इस प्रकार वे देश के अग्रणी नेता के रूप में कांग्रेस और देश को नेतृत्व प्रदान करते रहे।

महामना मूलतः एक शिक्षाविद् और एक अध्यापक थे। भारत राष्ट्र की नींव को मजबूत करने हेतु वे शिक्षा का प्रचार–प्रसार चाहते थे। इसी सपने को साकार करने के लिए 4 फरवरी, 1916 को विद्या की नगरी बनारस में उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। जीवन पर्यन्त वे देश, समाज और राष्ट्र की सेवा करते रहे। अन्ततः 12 नवम्बर, 1946 सूर्य के अवसान बेला में इस महामानव का देहावसान हो गया।

14.5 महामना की जीवन–दृष्टि

महामना की जीवन–दृष्टि के दो आधार थेः ईश्वर भक्ति और देश

भक्ति। इन दोनों का उत्कृष्ट संश्लेषण, ईश्वरभक्ति का देशभक्ति में अवतरण तथा देशभक्ति की ईश्वरभक्ति में परिपक्वता उनकी जीवन–दृष्टि का विशेष पक्ष था। महामना का विश्वास था कि मनुष्य के पशुत्व को ईश्वरत्व में परिणत करना ही धर्म है।

महामना सच्चो अर्थों में तपस्वी थे। सात्विक तप के सारे पक्ष उनमें विद्यमान थे। श्रीमद्भगवतगीता में वर्णित कायिक, वाचिक और मानसिक तप के वे साधक थे। काम–क्रोध–लोभ–मोह से स्वंय को बचाना, सदा शुद्ध संकल्पयुक्त रहना, विषयवृत्ति पर विजय प्राप्त करना, व्यवहार में छल–कपट से अपने को दूर रखना उनका मानसिक तप था। असत्य, दुःखदायी, अप्रिय और खोटे वचनों का त्याग; तथा प्रिय, सत्य, मधुर शब्दों का प्रयोग उनका वाचिक तप था। दूसरों की सहायता करना, समाज की सेवा करना, देश और जाति के लिए अपने शरीर को होने वाले कष्टों की परवाह न करना उनका शारीरिक तप था।

महामना प्रखर राष्ट्रवादी और उच्चकोटि के देशभक्त थे। देश की स्वतंत्रता, राष्ट्र के गौरव की वृद्धि, तथा जनता की सर्वागींण उन्नति उनकी देश सेवा के मुख्य लक्ष्य थे। वे जाति, भाषा, सम्प्रदाय, क्षेत्र के आधार पर भारतीयों के मध्य बढ़ते दुराव को समाप्त कर भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र और संप्रभु देश के रूप में देखना चाहते थे।

महामना का कार्यक्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत और व्यापक था। समाजसेवा का शायद ही ऐसा कोई पक्ष हो जो उनके कार्य परिधि में न आया हो। सनातन धर्म का प्रचार, प्राचीन भारतीय संस्कृति का उत्थान, हिन्दू हितों की रक्षा, हिन्दी का प्रचार, गौमाता की सेवा, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, स्वंय सेवकों का संगठन, ज्ञान–विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की वृद्धि, शिक्षा का विस्तार, मल्ल–शालाओं का उद्घाटन, वंचितों के कष्टों का निवारण, हरिजनों का उत्थान, लोकतांत्रिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा, राष्ट्रीयता की भावना का विकास, प्रगतिशील सिद्धान्तों का प्रतिपादन, देश–काल के अनुकूल संस्कृति का विकास आदि सभी क्षेत्रों में उनका योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

14.5.1 महामना आदर्शवादी विचारक

महामना के आर्दशवादी विचारक एवं शिक्षाशास्त्री होने में कोई सन्देह नहीं है। वे शिक्षा को अध्यात्म से अलग नही करते थे। उन्हें सनातन या

शाश्वत जीवन मूल्यों पर पूर्ण विश्वास था। सत्य को उन्होंने कभी भी परिवर्तनशील नहीं माना। महामना ऐसी शिक्षा के पक्षपाती थे जो विद्यार्थी में आत्म–अनुशासन की भावना बढ़ाये तथा व्यक्तित्व का सर्वागींण विकास करे। महामना चाहते थे कि विद्यार्थी में नैतिकता, मानवता, दृढ़ संकल्प, निःस्वार्थ सेवा के गुण हों। वे उच्च चरित्र को अत्यधिक महत्व प्रदान करते थे। महामना का स्पष्ट मत था कि जो व्यक्ति अपने धर्म में विश्वास करेगा, धर्म के मार्ग का अनुसरण करेगा उसमें मानवता होगी और वह स्वयं तथा समाज के लिए उत्तरदायी होगा। महामना मालवीय में ये सारे गुण थे।

14.5.2 सनातन धर्म का उपासक

महामना सनातन धर्मावलम्बी थे। सनातन धर्म का अर्थ हैः शाश्वत धर्म या शाश्वत नियम। इनका आधार मानव जाति का प्राचीनतम ग्रंथ वेद है। वे सनातन या हिन्दू धर्म के प्रबल समर्थक थे। परन्तु महामना ने हिन्दू धर्म को संकीर्ण रूप में नहीं देखा। सनातन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की उनकी व्याख्या निश्चय ही बहुत उदार थी। उनके अनुसार मानवता की भावना, सार्वभौमिक प्रेम तथा मानवमात्र के प्रति उनकी गहरी निष्ठा ने संभवतः उन्हें उस हद सामाजिक सुधार करने से रोका जिस हद तक वे सक्षम थे।

14.5.3 निस्वार्थ सेवा भाव

महामना व्यक्ति को समष्टि का अंग मानते थे और निःस्वार्थ सेवा द्वारा जीवन में समष्टि को आत्मसात करना मानव का पुनीत कर्त्तव्य मानते थे। उनका जीवन समाजिकता से ओत प्रोत था। महामना सच्चे अर्थों में युगपुरूष थे। उन्होंने देश की आवश्यकताओं तथा जनता के कष्टों को अपने जीवन में आत्मसात कर जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति में तथा देश के गौरव की वृद्धि में अपना सारा जीवन लगा दिया। उनका त्याग और सेवा भाव उनके समकालीन राजनेताओं के लिए एक उदाहरण था। गोपाल कृष्ण गोखले ने महामना के संदर्भ में कहा ''त्याग तो मालवीय जी महाराज का है। वे निर्धन परिवार में उत्पन्न हुए और बढ़ते–बढ़ते प्रसिद्ध वकील होकर सहस्त्रों रूपया मासिक कमाने लगे। उन्होंने वैभव का स्वाद लिया और जब हृदय से मातृभूमि की सेवा की पुकार उठी, तो उन्होंने सब कुछ त्याग कर पुनः निर्धनता स्वीकार कर ली।''

14.5.4 स्वदेशी आन्दोलन

महामना का मानना था कि स्वदेशी आन्दोलन को बल प्रदान करना भारतवासियों का धार्मिक कर्त्तव्य हैं। वे कहते थे कि स्वदेशी ही देश के आर्थिक संकटों के निवारण का एकमात्र साधन है। इसके मूल में दुर्भावना अथवा घृणा नहीं है और न इसमें राजनीतिक विद्वेष है। देश की निर्धनता को कम करने तथा देशवासियों को रोजगार और भोजन देने के लिए स्वदेशी ही अंगीकार करना भारतवासियों का धार्मिक कर्त्तव्य है।

14.5.5 राष्ट्रीय पुनर्निमाण का कार्यक्रम

महामना ने राष्ट्रीय पुनर्निमाण के लिए व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि देश के नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक साधनों का परिवर्धन करने के लिए राजनीतिक सुधारों के आन्दोलन के अतिरिक्त लोगों में लोक कल्याण और लोक सेवा की भावना उत्पन्न करना आवश्यक है। देश के विकास के लिए शैक्षिक तथा औद्योगिक कार्यकलाप आवश्यक है। उन्होंने औद्योगिक आयोग (1916–18) के समक्ष अपने प्रतिवेदन में कहा कि यथोचित आधार पर उद्योगों के लिए आवश्यक पूँजी देश में जमा की जा सकती है। महामना चाहते थे कि देश के राजनीतिक पुनर्निमार्ण और प्रगति के लिए धार्मिक उत्साह और समर्पण की भावना से काम करना आवश्यक है। गुरू गोविन्द सिंह ने जिस भक्ति भावना से अपना काम किया और अपने अनुयायियों के साथ समानता का जो व्यवहार किया उससे महामना अत्यधिक प्रभावित थे।

14.5.6 जनतंत्र मे आस्था

महामना को ईश्वर की सर्वव्यापकता में अटूट विश्वास था। उन्होंने भारत में सर्वत्र स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों को अपनाये जाने पर बल दिया। 1918 में दिल्ली कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस तथ्य पर जोर देते हुए कहा ''मेरा निवेदन है कि आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इस बात की माँग करने का संकल्प लें कि अपने देश में आपको भी विकास की वे ही सुविधायें मिले जो इंग्लैंड में अंग्रेजो को मिली है। यदि आप इतना संकल्प कर लें और अपनी जनता में स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व के सिद्धान्तों को फैलायें तथा प्रत्येक को यह अनुभव करने दें कि उसमें भी वही ईश्वरीय प्रकाश की किरण विद्यमान है, जो उच्च से उच्च स्थिति के व्यक्ति

में विद्यमान है... तो निश्चय समझिए कि आपने अपने भविष्य का निर्णय स्वंय कर लिया है।''

14.5.7 हिन्दी आन्दोलन के प्रणेता

महामना के समय सर्वत्र अंग्रेजी का वर्चस्व था। शिक्षा का माध्यम, विशेष रूप से उच्च शिक्षा का, अंग्रेजी था। उच्च न्यायालयों में जहाँ अंग्रेजी भाषा में ही सारे कार्यों का सम्पादन होता था, वहीं निम्नस्तरीय न्यायालयों में उर्दू भाषा को यह गौरव प्राप्त था। इस तरह हिन्दी अपने ही देश में पूर्णतः उपेक्षित थी। महामना हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए जीवन पर्यन्त आन्दोलनरत रहे। इन सबका चरम 2 मार्च, सन् 1898 का स्मृतिपत्र था जो उन्होंने संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के गर्वनर सर एण्टनी मैकडानल को सौंपा। इसमें इन्होनें आँकड़ों एवं आधिकारिक विद्वानों की उक्तियों के सहारे हिन्दी को उसका उचित स्थान देने का आग्रह करते हुए कहा ''पश्चिमोत्तर प्रांत तथा अवध (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की जनता में शिक्षा का प्रसार करना आवश्यक है। गुरूत्तर प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस कार्य में तभी सफलता प्राप्त होगी जब कचहरियों और सरकारी कार्यालयों में नागरी अक्षरों का प्रयोग किया जाने लगेगा। अतः इस शुभ कार्य में जरा–सा भी विलम्ब नही होना चाहिए और न राज्य कर्मचारियों तथा अन्य लोगों के विरोध पर ही ध्यान देना चाहिए। हमें आशा है कि बुद्धिमान और दूरदर्शी शासक जिनके प्रबल प्रताप से लाखों जीवों ने इस घोर अकाल रूपी काल से रक्षा पाई है, अब नागरी अक्षरों को जारी करके इन लोगों की भावी उन्नति और वृद्धि के बीज बोएँगे और विद्या के सुखकर प्रभाव के अवरोधों को अपनी क्षमता से दूर करेंगे।'' अतः 1900 ई0 में कचहरियों की भाषा हिन्दी भी कर दी गई। यह महामना और उनके सहयोगियों की महान सफलता थी। अब हिन्दी भाषा और नागरी में बड़ी संख्या में विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने लगे।

महामना आजीवन हिन्दी का प्रचार–प्रसार करते रहे। वे 1884 में ही हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा के सक्रिय सदस्य बनें जो बाद में नागरी प्रवर्धन सभा कहलायी। 10 अक्टूबर, 1910 को मालवीय जी की अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पहला अधिवेशन हुआ। महामना और राजर्षि पुरूषोत्तम दास टंडन के नेतृत्व में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी और नागरी के प्रचार हेतु भगीरथ प्रयास किये।

महामना हिन्दी को शिक्षा का सशक्त माध्यम बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने हिन्दी भाषा में उच्चस्तरीय पाठ्य पुस्तकों की रचना करने और अन्य भाषाओं की अच्छी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करने पर जोर दिया। उन्हीं के शब्दो में ''जो स्कूल–कालेज स्थापित किए गए है, उनमें लड़के हिन्दी पढ़ें। यूरोपीय इतिहास, काव्य, कला–कौशल आदि की पुस्तकें हिन्दी में अनुवादित हों। हिन्दी में उपयोगी पुस्तकों की संख्या बढ़ाई जाये। सरकार ने हिन्दी जारी कर दी है। अब हमें चाहिए, हम हिन्दी की उत्तमोत्तम पाठ्य–पुस्तकें तैयार करें।''

अपने वचनों के अनुरूप ही महामना ने हिन्दी के विकास के लिए अनवरत कार्य किया। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी एवं संस्कृत के पठन–पाठन की उत्तम व्यवस्था की। हिन्दी के अनेक गणमान्य विद्वान एवं रचनाकार यथा श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन कर अपने को धन्य माना।

पत्रकारिता के भी माध्यम से महामना हिन्दी का अनवरत विकास करते रहे। वे हिन्दी के प्रथम दैनिक समाचार पत्र **हिन्दुस्तान** के सम्पादक रहे। इसमें पं0 प्रताप नारायण मिश्र एवं बालमुकुन्द गुप्त उनके सहयोगी थे। 1908 में उन्होंने 'अभ्युदय' नामक सप्ताहिक पत्र निकाला जो क्रांति के संदेश का वाहक था। इसके अतिरिक्त अनेक पत्र–पत्रिकाओं जैसे– **मर्यादा, अभ्युदय, सनातन धर्म, गोपाल** आदि के प्रेरणास्रोत महामना ही थे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. महामना की शिक्षा किन–किन संस्थाओं में हुई ?

.....

.....

.....

.....

2. हिन्दी प्रसार हेतु महामना मालवीय किन संस्थाओं से जुड़े?

.....

.....

.....

.....

.....

3. हिन्दी के कौन सी पत्र–पत्रिकाओं ने महामना से प्रेरणा ग्रहण की?

.....

.....

.....

.....

.....

14.6 महामना का शिक्षा सिद्धान्त

महामना सही अर्थों में शिक्षा को सर्वाधिक प्रभावशाली शक्ति मानते थे। वे भारत के सांस्कृतिक–सामाजिक और राजनीतिक–आर्थिक पराभव का कारण भारतीयों की निरक्षरता एवं अशिक्षा को मानते थे। उनका कहना था कि ''यदि देश का अभ्युदय चाहते हो तो सब प्रकार से यत्न करो कि देश में कोई बालक या बालिका निरक्षर न रहे।'' उनके अनुसार देश की दुर्दशा को समाप्त करने का एकमात्र साधन साक्षरता एवं शिक्षा है। अतः उन्होंने अपने जीवन के अधिक महत्वपूर्ण भाग को शिक्षा में लगाया।

महामना शिक्षा को मानव–जीवन के सर्वागींण विकास का साधन मानते थे। उनकी दृष्टि में शिक्षा वह है जो विद्यार्थी की शारीरिक, बौद्धिक तथा भावात्मक शक्तियों को परिपुष्ट और विकसित कर सके तथा भविष्य में किसी व्यवसाय द्वारा ईमानदारी से जीवन–निर्वाह करने के योग्य बना सके। महामना शिक्षा के द्वारा युवा वर्ग को कलात्मक और सौन्दर्यपूर्ण जीवन के लिए तैयार करना चाहते थे। वे शिक्षा को राष्ट्रप्रेम जागृत करने वाली शक्ति बनाना चाहते थे ताकि नई पीढ़ी निस्वार्थ भाव से समाज एवं राष्ट्र की सेवा कर सके।

मदन मोहन मालवीय शिक्षा को मानव मात्र का अधिकार मानते थे

तथा इसका समुचित प्रबन्ध करना राज्य का कर्त्तव्य मानते थे। वे शिक्षा की एक ऐसी राष्ट्रीय प्रणाली विकसित होते देखना चाहते थे जिसमें प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा निःशुल्क हो। वे कहते थे ''सब स्तर पर शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध हो कि कोई बच्चा निर्धन होने के कारण उससे वंचित न रह पाये।'' उनका मानना था कि शिक्षा के व्यापक विस्तार से सामाजिक कुरीतियों और आर्थिक विषमताओं को दूर किया जा सकता है।

महामना पुरूषों की शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण स्त्रियों की शिक्षा को मानते थे। इसका कारण यह है कि वे ही देश की भावी संतान की मातांए हैं। उनकी इच्छा थी कि राष्ट्रीय कार्यक्रम के आधार पर स्त्रियों को इस तरह शिक्षित किया जाये कि उनमें प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृतियों के बेहतर पक्षों का समन्वय हो। वे नारियों को इतना सबल बनाना चाहते थे कि वे भारत के पुनर्निमाण में वे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें।

14.6.1 शिक्षा का उद्देश्य

जैसा कि पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि महामना को शिक्षा में वह शक्ति दिखती थी जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों के विकास के लिए आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने शिक्षा के व्यापक उद्देश्य निर्धारित किए।

1. व्यक्तित्व का सर्वागींण विकास

महामना शिक्षा के द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास चाहते थे। केवल बौद्धिक विकास को वे अर्थहीन मानते थे। विद्यार्थी के बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक पक्षों के समन्वित विकास को महामना ने शिक्षा का परम लक्ष्य माना।

2. शारीरिक विकास

महामना का मानना था कि दुर्बल शरीर वाले व्यक्ति सबल राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। उनके अनुसार शिक्षा व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य शारीरिक विकास है। 'मेरा बचपन' नामक लेख में महामना ने लिखा ''स्वास्थ्य के तीन खम्भे हैं– आहार, शयन और ब्रह्मचर्य। तीनों की युक्तिपूर्वक सेवन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा।'' वे चाहते थे कि प्रत्येक विद्यार्थी पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा प्रतिदिन नियम से व्यायाम करे। उनका मानना था कि ब्रह्मचर्य ही व्यक्ति को आत्मबल देता है, जिसके द्वारा व्यक्ति संसार में सब कष्टों और कठिनाईयों का साहस के साथ सामना कर सकता है।

3. चरित्र गठन हेतु शिक्षा

महामना की दृष्टि में चरित्र गठन शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य है। विनम्रता विहीन ज्ञान, उनकी दृष्टि में निरर्थक है। वे व्यक्ति के उत्कर्ष और राष्ट्र की उन्नति के लिए उज्ज्वल चरित्र को बौद्धिक तथा व्यवसायिक विकास से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। उनके अनुसार सदाचार मनुष्य का परमधर्म है, उसका पालन मनुष्य का पुनीत कर्तव्य तथा उसकी वृद्धि उसका पुरूषार्थ है।

4. राष्ट्रीयता की भावना का विकास

महामना मालवीय ने शिक्षा के एक महत्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्रभक्ति की भावना का विकास बताया। उनके अनुसार शिक्षित व्यक्ति को राष्ट्र के प्रति निःस्वार्थ भक्ति भाव रखना चाहिए। उन्होंने कहा ''यह भारत हमारा देश है। सभी बातों के विचार से इसके समान संसार में कोई दूसरा देश नहीं है। हमको इस बात के लिए कृतज्ञ और गौरवान्वित होना चाहिए कि उस कृपालु परमेश्वर ने हमें इस पवित्र देश में पैदा किया।''

महामना ने भारतीय राष्ट्रीयता का आधार 'हिन्दुत्व' माना। अतः वे हिन्दुत्व पर आधारित राष्ट्रभक्ति की शिक्षा का उद्देश्य बनाना चाहते थे। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि महामना की 'हिन्दू' की धारणा बड़ी व्यापक थी। भारत के सभी निवासियों को वे हिन्दू मानते थे। वस्तुतः हिन्दुत्व को वे एक श्रेष्ठ जीवन शैली के रूप में देखते थे। वे हिन्दुत्व पर आधारित भारतीय संस्कृति का हर तरह से विकास करना चाहते थे।

5. सेवा भावना का विकास

महामना की दृष्टि में सेवा से बड़ा कोई धर्म नहीं है। वे सभी जीवों में ईश्वर का अंश देखते थे। उनका मानना था कि पीड़ित, वंचित, दुखी व्यक्ति की सेवा वस्तुतः ब्रह्म प्राप्ति का सबसे उपयुक्त साधन है। वे विद्यार्थी में सेवा एवं सदाचार का भाव प्रारम्भ से ही विकसित करना चाहते थे।

इस प्रकार महामना मदन मोहन मालवीय ने शिक्षा का अत्यन्त ही विस्तृत उद्देश्य रखा। वे शिक्षा द्वारा राष्ट्रभक्त, सदाचारी, चरित्रवान, स्वावलम्बी भारतीय नागरिक का निर्माण करना चाहते थे।

14.6.2 पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम का निर्माण शैक्षिक आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। पाठ्यक्रम से ही इस तथ्य का निर्धारण होता है कि किस स्तर

पर किस चीज की शिक्षा देनी है। पाठ्यक्रम कोई निर्धारित वस्तु नही है जो हर समय हर स्थान पर एक जैसी रहे। हर समाज और देश अपनी आवश्यकतानुसार पाठ्यक्रम निर्धारित करता है। अर्थात् देश, काल और परिस्थिति के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण होता है और नई परिस्थितियों में पाठ्यक्रम में संशोधन और परिमार्जन होता रहता है।

महामना ने यह महसूस किया कि संकुचित पाठ्यक्रम द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अत्यन्त ही लचीले पाठ्यक्रम को अपनाया। महामना ने अपने विश्वविद्यालय में प्राचीन से लेकर अर्वाचीन– सभी उपयोगी विषयों को स्थान देने का प्रयास किया। महामना देश के विकास हेतु विज्ञान की शिक्षा आवश्यक मानते थे, अतः उन्होंने आधुनिक विज्ञान की शिक्षा पर जोर दिया।

व्यक्ति आत्मनिर्भर बने अतः बुनाई, रंगाई, धुलाई, धातुकर्म, काष्ठ–कला, मीनाकारी आदि की शिक्षा पर मालवीय ने बल दिया। भारत एक कृषि प्रधान देश है अतः महामना ने इस ओर विशेष ध्यान देते हुए कृषि के आधुनिकतम उपकरणों के प्रयोग की शिक्षा की उच्चतम व्यवस्था की। वे चाहते थे कि माध यमिक स्तर पर कृषि सम्बन्धी शिक्षा दी जाये तथा उच्च स्तर पर भी इस विषय में अनुसन्धान किये जाये।

इसके साथ–साथ महामना ने चिकित्सा विज्ञान, आयुर्वेद, नक्षत्र विज्ञान, भाषा आदि सभी की शिक्षा पर जोर दिया जिससे विद्यार्थी अपनी रूचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर सके। महामना ने वस्तुतः बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को प्राचीन एवं नवीन ज्ञान का संगम स्थल बना दिया। प्राचीन भारतीय आयुर्वेद के साथ आधुनिक शल्यशास्त्र का मेल, आयुर्वेदिक औषधियों का वैज्ञानिक परीक्षण तथा उन पर अनुसन्धान, विभिन्न विषयों पर प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान का तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन, प्राचीन भारतीय संस्कृति, दर्शनशास्त्र, साहित्य और इतिहास के गम्भीर अध्ययन–अध्यापन, वेद–वेदांग तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान–विज्ञान, धातु विज्ञान, खनन कार्य, इंजीनियरिंग तथा कृषि विज्ञान का अध्ययन इसकी विशेषता थी।

महामना मालवीय चाहते थे कि विद्यालय में संगीत, काव्य, नाट्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि ललितकलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध हो। उनके विचार में कला विहीन जीवन शुष्क और नीरस होता है, जबकि

ललितकलाओं का ज्ञान उनको परखने की क्षमता तथा शुद्ध भावनाओं के साथ उनके प्रति अभिरूचि और उनका सम्यक अभ्यास जीवन को सरस और आनन्दमय बनाता है।

महामना के अनुसार धार्मिक शिक्षा ही चरित्र निर्माण का आधार है। अतः वे शिक्षा में धर्म को उचित स्थान देना चाहते थे। पर धर्म का उनका संप्रत्यय अत्यन्त ही उदार था। वे धार्मिक असहिष्णुता के विरूद्ध थे। जिस धर्म की शिक्षा वे देना चाहते थे उसके संदर्भ में वे कहते हैं ''धर्म यह है कि प्राणी को प्राणी के साथ सहानुभूति हो, एक–दूसरे को अच्छी अवस्था में रखकर प्रसन्न हों और गिरी हुई अवस्था में सहायता दें।''

14.5.3 अध्यापकों एवं छात्रों के कर्तव्य

वे विश्वविद्यालय के माध्यम से काशी को सरस्वती की अमरावती बना देने का पावन उद्देश्य रखते थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अध्यापकों के निम्नलिखित कर्तव्य बताये–

- धर्म और शास्त्र का पालन करेंगे।
- सदाचारी रहेंगे
- देश सेवा के कार्यों में रत रहेंगे।
- विद्यार्थी के सर्वांगिण विकास हेतु हर संभव प्रयास करेंगे।

छात्रों को निम्नलिखित कार्यों हेतु निर्देश दिये गये–

- व्यायाम करके शरीर को बलशाली बनायें।
- पहले स्वास्थ्य सुधारें फिर विद्या पढ़ें।
- शाम को खेलें, मैदान में विचरें।
- जल्दी भोजन करें और नियम से नित्य अध्ययन करें।
- धार्मिक उत्सवों, एकादशी कथा तथा गीता प्रवचनों आदि में उपस्थित रहें।
- अपनी रक्षा आप करें।
- समय के पाबन्द बनें और इसे नष्ट न करें।

महामना अध्यापकों में उच्च चरित्र देखना चाहते थे ताकि छात्र उनसे प्रेरणा ग्रहण कर स्वंय चरित्रवान, सदाचारी और समाजसेवी बन सके। इसी

उद्देश्य से विश्वविद्यालय को आवासीय बनाया गया।

इस प्रकार महामना अध्यापक एवं विद्यार्थी दोनों से ही उत्तम चरित्र और श्रेष्ठ व्यवहार की आशा रखते थे।

14.7 महामना द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थायें

महामना मदन मोहन मालवीय शिक्षा को राष्ट्र की उन्नति का अमोघ अस्त्र मानते थे। अतः उन्होंने शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना अपने जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य बनाया। इसके लिए वे किसी से भी दान लेने में संकोच नही करते थे, पर दान के धन को शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना और विकास पर ही लगाते थे, व्यक्तिगत कार्यों हेतु नहीं। उन्होंने निम्नलिखित प्रमुख शैक्षिक संस्थाओं का निर्माण कराया–

14.7.1 हिन्दू बोर्डिंग हाउस

महामना उचित शिक्षा हेतु छात्रावास के महत्व को समझते थे। अतः उन्होंने 1901 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के म्योर सेन्ट्रल कॉलेज के लिए 230 कमरों का एक विशाल छात्रावास का निर्माण कराया। यह छात्रावास 1903 में बनकर तैयार हुआ। इसके निर्माण में ढ़ाई लाख से अधिक रूपये खर्च हुए थे, जिसमें एक लाख रूपये की राशि उन्हें प्रान्तीय सरकार से मिली थी, शेष राशि उन्होंने चन्दा से इकट्ठा किया। प्रारम्भ में इस छात्रावास का नाम 'मैकडोनल हिन्दू बोर्डिंग हाउस' रखा गया पर महामना के देहावसान के उपरांत इसका नाम बदलकर मालवीय हिन्दू बोर्डिंग हाउस कर दिया गया।

14.7.2 गौरी पाठशाला

महामना सारे समाज की उन्नति के लिए नारी शिक्षा को आवश्यक मानते थे। वे देश सेवा के लिए नारी को भी उतना ही महत्वपूर्ण मानते थे जितना पुरूष को। वे तेजस्वी और सुशील मातांए चाहते थे।

महामना छात्राओं के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और चरित्र गठन पर पढ़ाई से कम जोर नहीं देते थे। वे कहते थे ''वही (चरित्र) तो स्त्री–शिक्षा का पावन स्रोत है। स्रोत कलुषित होने से शिक्षा विकृत होकर हानि पहुँचाती है।'' सन् 1904 में मालवीय जी ने राजर्षि पुरूषोत्तम दास टंडन और बालकृष्ण भट्ट के सहयोग से गौरी पाठशाला की स्थापना की। यह आजकल उच्चतर माध्यमिक महाविद्यालय हो गया है। इसमें एक हजार से

भी अधिक लड़कियाँ पढ़ती हैं।

14.7.3 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अपने सपनों एवं उद्देश्यों को साकार रूप देने के लिए तथा शिक्षा के व्यापक प्रचार–प्रसार के लिए महामना ने काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। 1 अक्टूबर, 1915 को बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी एक्ट पास हुआ और 4 फरवरी, 1916 को भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंग ने इसका शिलान्यास किया।

यह विश्वविद्यालय अपने में कई महत्वपूर्ण विशेषतायें समाहित किये हुये है। अंग्रेजी साहित्य तथा आधुनिक मानविकी और विज्ञान के साथ–साथ हिन्दू धर्म एवं विज्ञान, भारतीय इतिहास एवं संस्कृति एवं विभिन्न प्राच्य विधाओं का अध्ययन इस विश्वविद्यालय की विशेषता है।

कला संकाय में विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के साथ ही साथ प्राचीन भारतीय विद्वानों के विचारों और सिद्धान्तों का ज्ञान भी शामिल था। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों को कांट और हीगल के साथ अनिवार्यतः कपिल और शंकर के सिद्धान्तों का भी अध्ययन करना होता था। राजनीति के विद्यार्थियों को भारतीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का अध्ययन करना होता था।

महामना स्वतंत्र विचारों के निर्भीक व्यक्ति थे। उनके योग्य संरक्षण में विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग में स्वतंत्रता प्राप्ति के डेढ़ दशक पूर्व ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक विचार तथा समाजवादी सिद्धान्तों का इतिहास आदि विषयों का अध्यापन स्वतंत्रता के वातावरण में, पूरी निष्ठा के साथ किया जाता था। दूसरे विश्वविद्यालयों के लिए यह अकल्पनीय बात थी।

महामना आर्थिक विकास में आधुनिक विज्ञान और तकनीक की भूमिका से भली भाँति परिचित थे। धन की कमी होने के बावजूद महामना ने विश्वविद्यालय में धातु विज्ञान, खनन विज्ञान, भू विज्ञान, विद्युत इंजीनियरिंग, यांत्रिक इंजीनियरिंग, रसायन विज्ञान, शिल्प, औषधि निर्माण, चिकित्सा की शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था करायी।

विश्वविद्यालय का निरन्तर विकास हो रहा है। इसके तीन संस्थान– इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज और

इंस्टीट्यूट ऑफ एग्रीकल्चर साइंसेज काफी प्रसिद्ध है। विश्वविद्यालय में वर्त्तमान में चौदह संकाय और सौ से भी अधिक विभाग है। मुख्य परिसर से लगभग साठ किलोमीटर दूर मिर्जापुर के समीप एक नवीन परिसर, 'राजीव गाँधी परिसर' ने काम करना प्रारम्भ कर दिया है। भय यह है कि विकास की इस रफ्तार में कहीं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय महामना के उद्देश्यों को विस्मृत न कर बैठे।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

4. मालवीय जी ने शिक्षा के क्या उद्देश्य निर्धारित किये?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5. महामना ने अध्यापकों के क्या कर्तव्य बताये?

.....

.....

.....

.....

6. महामना मालवीय द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थाओं के नाम लिखें।

.....

.....

.....

.....

14.8 सारांश

इस इकाई में आपने महामना मदन मोहन मालवीय के शिक्षा सम्बन्धी विचारों एवं शैक्षिक कार्यों का विस्तृत अध्ययन किया। हमलोगों ने देखा कि एक गरीब परिवार में जन्म लेने के बावजूद मालवीय उस समय उपलब्ध सर्वोच्च शिक्षा लेने में सफल रहे। इस इकाई में हमलोगों ने महामना का मूल्यांकन एक समाजसेवी, राजनेता, पत्रकार, अधिवक्ता, शिक्षक एवं शिक्षाशास्त्री के रूप में किया।

हमलोगों ने देखा कि महामना भारतीय संस्कृति के महान उपासक थे। उन्होंने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए शिक्षा का प्रयोग किया। हिन्दी के प्रचार–प्रसार में महामना की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण रही। महामना ने सफलतापूर्वक प्राचीन भारतीय ज्ञान और आधुनिक ज्ञान–विज्ञान का समन्वय किया। महामना एक महान याचक थे और उन्हें जितना दान में मिला उसमें अपना सब कुछ मिलाकर राष्ट्र को लौटा दिया। उनके द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थायें– काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, हिन्दू बोर्डिंग हाउस, इलाहाबाद तथा गौरी पाठशाला, इलाहाबाद राष्ट्रीय धरोहर हैं।

14.9 अभ्यास कार्य

1. 'महामना मदन मोहन मालवीय एक आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री थे।' विवेचना करें।
2. मालवीय ने हिन्दी के प्रचार–प्रसार के लिए कौन से कार्य किए?
3. महामना मालवीय ने प्राचीन ज्ञान–विज्ञान और आधुनिक ज्ञान–विज्ञान का समन्वय किस प्रकार से किया?
4. महामना मदन मोहन मालवीय ने भारतीय संस्कृति के संरक्षण के लिए कौन से कार्य किए?
5. महामना द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थाओं का वर्णन कीजिए।

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1- (i) महाजनी पाठशाला, इलाहाबाद

(ii) धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला, इलाहाबाद

(iii) धर्म प्रवर्द्धिनी पाठशाला, इलाहाबाद

(iv) गवर्नमेंट हाईस्कूल, प्रयाग

(v) म्योर सेन्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद

(vi) कलकत्ता विश्वविद्यालय

2- (i) हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा

(ii) नागरी प्रवर्धन सभा

(iii) हिन्दी साहित्य सम्मेलन

3- (i) हिन्दुस्तान

(ii) मर्यादा

(iii) सनातन धर्म

(iv) अभ्युदय

(v) गोपाल

4- (i) व्यक्तित्व का सर्वागींण विकास

(ii) शारीरिक विकास

(iii) चरित्र गठन हेतु शिक्षा

(iv) राष्ट्रीयता की भावना का विकास

(v) सेवा भावना का विकास

5- (i) धर्म और शास्त्र का पालन करना

(ii) सदाचारी बनना

(iii) देश सेवा के कार्य करना

(iv) विद्यार्थी के सर्वागींण विकास हेतु हर संभव प्रयास करना

6- (i) हिन्दू बोर्डिंग हाउस, इलाहाबाद

(ii) गौरी पाठशाला, इलाहाबाद

(iii) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

14.11 सहायक अध्ययन सामग्री

चतुर्वेदी, सीताराम (1963), *मदन मोहन मालवीय,* वाराणसीः तारा प्रकाशन।

चतुर्वेदी, सीताराम (1980), *आधुनिक भारत के निर्माता पं0 मदन मोहन मालवीय,* नई दिल्लीः सूचना एवं प्रकाशन मंत्रालय, भारत सरकार।

द्विवेदी, कृष्ण दत्त (1981), *भारतीय पुनर्जागरण और मदन मोहन मालवीय,* वाराणसीः बी0एच0यू0 प्रकाशन।

परमानन्द (1985), *महामना मदन मोहन मालवीय,* वाराणसीः बी0एच0यू0 प्रेस

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री,* आगराः विनोद पुस्तक मंदिर।

मालवीय, पद्मकांत (1962), *मालवीय के लेख,* दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

लाल, मुकुट बिहारी (1978), *महामना मदन मोहन मालवीय जीवन और नेतृत्व,* वाराणसीः तारा प्रकाशन।

सिंह, स्मिता (2006), *रविन्द्रनाथ टैगोर एवं पं0 मदन मोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों एवं कृत्यों का अध्ययन,* गोरखपुरः गोरखपुर विश्वविद्यालय।

सिंह, नन्दलाल (1961), *महामना मालवीय जी,* वाराणसीः बी0एच0यू0।

इकाई–15 : महात्मा गाँधी

संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 जीवन परिचय

1.4 जीवन–दृष्टि

15.4.1 सत्य

15.4.2 अहिंसा

15.4.3 राजनीतिक सिद्धान्त

15.4.4 आर्थिक सिद्धान्त

1.5 शिक्षा–दर्शन

1.1.1 शिक्षा से अभिप्राय

1.1.2 बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त

1.1.3 शिक्षा का उद्देश्य

1.1.4 शिक्षा का पाठ्यक्रम

1.1.5 शिक्षण विधि

1.1.6 शिक्षा का माध्यम

1.1.7 गाँधी जी की छात्र एवं अध्यापक संकल्पना

1.1.8 अनुशासन

1.1.9 बुनियादी शिक्षा की असफलता के कारण

15.6 निष्कर्ष

15.7 सारांश

15.8 अभ्यास कार्य

15.9 चर्चा के बिन्दु

15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.11 सहायक अध्ययन सामाग्री

15.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी उन कतिपय विचारकों में से एक हैं, जिनके पास एक समग्र जीवन दृष्टि थी। व्यक्ति और समाज के जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो उनकी दृष्टि से अछूता रहा हो। शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण पक्ष पर उन्होंने मौलिक एवं क्रांतिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। साथ ही इन सिद्धान्तों को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। महात्मा गाँधी ने शिक्षा को अपनी अहिंसक क्रांति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन माना। औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध संघर्ष एवं नई राजनीतिक–सामाजिक पुनर्रचना में उन्होंने शिक्षा को एक प्रभावशाली माध्यम के रूप में प्रयोग किया। बुनियादी शिक्षा या नई तालीम के उनके सिद्धान्त के केन्द्र में भारत का गाँव, किसान एवं मजदूर है। शिल्प पर आधारित शिक्षा को अगर स्वतंत्र भारत में ईमानदारी से लागू किया जाता तो न केवल हमारी शिक्षा व्यवस्था अधिक प्रभावशाली होती वरन् समता मूलक समाज के संवैधानिक एवं मानवीय लक्ष्य को प्राप्त करने में भी हम सफल होते।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप महात्मा गाँधी के शिक्षा दर्शन और उनके शैक्षिक कार्यों की बेहतर समझ बना सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन से आप निम्नलिखित बिन्दुओं पर स्पष्ट विचार बना सकेंगे।

- महात्मा गाँधी का जीवन–परिचय
- महात्मा गाँधी की जीवन–दृष्टि
- महात्मा गाँधी का शिक्षा–दर्शन
- बुनियादी शिक्षा की प्रमुख विशेषतायें
- बुनियादी शिक्षा की असफलता के कारण
- बुनियादी शिक्षा का भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर प्रभाव

15.3 जीवन–परिचय

महात्मा गाँधी का पूरा नाम मोहनदास करमचंद गाँधी था। उनका जन्म 2 अक्टूबर,1869 को गुजरात के काठियावाड़ जिले के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता करमचंद गाँधी पोरबन्दर रियासत के दीवान

थे। बाद में वे राजकोट और कुछ समय बाद बीकानेर के भी दीवान बने। वे ईमानदार, साहसी एवं उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्हें लोभ रंचमात्र छू नहीं गया था। महात्मा गाँधी की माता पुतली बाई साध्वी, श्रद्धालु एवं धर्मपरायण महिला थी। बालक मोहन दास पर माता–पिता के उच्च नैतिक संस्कारों का गहरा असर पड़ा।

गाँधी जी की सहज बाल्यवस्था पोरबंदर में प्रारंभ हुई। प्रारम्भिक शिक्षा का श्रीगणेश सात वर्ष की अवस्था में राजकोट पाठशाला से हुआ। शैक्षिक दृष्टि से तो वे एक सामान्य छात्र थे पर वे निष्ठावान, विनयी एवं कर्त्तव्य के प्रति समर्पित थे। 1881 में इनका अल्फ्रेड हाईस्कूल में प्रवेश हुआ। हाईस्कूल मे इंस्पेक्टर के निरीक्षण के दौरान अध्यापक द्वारा संकेत करने पर भी इन्होंने नकल नहीं की। यह इनके चरित्र की दृढ़ता को प्रदर्शित करता है। बाल्यावस्था में गाँधी जी ने हरिश्चन्द्र नाटक का मंचन देखा तथा श्रवण कुमार की पितृ भक्ति से सम्बन्धित चलचित्र का अवलोकन किया। इन दोनों का ही अमिट प्रभाव बालक मोहन पर पड़ा। श्रवण कुमार सी पितृ भक्ति तथा हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता को उन्होंने अपने व्यक्तित्व का हिस्सा बना लिया। तेरह वर्ष की अल्पावस्था मे इनका विवाह कस्तूरबा बाई से हुआ। अपने बुरे अनुभवों के आधार पर गाँधी जी जीवन पर्यन्त बाल विवाह के विरोधी बने रहे। सन् 1885 मे इनके पिताजी का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु से इन्हें गहरा धक्का लगा और वे महसूस करते रहे कि पिता के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन मे वे अंतिम समय में चूक गये।

तमाम विरोधों के बावजूद उच्च शिक्षा ग्रहण करने गाँधी जी लंदन चले गये। 1891 ई0 में बैरिस्टर की परीक्षा सफलतापूर्वक उत्तीर्ण कर वे भारत लौट आए।

महात्मा गाँधी के राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ 1893 ई0 में माना जाता है, जब वे एक भारतीय के मुकदमे की पैरवी हेतु दक्षिण अफ्रीका पहुँचे। रंगभेद के अन्याय के विरूद्ध इन्होंने सफलतापूर्वक आन्दोलन कर अपने सत्याग्रह के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया। भारतीयों के हितो की सुरक्षा एवं बच्चों की शिक्षा के लिए टाल्स्टॉय आश्रम की स्थापना की, जहाँ इन्होंने बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त का विकास किया। शारीरिक श्रम को सम्मान एवं उत्पादन कार्य की महत्ता इनके शिक्षा सिद्धान्त का एक अनिवार्य हिस्सा बन गयी।

1914 तक दक्षिणी अफ्रीका में सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, कार्य आधारित शिक्षा जैसे सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक प्रतिपादन कर वे भारत लौटे। चम्पारण के किसान हो या अहमदाबाद के मिल मजदूर – वंचितों के पक्ष मे गाँधी जी लगातार संघर्ष करते रहे। शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ वे लगातार सत्य एवं अंहिसा के बल पर लड़ते रहे। इस दौरान इन्होंने सामाजिक सुधार हेतु अनेक कार्यक्रम चलाये, जैसे मद्य निषेध, अश्पृश्यता निवारण आदि। 1937 मे इन्होंने बुनियादी शिक्षा के अपने सिद्धान्त को विस्तृत रूप दिया। गाँधी जी के संघर्षो एवं रचनात्मक कार्यों के परिणामस्वरूप भारत राजनीतिक–सामाजिक दासता की बेड़ियों को तोड़ने में सफल रहा। पर 30 जनवरी, 1948 को अहिंसा का यह पुजारी हिंसा का शिकार हो गया। इस महामानव को श्रद्धांजलि देते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सही कहा था ''आनेवाली पीढ़ियाँ इस बात पर शायद ही विश्वास करेंगी कि हाड़–मांस का कोई ऐसा आदमी इस धरती पर कभी चला था।''

15.4 महात्मा गाँधी की जीवन दृष्टि

आधुनिक भारतीय जीवन और सोच पर सर्वाधिक प्रभाव महात्मा गाँधी के विचारो का पड़ा, क्योंकि उनका तत्त्व चिंतन केवल वैचारिक न होकर प्रत्यक्ष अनुभूति तथा प्रयोग पर आधारित था। महात्मा गाँधी के विचारो और कार्यों पर भारतीय चिन्तन विशेषतः उपनिषदो का तो प्रभाव पड़ा ही, साथ ही रस्किन, टाल्स्टॉय, थोरो जैसे विद्वानों के सामाजिक–आर्थिक दृष्टिकोण का भी प्रभाव पड़ा। इन सबका समन्वित रूप गाँधी जी का सर्वोदय दर्शन है जिसमें केन्द्र बिन्दु व्यक्ति से बढ़कर समष्टि तक हो गया है। लक्ष्य है आत्मोदय के साथ–साथ सबका उदय।

गाँधी जी पर भारतीय दार्शनिक परम्परा का अत्यधिक प्रभाव था। इस महान परम्परा के दो श्रेष्ठ तत्त्वों– सत्य और अहिंसा को गाँधी जी ने अपने सम्पूर्ण विचारों और कार्यों के केन्द्र मे रखा।

15.4.1 सत्य

गाँधी जी ने सत्य को अपनी आस्था के मूल केन्द्र में बताते हुए कहा ''मेरे लिए सत्य सर्वोच्च सिद्धान्त है जिसमें अनेक अन्य सिद्धान्त भी अन्तर्भूत हो जाते है। यह सत्यवाणी की सत्यता ही नहीं बल्कि विचारो की सत्यता है और यह केवल हमारी मान्यता सम्बन्धी सत्य ही नहीं, बल्कि परम सत्य,

सनातन सिद्धान्त अर्थात् ईश्वर है।'' गाँधी जी ने सत्य को सवर्था हितकर शक्ति मानते हुए कहा ''मृत्यु के बीच जीवन जागता है, असत्य के बीच सत्य जागता है और अन्धकार के बीच प्रकाश जागता है। अतः मेरा निष्कर्ष है कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, ज्योति है, वह प्रेम है, वह परमेश्वर है।''

गाँधी जी के अनुसार सत्य तथा ईश्वर एक दूसरे के पर्याय हैं। ईश्वर प्राप्ति का साधन अहिंसा है। अहिंसा वह भौतिक आधार है जिसमें अन्य मानवीय गुण विकसित होते है।

15.4.2 अहिंसा

महात्मा गाँधी का अहिंसा का विचार अद्वितीय है। उन्होंने अहिंसा के व्यक्तिवादी नैतिक आधार को सामाजिक आधार प्रदान किया। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा केवल व्यक्ति का धर्म ही नहीं है, इसकी व्याप्ति राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में होनी चाहिए।

गाँधी जी का मानना था कि न्यूनतम मात्रा में भी सामाजिक न्याय हिंसा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। संसार में मानवता का अस्तित्व सत्य एवं अहिंसा के कारण है। अहिंसा का तात्पर्य है सभी प्राणियों के प्रति द्वेष का सम्पूर्ण अभाव। अर्थात् सभी जीवों के प्रति सद्भाव रखने का कार्यान्वित रूप ही अहिंसा है। अहिंसा के पथ पर चलने के लिए अटूट धैर्य और साहस की आवश्यकता है। अहिंसा के भाव से प्रेरित व्यक्ति को सत्ता प्राप्त करने की कोशिश नही करनी पड़ती है, न ही सत्ता प्राप्ति उसका उद्देश्य होता है। समाज के उपेक्षित तबके को न्याय तभी प्राप्त हो सकता है जब सरकार चलाने वाले भी अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करें। गाँधी जी के शब्दों में ''मेरे विचार से जनतंत्र उसे कहते है जिसमें कमजोर से कमजोर को भी वही अधिकार और अवसर मिले जो सबसे अधिक शक्तिशाली को प्राप्त होता है। ऐसा केवल अहिंसा के द्वारा ही संभव है।'' एक अन्य स्थल पर अहिंसा को शाश्वत प्रेम से जोड़ते हुए महात्मा गाँधी ने कहा '' अहिंसा का अर्थ है अनंत प्रेम और प्रेम का अर्थ है कष्ट सहने की असीम क्षमता।''

15.4.3 गाँधी जी के राजनीतिक सिद्धान्त

महात्मा गाँधी ने राजनीति को कोई स्वतंत्र पेशा न मानकर जीवन का एक अंग माना जिस पर जीवन की मान्यताएं और मूल्य लागू होते हैं। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य धर्माचरण है और राजनीति भी इसके अनुरूप होनी चाहिए।

वस्तुतः राजनीति धर्म की अनुगामिनी है।

महात्मा गाँधी की राजनैतिक कल्पना 'रामराज्य' की है। राम तानाशाह नहीं थे, वे समस्त राज्य के प्रतीक थे। वे केवल शासन ही नहीं करते थे वरन् स्वयं शासित भी थे। उनके द्वारा राज्य का परित्याग इसी भावना का परिचायक है। मानव एवं समाज के नैतिक विकास में जब 'रामराज्य' की स्थिति आती है तो दण्ड विधान को संचालित करने वाली राज्यसत्ता की आवश्यकता स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

गाँधी जी की राजनैतिक धारणाओं का मूल आधार 'सर्वोदय' है। 'सर्वोदय' का तात्पर्य है प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर मिले। महात्मा गाँधी कहते हैं ''मेरा लक्ष्य समाज में एक ऐसी व्यवस्था को कायम करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्थान का समान अवसर एवं सुविधायें प्राप्त हों। ऐसे समाज को सर्वोदय समाज नाम देना उचित होगा।'' गाँधी जी ने केवल समाज को ही नहीं वरन् व्यक्ति को भी अपने चिंतन का विषय बनाया। उन्होंने जीवन को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण किया है। उनका विश्वास था कि व्यक्ति के पुनर्निर्माण के बिना समाज का पुनर्निर्माण असम्भव है।

महात्मा गाँधी ने सत्ता के अन्यायपूर्ण कार्यों का विरोध हिंसा की जगह अहिंसक ढ़ंग से करने हेतु जिस अमोघ अस्त्र का आविष्कार किया– वह है सत्याग्रह। सत्याग्रह का अर्थ है शान्तिपूर्ण आग्रह। इसका उद्देश्य है असत् राजनीति का अनुसरण करने वाली सरकार या अन्य सम्बन्धित व्यक्ति का हृदय परिवर्तन। सत्याग्रह के द्वारा ही गाँधी जी ने विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य के विरूद्ध लड़ाई जीती।

15.4.4 गाँधी जी के आर्थिक सिद्धान्त

महात्मा गाँधी भौतिकवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के खिलाफ थे। उनके आर्थिक विचार भी सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित थे। वे धन एकत्र करने के लिए धनोपार्जन करने के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि मे धनी और निर्धन मे कोई अन्तर नहीं है। जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन है उनसे यह आग्रह किया जा सकता है कि वे अपनी सम्पत्ति का प्रयोग उनके लिए भी करें जो निर्धन हैं। गाँधी जी ने कहा ''मैं चाहता हूँ कि धनी लोग गरीबों के ट्रस्टी बनकर उनके लिए अपने धन का इस्तेमाल करें।

क्या आपको पता है कि 'टाल्स्टॉय फार्म' की स्थापना करते समय मैंने अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग कर दिया था।''

गाँधी जी ने आर्थिक व्यवस्था के संचालन के लिए कुछ साधनों की सिफारिश की, ये मुख्य साधन हैं चरखा, स्वदेशी तथा खादी। उनका विचार था कि हम सुखी एवं नीति संगत जीवन तभी बिता सकते हैं, जब हम अपनी सांस्कृतिक आस्थाओं के अनुरूप कार्य करें। भारत की मूल संस्कृति ग्रामीण संस्कृति है, अतः इस देश के लिए चरखे का जो महत्व है वह बड़ी मशीनों का नहीं हो सकता है।

भूमंडलीकरण के नाम पर यूरोप और अमेरिका के बढ़ते प्रभाव एवं तृतीय विश्व को नए सिरे से आर्थिक उपनिवेश बनाने के प्रयासों के प्रति वे गंभीर थे। विकास की निरंतर प्रक्रिया की गलती के प्रति वे सचेत थे। यूरोप और अमेरिका में अपनाई गई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की अपर्याप्तता और दमनकारी चरित्र को पहले ही समझ गये थे। साथ ही शायद वे एकमात्र नेता थे जिन्होंने इन देशों की अंधी नकल करने के बजाए विकल्प के बारे में सोचा। मानव के भविष्य के लिए विकल्प के रूप में उन्होंने ग्राम–आधारित अर्थतंत्र और कार्य आधारित शिक्षा की कल्पना की थी। गाँधी जी के लिए शिक्षा वास्तव में उनके संपूर्ण राजनीतिक कार्यक्रम का हिस्सा थी।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरो के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

महात्मा गाँधी पर विद्यार्थी जीवन में किस नाटक और चलचित्र का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था?

.....

.....

.....

.....

.....

महात्मा गाँधी ने सभी नैतिक मूल्यों का आधार किन दो प्राचीन भारतीय मूल्यों को माना?

.....

.....

.....

.....

15.5 महात्मा गाँधी का शिक्षा–दर्शन

महात्मा गाँधी औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था को भारत के लिए हानिकारक मानते थे। गाँधी जी ने अंग्रेजों द्वारा विकसित शिक्षा पद्धति की तीन महत्वपूर्ण कमियाँ बताई–

(i) यह विदेशी संस्कृति पर आधारित थी, जिसने स्थानीय संस्कृति लगभग समाप्त कर दी थी।

(ii) यह हृदय और हाथ की संस्कृति की उपेक्षा कर पूर्णतः दिमाग तक ही सीमित रहता है।

(iii) विदेशी भाषा के माध्यम से सही शिक्षा संभव नहीं है।

गाँधी जी ने अंग्रेजी शिक्षा को मानसिक गुलामी का कारण बताया। वे कहते है ''अंग्रेजी शिक्षा लेकर हमने अपने राष्ट्र को गुलाम बनाया है। अंग्रेजी शिक्षा से दंभ, राग, जुल्म वगैरह बढ़े है।'' (हिन्द स्वराज,)

अतः गाँधी जी ने असहयोग आंदोलन के दौरान सरकारी शैक्षिक संस्थाओ के बहिष्कार का आह्वान किया। औपनिवेशिक शिक्षा की जगह उन्होंने एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विकास का प्रयास किया जो मानव श्रम को उसका उचित स्थान देते हुए संवेदनशील हृदय तथा मस्तिष्क का समन्वित विकास कर सके।

15.5.1 शिक्षा से अभिप्राय

महात्मा गाँधी ने शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा ''शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक तथा मनुष्य मे निहित शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक श्रेष्ठतम शक्तियों का अधिकतम विकास है।'' गाँधी जी भारतीय जीवन को सुखी–सम्पन्न बनाना चाहते थे। वे व्यक्ति, समाज और देश की राजनैतिक,

आर्थिक एवं सामाजिक दासता का विरोध कर स्वतंत्रता एवं स्वावलम्बन के आकांक्षी थे। अतः शिक्षा को वे सार्वभौमिक रूप मे प्रसारित करना चाहते थे। उनका मंतव्य था कि साक्षरता न तो शिक्षा का अन्त है न प्रारम्भ। यह मात्र एक साधन है, जिसके द्वारा स्त्री एवं पुरूष को शिक्षित किया जा सकता है।

महात्मा गाँधी सच्ची शिक्षा उसे मानते थे जो बालक की आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक शक्तियों को विकसित करती है। वे चाहते थे कि शिक्षा द्वारा मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क, हृदय तथा आत्मा की सारी शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो। इन शक्तियों के विकास में समग्र एवं संतुलन की दृष्टि होनी चाहिए। नए भारत का निर्माण श्रम के प्रति निष्ठा एवं संतुलित दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों से ही हो सकता है।

गाँधी जी ने शारीरिक श्रम की नैतिकता पर आधारित शिक्षा दर्शन का विकास किया। इसे उपनिवेशवाद के आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्ववादी शोषण के विकल्प के रूप में विकसित किया गया। गाँधी जी स्वतः स्फूर्त संवेदी तरीको से श्रमिकों की मानसिक दुनिया से जुड़े हुए थे। उन्होंने अपना शिक्षा दर्शन ग्रामीण समाज में श्रमिकों के बच्चों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की लय के साथ विकसित किया। शारीरिक श्रम पर उनका जोर अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि श्रमिकों के पास यही एक पूंजी होती है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया में श्रम को विमानवीय किया जाता है और उसे खरीद बिक्री की वस्तु बना दिया जाता है। गाँधी जी की दृष्टि में आधुनिक मशीनी सभ्यता अनैतिक थी और अन्ततः विनाश की ओर ले जाएगी। विनाश की इस प्रक्रिया को जड़ से समाप्त करने के एवं भारत के नवनिर्माण हेतु उन्होंने बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह जनता के स्वराज हासिल करने के लिए जनता की शिक्षा का राष्ट्रीय कार्यक्रम था।

15.5.2 बुनियादी शिक्षा या नई तालीम का सिद्धान्त

महात्मा गाँधी ने अपने शिक्षा–सिद्धान्त का विकास दक्षिण अफ्रीका में प्रवास के दौरान किया। सर्वोदय के सिद्धान्त के अनुरूप उन्होंने भारतीयों के सहयोगपूर्ण जीवन के लिए टाल्स्टॉय आश्रम की स्थापना की। बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था गाँधी जी ने स्वयं की। वे आत्मकथा में लिखते है कि अक्षर ज्ञान के लिए अधिक से अधिक तीन घंटे रखे गए। उनका मातृभाषा के माध्यम से ही शिक्षा देने का आग्रह था। वे शारीरिक श्रम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए टाल्स्टॉय आश्रम की शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ मे कहते हैं,

''हमलोगों ने यह सुनिश्चित किया है कि सबको कोई न कोई धंधा सिखाया जाए। इसके लिए मि0 केलनबैक चप्पल बनाना सीख आए, उनसे मैंने सीखकर बालको को सिखाया। आश्रम में बढ़ई का काम जानने वाला एक साथी था इसलिए यह काम भी कुछ हद तक बच्चों को सिखाया जाता था। रसोई का काम तो लगभग सभी बालक सीख गए थे।''

1937 से जब प्रान्तों मे कांग्रेस की सरकार बनी तो शिक्षा का भार गाँधी जी एवं उनके शिष्यों के कंधो पर आया। मद्य निषेध पर गाँधी जी का जोर होने के कारण शिक्षा के लिए पर्याप्त पैसे जुटाने में कांग्रेसी सरकार असफल हो रही थी। टाल्स्टॉय आश्रम के अनुभव के आधार पर महात्मा गाँधी ने शिक्षा को स्वावलंबी बनाने का विकल्प सामने रखा। इनके द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षण की प्रमुख विशेषतांए थी–

1. 6 से 14 वर्ष तक के उम्र के सभी बच्चों एवं बच्चियों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा।
2. पूरी शिक्षण व्यवस्था के केन्द्र मे कोई शिल्प या हस्त उद्योग हो।
3. शिक्षण का माध्यम बच्चे की मातृभाषा हो।
4. शिक्षा स्वावलंबी हो– यानि खर्च का वहन अध्यापकों एवं छात्रों द्वारा किए गए उत्पादन कार्यों से किया जाए।
5. हिन्दी या हिन्दुस्तानी की शिक्षा पूरे भारतवर्ष में अनिवार्य हो।

स्पष्टतः गाँधी जी लाभ प्रदान करने वाले उत्पादक कार्य के जरिए शिक्षा देना चाहते थे। उनके अनुसार मुख्य प्रश्न आत्म–संतुष्टि का था। शारीरिक परिश्रम के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा '' शारीरिक कार्य के प्रशिक्षण का उद्देश्य विद्यालय म्युजियम के लिए वस्तुंए बनाना या खिलौने बनाना नहीं होगा, जिसका कोई मूल्य न हो। इसका उद्देश्य ऐसी वस्तुंए बनाना होना चाहिए जो बेची जा सकें। बच्चे इसे फैक्टरी की शुरूआती दिनों की तरह नहीं करेंगे, जब वे चाबुक के डर से काम करते थे। वे इसलिए काम करेंगे क्योंकि इससे उनका मनोरंजन होता है और बौद्धिक प्रेरणा मिलती है।''

15.5.3 शिक्षा का उद्देश्य

1921 में यंग इंडिया मे लिखे गए एक लेख मे वे अपनी कल्पना की शिक्षा के संदर्भ मे कहते है ''ऐसी शिक्षा तीन उद्देश्य पूरा करेगी, शिक्षा को

आत्मनिर्भर बनाना, बच्चे के शरीर एवं दिमाग दोनों का ही विकास करना और विदेशी धागे और कपड़ों के बहिष्कार का रास्ता खोलना, इस प्रकार बच्चों को आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र बनने के लिए तैयार करना।'' वे कहते थे कि, ऐसी शालाओं मे बच्चों का खेल हल जोतना होगा। ग्रामीण हस्तशिल्प के जरिए विद्यार्थियों को शिक्षित कर वे उन्हें दूरगामी अहिंसक सामाजिक क्रांति का वाहक बनाना चाहते थे।

गाँधी जी ने शिक्षा के व्यापक उद्देश्य निश्चित किये। इन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है– वैयक्तिक उद्देश्य एवं सामाजिक उद्देश्य।

1. वैयक्तिक उद्देश्य

(अ) **चरित्र निर्माण**– महात्मा गाँधी ने चरित्र निर्माण को शिक्षा का उच्चतम लक्ष्य माना। उनके अनुसार अगर विद्यार्थियों के चरित्र की नींव मजबूत पड़ जाए तो अन्य सब बातें स्वतः सीखी जा सकती है।

(ब) **सर्वांगीण विकास**– महात्मा गाँधी केवल बौद्धिक विकास को विकलांगता मानते थे। उन्होंने सर्वांगीण विकास के लिए तीन 'एच' की शिक्षा देना आवश्यक माना– हेड (मस्तिष्क), हैण्ड (हाथ) और हार्ट (हृदय)। इन तीनों की समन्वित शिक्षा ही व्यक्ति को उच्चतम विकास तक ले जा सकती है।

2. सामाजिक उद्देश्य

(अ) **स्वावलंबी नागरिक का निर्माण**– महात्मा गाँधी देश के हर व्यक्ति को शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन कार्य करते हुए देखना चाहते थे। मानव श्रम की शिक्षा देकर वे कुशल नागरिकों का निर्माण करना चाहते थे।

(ब) **सर्वोदय समाज का विकास**– गाँधी जी समाज के सभी व्यक्तियों को विकास का अवसर देने की वकालत करते थे। समाज के निर्धनतम व्यक्ति का विकास ही महात्मा गाँधी का सपना था। वे इस क्रांतिकारी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा को शक्तिशाली साधन मानते थे।

(स) **ग्राम स्वराज की स्थापना**– गाँधी जी केवल अंग्रेजी दासता से ही मुक्ति नहीं चाहते थे वरन् वे मानव का मानव के द्वारा शोषण की हर संभावना को समाप्त करना चाहते थे। इसके लिए वे ग्राम स्वराज की स्थापना करना चाहते थे।

इस प्रकार महात्मा गाँधी शिक्षा के द्वारा न केवल व्यक्ति वरन् समाज एवं राष्ट्र की समस्त बुराईयों को समाप्त करना चाहते थे।

1.1.1 शिक्षा का पाठ्यक्रम

अपने शिक्षा–सिद्धान्त के अनुरूप ही महात्मा गाँधी ने बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम

का निर्माण किया। बच्चे, समाज और देश के आवश्यकता को देखते हुए उन्होंने क्रियाशील पाठ्यक्रम का निर्माण किया। अपने द्वारा प्रस्तावित नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा के लिए उन्होंने निम्नलिखित विषयों को अपनी पाठ्यचर्चा मे स्थान दिया–

1. शिल्प या हस्त उद्योग (कताई–बुनाई, बागवानी, कृषि, काष्ठ कला, चर्मकार्य, मिट्टी का काम आदि मे से कोई एक)
2. मातृभाषा
3. हिन्दी या हिन्दुस्तानी
4. व्यवहारिक गणित (अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, नापतौल आदि)
5. सामाजिक विषय (समाज का अध्ययन, नागरिक शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि)
6. सामान्य विज्ञान (बागवानी या वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, रसायन एवं भौतिक विज्ञान)
7. संगीत एवं चित्रकला
8. स्वास्थ्य विज्ञान (सफाई, व्यायाम एवं खेलकूद)
9. आचरण शिक्षा (नैतिक शिक्षा, समाज सेवा आदि)

यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि गाँधी जी के पाठ्यक्रम में क्राफ्ट(शिल्प) और शिक्षा नहीं है वरन् यह शिल्प के माध्यम से शिक्षा है। इस तरह के पाठ्यक्रम से बच्चे के मस्तिष्क, हृदय और हाथ का समन्वित विकास होना संभव है।

15.5.5 शिक्षण विधि

महात्मा गाँधी ज्ञान की अखंडता पर विश्वास करते थे। वे केवल सुविधा की दृष्टि से ज्ञान को शाखाओं में विभक्त करते थे। महात्मा गाँधी ने

बच्चों को समन्वित रूप से शिक्षा देने के लिए ''समन्वय विधि'' या ''समवाय विधि'' का प्रयोग किया। इस विधि के केन्द्र मे किसी शिल्प या उद्योग या कार्यकलाप को रखा। अन्य विषयों को इससे जोड़कर पढ़ाया जाना चाहिए। जैसे अगर कताई–सिलाई सिखाते हुए विभिन्न सभ्यताओं में उपयोग किए जाने वाले वस्त्रों का ज्ञान देकर इतिहास का व्यवहारिक ज्ञान दिया जा सकता है। इसी तरह से कच्चे माल की खरीद मे कितने पैसे लगे और तैयार किए समान को बेचने के बाद कितना लाभ हुआ, इसकी गणना अगर छात्र करें तो उन्हें गणित का जीवन मे उपयोग करना आ जायेगा।

समन्वय विधि के अन्य दो महत्वपूर्ण आयाम है। प्राकृतिक वातावरण से समन्वय एवं सामाजिक वातावरण से समन्वय।

प्राकृतिक वातावरण से समन्वय से तात्पर्य है प्राकृतिक परिवेश अथवा काल परिवर्तन से होने वाले प्राकृतिक परिवर्तनों को केन्द्र बिन्दु मानकर विभिन्न विषयों का समन्वय। उदाहरण स्वरूप जाड़े में गेहूँ बुआई एवं ग्रीष्म ऋतु में कटाई से गेहूँ के उत्पादन की प्रक्रिया, भारत और विश्व में इसके उत्पादन क्षेत्र, गेहूँ के लिए मिट्टी, खाद, पानी, की आवश्यकता आदि कई पक्षों की शिक्षा दी जाती है।

सामाजिक वातावरण से समन्वय के अर्न्तगत सामाजिक परिवेश तथा समय–समय पर आने वाले सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय पर्व–त्योहार तथा अन्य सांस्कृतिक आयोजन आते हैं। इनके माध्यम से भी भाषा, गणित, कला इत्यादि का प्रभावशाली अध्ययन कराया जाता है।

15.5.6 शिक्षा का माध्यम

शिक्षा के माध्यम के रूप मे महात्मा गाँधी मातृभाषा के पक्ष मे थे। वे अंग्रेजी को शोषण का एक माध्यम मानते थे, जो अभिजात्य वर्ग और जन सामान्य के मध्य की दूरी को बढ़ाता था। इसके लिए वे माता–पिता को भी दोषी मानते थे। उन्होंने आत्मकथा में कहा ''जो हिन्दुस्तानी माता–पिता अपने बच्चों को बचपन से ही अंग्रेजी बोलने वाला बना देते है वे उनके और देश के साथ द्रोह करते हैं। इससे बालक अपने देश की धार्मिक और राजनीतिक विरासत से वंचित रहता है। और उस हद तक वह देश की तथा संसार की सेवा के लिए कम योग्य बनता है। वे अंग्रेजी भाषा के किस हद तक विरोधी थे, यह उनके निम्नलिखित घोषणा से स्पष्ट होता है– ''मैं यदि तानाशाह होता तो आज ही विदेशी भाषा में शिक्षा दिया जाना बन्द कर

देता। जो आनाकानी करते उन्हें बर्खास्त कर देता। मैं पाठ्य पुस्तकों के तैयार किये जाने का इन्तजार न करता।''

महात्मा गाँधी किताबी पढ़ाई, परीक्षा की ओर झुकाव और रटने के विरूद्ध थे। उन्होंने बहुत किताबें न रखने की सलाह दी। उनका कहना था कि भारत जैसे गरीब देश में किताबें सोच समझ कर ही रखवानी चाहिए और उनकी संख्या कम होनी चाहिए। वे पाठ्य पुस्तको से अधिक महत्वपूर्ण अध्यापक को मानते थे। उनका कहना था ''मेरा ख्याल है शिक्षक ही विद्यार्थियों की पाठ्य पुस्तक है।'' (आत्मकथा, 309)

15-5-7 (i) गाँधी जी की छात्र संकल्पना

गाँधी जी हर बालक–बालिका में परमात्मा का निवास मानते थे। सभी बालकों की आत्मा समान है पर व्यक्तित्व में भिन्नता हो सकती है। गाँधी जी चौदह वर्ष तक के उम्र के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने के पक्ष मे थे। वे शिक्षा को बच्चों का मूलभूत अधिकार मानते थे।

गाँधी जी की दृष्टि में सुचारू रूप से अध्ययन करने के लिए पवित्र जीवन आवश्यक है। वे छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं ''तुम्हारी शिक्षा सर्वथा बेकार है, यदि उसका निर्माण सत्य और पवित्रता की नींव पर नहीं हुआ है। यदि तुम अपने जीवन की पवित्रता के बारे में सतर्क नही हुए तो सब व्यर्थ है, चाहे तुम महान विद्वान ही क्यों न हो जाओ।''

(ii) गाँधी जी की दृष्टि में अध्यापक– महात्मा गाँधी विद्यार्थियों के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक विकास में शिक्षा की भूमिका को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते थे। वे शिक्षकों के आचरण को शिष्यों के लिए अनुकरण योग्य होने पर हमेशा जोर देते थे। वे अध्यापकों के कर्त्तव्य के संदर्भ मे कहते है ''आत्मिक शिक्षा अध्यापक किताबों के द्वारा नहीं, बल्कि अपने आचरण के द्वारा ही दे सकता है। मैं स्वंय झूठ बोलूँ और अपने शिष्यों को सच्चा बनाने का प्रयत्न करूँ, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्यों को वीरता नहीं सीखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्यों को संयम किस प्रकार सिखायेगा? अध्यापकों को अपने लिए नहीं तो कम से कम शिष्यों के लिए अच्छा बना रहना चाहिए।''

गाँधी जी विद्यार्थी के दोषों कें लिए बहुत हद तक शिक्षक को जिम्मेदार मानते हैं। टाल्स्टॉय आश्रम में दो विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता

पर स्वंय उन्होंने उपवास कर आश्रम के सम्पूर्ण वातावरण को शुद्ध कर दिया। साथ ही महात्मा गाँधी अध्यापक एवं छात्र में अन्तर नहीं मानते थे। टाल्स्टॉय आश्रम के संदर्भ मे उनका कहना है ''टाल्स्टॉय आश्रम में शुरू से ही यह रिवाज डाला गया था कि जिस काम को हम शिक्षक न करें, वह बालकों से न कराया जाय, और बालक जिस काम मे लगे हों, उसमें उनके साथ काम करने वाला एक शिक्षक हमेशा रहें।'' इसलिए बालकों ने जो कुछ सीखा, उमंग के साथ सीखा।

गाँधी जी 'वेतन' तथा 'अध्यापन कार्य' को एक दूसरे के साथ मिलाना अनुचित मानते थे। शिक्षक केवल वेतन के लिए काम नहीं करता है। अगर वह अध्यापन को वेतन के साथ जोड़ दे तो वह अपने कर्त्तव्य को पूरा नही कर सकता है। गाँधी जी के अनुसार अध्यापन कार्य में सबसे अधिक आवश्यक है समर्पण की भावना।

15.5.8 अनुशासन

महात्मा गाँधी ने अनुशासन सम्बन्धी अपने विचारों का विकास निम्नलिखित धारणाओं के आधार पर किया–

1. बच्चे जन्मजात बुरे नही होते, वातावरण उन्हें अच्छा या बुरा बनाता है।
2. प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश को स्वच्छ एवं सहयोग पर आधारित कर अनुशासन को बनाये रखा जा सकता है।
3. विद्यार्थियों के आचरण को सर्वाधिक प्रभावित अध्यापक का आचरण करता है।
4. अनैतिक कार्य भी शारीरिक रोग के समान व्याधि है, इसे दूर करने के लिए शिक्षक की सहानुभूति आवश्यक है, दण्ड नहीं।

गाँधी जी आत्म अनुशासन पर जोर देते थे। वे छात्रों को शारीरिक दण्ड देने के प्रबल विरोधी थे। अध्यापकों का उच्च चरित्र और पवित्र आचरण छात्रों को अनुशासन का पाठ पढ़ाने मे सर्वाधिक प्रभावशाली है।

15.5.9 बुनियादी शिक्षा की असफलता के कारण

बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम सामान्य असफल रहा। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जे0 पी0 नायक (1998) ने बुनियादी शिक्षा की असंतोषजनक प्रगति के निम्नलिखित कारण बताए–

1. इसका सर्वप्रमुख कारण सत्ताधारी वर्ग द्वारा बुनियादी शिक्षा को अस्वीकार किया जाना है। इन वर्गों मे शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता की परम्परा रही है। उनका आकर्षण पुस्तक आधारित शिक्षा पर रहा है। इस वर्ग ने स्कूल के पाठ्यक्रम में शारीरिक श्रम और उत्पादक कार्य आरम्भ करने के विरोध मे सामाजिक और मानसिक दबाव डाला।
2. जनसाधारण द्वारा भी बेसिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना की गई। आम जनता साधारणतः उच्च एवं मध्य वर्ग का अनुकरण करना चाहती है। वे इस बात से असहमत थे कि शहरी मध्य वर्ग को पुस्तक केन्द्रित अंग्रेजी शिक्षा दी जाये और ग्रामीण बच्चों को शिल्प आधारित शिक्षा। वे इसे दोयम दर्जे की शिक्षा मानते थे। उन्होंने ने भी बुनियादी शिक्षा को अस्वीकार कर दिया।
3. इसके साथ अन्य तकनीकी समस्यांए भी थी। बुनियादी विद्यालयों मे शिल्प की शिक्षा दी जाती थी। इसके लिए कच्चे माल की आपूर्ति में कठिनाई होती थी। कृषि के लिए भूमि चाहिए थी। साथ ही शिल्प सिखाने के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की सर्वथा कमी थी। साथ ही तैयार उत्पादों को बेचने की सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं की जा सकी।
4. छात्रों की संख्या मे द्रुतगति से विस्तार की एक अन्य प्रमुख समस्या थी। यदि यह प्रयोग प्रारम्भ में सीमित पैमाने पर होता तो शायद सफल हो सकता था। अनेक स्कूलों मे जहाँ सही प्रकार के अध्यापक उपलब्ध हुए और आवश्यक सुविधांए प्रदान की गयी, यह कार्यक्रम सफल भी हुआ, परन्तु कार्यक्रम के बड़े स्तर पर विस्तार के लिए आवश्यक संसाधन उपलब्ध नहीं थे।
5. वित्त की दृष्टि से बुनियादी विद्यालयों का अनुभव मिश्रित रहा। इसके कारण प्राथमिक शिक्षा के लिए सरकारी निवेश में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। अतः स्वतंत्र भारत मे भी सरकारों ने इस कार्यक्रम मे विशेष रूचि नहीं दिखलाई।

इस प्रकार अभिजात वर्ग के विरोध के कारण बुनियादी शिक्षा का क्रांतिकारी प्रयोग असफल रहा।

15.6 निष्कर्ष

बुनियादी शिक्षा के रूप में महात्मा गाँधी ने एक राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के विकास का प्रयास किया। यह राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की एक महत्वपूर्ण योजना थी। गाँधी जी के शिक्षा सिद्धान्त में शिल्प आधारित शिक्षा विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में सर्वाधिक सहायक है। शिक्षा में शिल्प या हस्तउद्योग को केन्द्रीय स्थान प्रदान कर महात्मा गाँधी ने शिक्षा को व्यक्ति और समाज के जीवन से जोड़ दिया। इससे वर्गीय विषमता को दूर कर सर्वोदय समाज की स्थापना का लक्ष्य पाया जा सकता था। दुर्भाग्य से प्रभावशाली वर्ग ने गाँधी जी की इस क्रांतिकारी योजना को स्वीकार नहीं किया। स्वतंत्र भारत में भी राष्ट्रपिता के अनेक सपने अधूरे रहे, जिसमें से एक सपना शिक्षा में सुधार का था।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरो के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

महात्मा गाँधी के अनुसार शिक्षा के कौन से उद्देश्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में कौन से विषय रखे गए? सबसे महत्वपूर्ण विषय कौन सा है?

.....

.....

.....

.....

.....

15.7 सारांश

इस इकाई में आपने महात्मा गाँधी के जीवन की प्रमुख घटनाओं का अध्ययन किया। साथ ही उनके जीवन दर्शन को सत्य एवं अहिंसा के विशेष संदर्भ में समझा। उनके जीवन दर्शन का ही परिणाम उनका शिक्षा दर्शन था, यह स्पष्ट किया गया। गाँधी जी के शिक्षा दर्शन को बुनियादी शिक्षा के विशेष संदर्भ में विश्लेषित किया गया। अंत में गाँधी जी के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा व्यवस्था की असफलता के कारणों को भी हमने समझने का प्रयास किया।

15.8 अभ्यास कार्य

1. महात्मा गाँधी की जीवन–दृष्टि से आप क्या समझते है? उनकी जीवन–दृष्टि का उनके शिक्षा–सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है?
2. महात्मा गाँधी के अनुसार अध्यापक एवं छात्र की संकल्पना को स्पष्ट कीजिए।
3. बुनियादी शिक्षा की असफलता के कारणों की विवेचना कीजिए।

15.9 चर्चा के बिन्दु

1. आप के विद्यालय के पास–पड़ोस में कौन से शिल्प या उद्योग लोकप्रिय हैं? उनमें से कौन से शिल्प की शिक्षा विद्यालय मे दी जा सकती है?
2. 'शिक्षा को स्वावलम्बी होनी चाहिए।' इसके पक्ष या विपक्ष में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

15.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य हरिश्चन्द्र नाटक और श्रवण कुमार की पितृभक्ति से सम्बन्धित चलचित्र।
2. (अ) सत्य
   (ब) अहिंसा
3. (अ) वैयक्तिक उद्देश्य
   (i) चरित्र निर्माण
   (ii) सम्पूर्ण व्यक्त्वि का विकास

(ब) सामाजिक उद्देश्य

(i) स्वावलम्बी नागरिक का निर्माण

(ii) सर्वोदय समाज का विकास

(iii) ग्राम स्वराज की स्थापना

4- (a) शिल्प या हस्तउद्योग

(b) मातृभाषा

(c) हिन्दी या हिन्दुस्तानी

(d) सामाजिक विषय(नागरिक शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि)

(e) सामान्य विज्ञान(वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, रसायन, एवं भौतिक विज्ञान)

(f) संगीत एवं चित्रकला

(g) स्वास्थ्य विज्ञान(सफाई, व्यायाम एवं खेलकूद)

(h) आचरण शिक्षा(नैतिक शिक्षा, समाज सेवा आदि)

15.11 सहायक अध्ययन सामाग्री

आचार्य, परमेश (2000) 'टैगोर और गाँधी के शैक्षिक आर्दशों का तुलनात्मक अध्ययन', *देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प,* दिल्लीः ग्रंथ शिल्पी।

ओड़, लक्ष्मीलाल के0 (1983), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि,* जयपुरः राजस्थान ग्रन्थ अकादमी।

कालेकर, काका साहब (1966), *गांधी–व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव,* नई दिल्लीः सस्ता साहित्य मण्डल।

गाँधी, एम0 के0 (2002), *हिन्द स्वराज्य,* वाराणसीः सर्व सेवा संघ, (प्रथम प्रकाशित 1909)।

गाँधी, एम0 के0 (1957), *सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा,* अहमदाबादः अभिव्यक्ति प्रकाशन।

दत्त, धीरेन्द्र मोहन (1973), *महात्मा गाँधी का दर्शन,* पटनाः हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

नायक, जे0पी0 (1998), *भारत में प्राथमिक शिक्षा*, बीकानेरः वाग्देवी प्रकाशन।

पटेल, एम0एस0, *दि एडुकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी*, अहमदाबादः नवजीवन पब्लिशिंग हाउस।

पाण्डेय, रामशकल (1999), *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।

सैयदेन, ख्वाजा गुलाम (1975), *भारतीय शैक्षणिक विचारधारा,* मेरठः मीनाक्षी प्रकाशन।

इकाई 16 : राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन

संरचना

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 जीवन–वृत्त

16.4 राजर्षि टण्डन के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार एवं कार्य

16.5 हिन्दी के विकास हेतु कार्य

16.6 राजर्षि टण्डन के शैक्षिक विचार

16.6.1 शिक्षा का उद्देश्य

16.6.2 पाठ्यक्रम

16.6.3 प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम

16.7 राजर्षि टण्डन द्वारा स्थापित शैक्षिक–सामाजिक संस्थायें

16.7.1 गौरी पाठशाला

16.7.2 हिन्दी विद्यापीठ

16.7.3 हिन्दी साहित्य सम्मेलन

16.7.4 पंजाब में हिन्दी पाठशालाओं को सहयोग

16.7.5 तिलक स्कूल ऑफ पालिटिक्स (लोक सेवा मण्डल)

16.8 राजर्षि टण्डन की नीतियों एवं कार्यों की आलोचना

16.9 सारांश

16.10 अभ्यास प्रश्न

16.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.12 सहायक अध्ययन सामग्री

16.1 प्रस्तावना

राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन प्राचीन ऋषि परम्परा के महामानव थे। वे हमारे देश में सदा अपने त्याग, तपस्या और सिद्धान्त पर चलने वाले पुरूषों में गणमान्य रहेंगे। शिक्षा, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रों को

उन्होंने प्रभावित किया और इनसे सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं के जन्म और विकास को राजर्षि टण्डन से आत्मीय सहयोग प्राप्त होता रहा। नारी शिक्षा से लेकर प्रौढ़ शिक्षा तक, हर क्षेत्र में उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माध्यम से उन्होंने हिन्दी का प्रचार–प्रसार सम्पूर्ण राष्ट्र में किया। हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का पूरा श्रेय राजर्षि टण्डन को जाता है। उनका सम्पूर्ण जीवन एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

16.2 उद्देश्य

राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन के शिक्षा सम्बन्धी विचारों एवं कार्यों को समझने हेतु इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जायेगा :

1. राजर्षि टण्डन का जीवन–वृत्त।
2. राजर्षि टण्डन के राजनीतिक एवं सामाजिक आदर्श।
3. हिन्दी भाषा के प्रचार–प्रसार में राजर्षि टण्डन की भूमिका।
4. राजर्षि टण्डन द्वारा स्थापित सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक संस्थायें।

राजर्षि टण्डन से सम्बन्धित इन पक्षों का अध्ययन कर हम उनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों एवं कार्यों के सम्बन्ध में बेहतर समझ बनाने में सफल होंगे।

16.3 जीवन–वृत्त

राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन का जन्म इलाहाबाद में 1 अगस्त, 1882 को हुआ। उनके पूर्वज मूलतः पंजाब के निवासी थे। उनके पिता श्री शालिग्राम टंडन इलाहाबाद के एकाउण्टेण्ट जनरल आफिस में क्लर्क थे और राधास्वामी सम्प्रदाय के मतावलम्बी थे। पिता संत प्रकृति के थे अतः उनके व्यक्तित्व का प्रभाव बालक पुरूषोत्तम पर प्रारम्भ से ही पड़ा। बालक पुरूषोत्तम का लालन–पालन बड़े लाड़–प्यार से हुआ क्योंकि उनके अनुज राधानाथ टण्डन उनसे छह वर्ष छोटे थे।

बालक पुरूषोत्तम की शिक्षा का प्रारम्भ एक मौलवी साहब की देख–रेख में हुआ जो उन्हें हिन्दी पढ़ाया करते थे। इसके उपरान्त इलाहाबाद की प्रसिद्ध शिक्षण संस्था सी0ए0वी0 स्कूल में प्रवेश लिया। वे एक मेधावी छात्र के रूप

में जाने जाते थे। इसके उपरान्त उन्होंने गवर्नमेन्ट हाईस्कूल में प्रवेश लिया। यहाँ वे वाग्वर्द्धिनी सभाओं, व्यायाम–क्रीड़ाओं तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेकर अपने बहुआयामी व्यक्तित्व को उजागर करने लगे। वे कायस्थ पाठशाला के भी विद्यार्थी रहे। 1899 में उन्होंने इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके उपरान्त अत्यन्त ही प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में प्रवेश लिया। स्नातक परीक्षा 1904 में उत्तीर्ण करने के उपरांत उन्होंने कानून की पढ़ाई की और 1907 में इतिहास विषय में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। पूरे विद्यार्थी जीवन में उन्होंने अपने साधुस्वभाव, सजग प्रतिभा, परिश्रमशीलता, स्वध्याय प्रियता तथा सच्चरित्रता के कारण अपनी अलग पहचान बनाये रखा।

हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरांत 1897 में ही पुरूषोत्तम का विवाह चन्द्रमुखी देवी से कर दिया गया। वे एक आदर्श जीवन संगिनी सिद्ध हुई। इनके सात पुत्र एवं दो कन्याएं हुई। वास्तव में पुरूषोत्तम दास टण्डन आदर्श गृहस्थ और वीतराग सन्यासी– दोनों ही एक साथ थे।

हिन्दी भाषा के प्रति टण्डन के अनुराग का एक महत्वपूर्ण कारण उनका महान समाजसेवी एवं राजनेता पं0 मदन मोहन मालवीय एवं प्रसिद्ध साहित्यकार पंडित बालकृष्ण भट्ट के सम्पर्क में आना था। टण्डन ने 1908 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय में वकालत की शुरूआत की जहाँ उन्हें उस समय के ख्यातिलब्ध अधिवक्ताओं : तेज बहादूर सप्रू एवं कैलाश नाथ काटजू के सहयोगी के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। वकालत के पेशे में भी टण्डन ने अपनी छाप छोड़ी क्योंकि वे झूठे मुकदमे नहीं लेते थे।

पुरूषोत्तम दास टण्डन का कार्यक्षेत्र अत्यन्त ही विशाल था। उन्होंने राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों यथा राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षिक को गहराई से प्रभावित किया। 1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के लिए राजर्षि टण्डन इलाहाबाद से प्रतिनिधि चुने गये। इस सम्मेलन हेतु इलाहाबाद से अन्य प्रतिनिधि थे– तेज बहादुर सप्रू, मोती लाल नेहरू एवं पंडित अयोध्यानाथ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन 10 अक्टूबर, 1910 में पं0 मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में इलाहाबाद में आयोजित किया गया। टण्डन मंत्री चुने गये। तीन–चार वर्षों में ही सम्मेलन का समस्त कार्यभार उन पर आ पड़ा। वस्तुतः जब तक वे जीवित रहे साहित्य सम्मेलन का इतिहास

टण्डन का इतिहास कहा जा सकता है। टण्डन *अभ्युदय* नामक पत्रिका के यशस्वी सम्पादक रहे। साथ ही *हिन्दी प्रदीप* में भी लगातार लिखते रहे।

1919 में वे इलाहाबाद नगरपालिका के प्रथम चेयरमेन चुने गये। 1921 में सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान टण्डन को कारावास की सजा हुई। उन्होंने राष्ट्रसेवा के लिए हमेशा के लिए वकालत छोड़ दी। 1923 में गोरखपुर में कांग्रेस का अठाहरवां प्रान्तीय अधिवेशन हुआ जिसमें टण्डन सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गये। अब टण्डन गाँव–गाँव में किसानों की सभायें करने लगे। वे किसान जागरण एवं आन्दोलन के अग्रदूत बन गए। 1930 और 1932 में लगान बन्दी के कार्यक्रमों का टण्डन ने नेतृत्व किया।

इस बीच टण्डन के हिन्दी प्रचार–प्रसार सम्बन्धी कार्य भी जारी रहे। 1923 में कानपुर में सर्वसम्मति से हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति चुने गए। इसमें प्रसिद्ध साहित्यकार महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वागताध्यक्ष थे। सम्मेलन की नियमावली तैयार करना हो या धन संग्रह, सारी जिम्मेदारी टण्डन पर ही थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में 'मंगला प्रसाद' पारितोषिक की स्थापना टण्डन ने ही की। प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता लाला लाजपत राय के आग्रह पर 1925 से 1929 तक वे पंजाब नेशनल बैंक के मैनेजर के रूप में लाहौर और आगरा में कार्यरत रहे। महात्मा गाँधी के आग्रह पर टण्डन 1929 में लोक सेवा मण्डल के अध्यक्ष बने। नमक सत्याग्रह के दौरान उन्हें डेढ़ वर्ष की कारावास की सजा हुई। उन्होंने सत्याग्रह हेतु अपनी निजी भूमि 'तपोभूमि' को राष्ट्र को समर्पित किया। 1931 में कानपुर में सम्प्रदायिक दंगों में गणेश शंकर विद्यार्थी की हत्या हो गई। इस संदर्भ में भगवान दास की अध्यक्षता में गठित जाँच समिति की रिपोर्ट हिन्दू–मूस्लिम समस्या पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। किसानों के अधिकार के लिए वे लगातार संघर्षरत रहे। वे 1934 में बिहार प्रान्तीय किसान सभा के भी अध्यक्ष रहे। वे उत्तर प्रदेश विधान सभा का तेरह वर्षों तक (जुलाई 31, 1937 से अगस्त 10, 1950 तक) अध्यक्ष रहे। 1946 में वे भारतीय संविधान सभा (कांस्टीट्यून्ट एसेम्बली) के सदस्य चुने गए। कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में टण्डन ने देश के विभाजन का मुखर विरोध किया। विभाजन के विरोध स्वरूप 15 अगस्त, 1947 के स्वतंत्रता दिवस समारोह में उन्होंने भाग नहीं लिया। 1950 में पं0 जवाहर लाल नेहरू के विरोध के बावजूद वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गए। अंततः महान आत्मा की तरह बिना हर्ष या विषाद के उन्होंने अध्यक्ष

पद से इस्तीफा दे दिया। 1952 में टण्डन इलाहाबाद से लोकसभा के लिए और 1956 में उत्तर प्रदेश से राज्यसभा के लिए चुने गए। 5 मई, 1956 को संसदीय विधिक और प्रशासकीय शब्दों के संग्रह हेतु गठित समिति के टण्डन सभापति बनाए गए। एक वर्ष के अथक परिश्रम के बाद उन्होंने कुशलतापूर्वक इस कार्य को सम्पादित किया।

सम्पूर्ण राष्ट्र पुरूषोत्तम दास टण्डन की अमूल्य सेवाओं के महत्व को श्रद्धा की दृष्टि से देख रहा था। कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें 1961 में 'भारत रत्न' की उपाधि दी पर वे तो इस उपाधि से भी कहीं बड़े थे। सरयू तट पर 15 अप्रैल, 1948 को देवरहवा बाबा द्वारा प्रदत्त विशाल जनसमूह की हर्षध्वनि के मध्य उन्होंने 'राजर्षि' उपाधि का सम्मान बढ़ाया। वे वास्तव में राजनीति में सर्वोच्च पदों पर रहते हुए ऋषि बने रहे। 1 जुलाई, 1962 को इस महान संत, साहित्यकार, राजनेता एवं समाजसेवी का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु पर इलाहाबाद के प्रमुख दैनिक *भारत* ने लिखा ''बाबू पुरूषोत्तम दास टण्डन की मृत्यु से भारत का एक बहुमूल्य रत्न चला गया जिसने कि लगभग चालीस वर्षों तक राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।''

''श्री टण्डन अनन्य देशभक्त थे और राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में उन्होंने जो कार्य किए वे चिरस्मरणीय रहेंगे। आप ऐसे राजनेता थे जो अपने कर्तव्य के प्रति ईमानदार और सच्चाई के लिए प्रख्यात थे। अपने दाढ़ीयुक्त भव्यता से आप राजर्षि नहीं अपितु अपने आहार–व्यवहार से भी आप इस नाम को सार्थक करते थे। राजर्षि होने के बावजूद भी आप सात्विक जीवन व्यतीत करते थे और ऐश्वर्य, भोग तथा विलास–प्रसाधनों से बहुत दूर रहते थे।''

16.4 राजर्षि टण्डन के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार एवं कार्य

राजर्षि टण्डन एक साथ राजनेता, साहित्यकार, पत्रकार एवं समाजसेवी थे। पर विद्वानों के अनुसार उनकी चरम उपलब्धि संत की है। बाल्यावस्था एवं छात्रजीवन में उन्हें पतंग, शतरंज, क्रिकेट पसन्द थे। क्रिकेट में वे जीवन के अंत तक रूचि लेते रहे, परन्तु उनकी एकान्तनिष्ठा किसी और ही दिशा में थी। उनकी साधना पारलौकिकतापरक होने के कारण जागतिक व्यापारों में भी ऐहिकता का मिथ्याभाष होने का ज्ञान बना रहता था। उनके राजनीतिक–सामाजिक आदर्श इसी निष्ठा का परिणाम था।

राजनीति में भारतीय संस्कृति के पोषक : राजर्षि टण्डन भारतीय संस्कृति के पक्के समर्थक थे। प्रथम भारतीय संस्कृति सम्मेलन, प्रयाग (1948) में उन्होंने निम्नलिखित प्रस्ताव रखा जो उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है ''देश की वर्तमान स्थितियों में और देश के भविष्य को सामने रखते हुए यह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति की आधारशिला पर ही देश की राजनीति का निर्माण हो। इन सिद्धान्तों को व्यवहार में स्वीकार करने और बरतने से ही देश की सरकार जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व कर उससे शक्ति प्राप्त कर सकती है।'' उनका यह मानना था कि ''संसार में जिस प्रकार दो मनुष्य बिल्कुल एक नहीं होते उसी प्रकार संसार के इतिहास में दो घटना समूह भी कभी एक नहीं हुए। एक ही मार्ग सभी स्थलों में नहीं चल सकता। हमें भी सदा स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष की स्थिति में रास्ता खोलने वाले के लिए किसी की नकल, शक्तिदायिनी न होगी। हमें अपने जलवायु, स्वभाव, अपनी मर्यादा और संस्कृति के अनुकूल रास्ते अपनाने होंगे और उन रास्तों पर खुली रीति से जनता को ले चलना होगा। उभरी हुई, सुलझी हुई, बलिदान के लिए तैयार शक्तिवान जनता पर ही हमारा अंतिम भरोसा है।'' लेकिन उनमें प्राचीन या नवीन संस्कृति के प्रति व्यामोह या दंभ नहीं था। उन्हें संकुचित भौगोलिक या धार्मिक सीमायें कभी भी बाँध नहीं सकीं। देश के अन्तर्गत वह विभिन्न संस्कृतियों में समन्वय चाहते थे।

प्राचीन एवं आधुनिक संस्कृतियों में समन्वय के समर्थक : प्राचीन भारतीय संस्कृति के पक्षधर होने के बावजूद राजर्षि टण्डन वर्तमान समय की आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं करते थे। उनका कहना था कि ''संसार व्यापी राजनैतिक संघर्षों का सामना करने के लिए हमारे सामाजिक संगठन की उस प्राचीन आंतरिक शक्ति का उद्‌बोधन किया जाय, जिसने विरोधिनी परिस्थितियों में हमारी संस्कृति की रक्षा की है और जो भविष्य में भी प्राचीन मर्यादाओं की रक्षा करते हुए संसार के वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठा सकेगी, साथ ही संसार की परिस्थितियों पर अपना प्रभाव डालते हुए उनसे सामन्जस्य कर सकेगी।''

संत साहित्य में आस्था : संत साहित्य में राजर्षि टण्डन की गहरी आस्था थी। वे लिखते हैं ''हिन्दी में संत साहित्य जिस ऊँची श्रेणी का है वह न संस्कृत में है और न किसी अन्य भाषा में है। उसकी जड़ ही हिन्दी में पड़ी है। कबीर दास इस साहित्य के सिरमौर है। गुरूनानक, दादू, पलटू, रैदास,

सुन्दरदास, मीराबाई, सहजोबाई आदि प्रसिद्ध महात्माओं में कबीर की बानी की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इन्हीं का विस्तृत प्रभाव मुझे गुजरात और महाराष्ट्र के सन्तों पर दिखाई पड़ता है।''

डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार राजर्षि टण्डन आरम्भ से ही संत विचारधारा से प्रभावित थे और जीवन–भर संत–मत के नियमों तथा अनुशासन का पालन करते रहे। उन्होंने व्यक्ति और समाज के जीवन में आदर्श के स्थान तथा महत्व को हृदयंगम कर लिया था। इस आदर्श के लिए हर प्रकार का बलिदान अथवा त्याग करना उनके लिए संभव ही नहीं अनिवार्य रहा है।

एक साहित्यिक की भावुकता और एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तथा लोकनायक की दृढ़ता के साथ–साथ डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार उनके जीवन का एक व्यावहारिक तथा समन्वयात्मक पक्ष भी है। उनका त्याग ऐहिक जीवन के प्रति उदासीनता की भावना उत्पन्न नहीं करता है। उनकी अध्यात्मिकता का आधार व्यक्ति का ही नहीं बल्कि समाज का भी कल्याण है।

किसानों के हितों के संरक्षक : राजर्षि टण्डन, महात्मा गाँधी की ही तरह, भारत को किसानों का देश मानते थे। उनका मानना था कि जब तक भूमि व्यवस्था में सुधार नहीं होगा किसानों की स्थिति में सुधार संभव नहीं है। उन्होंने पूरे उत्तरप्रदेश में किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया और भूमिकर देने का विरोध किया। वे उत्तरप्रदेश में कृषक आन्दोलन के जन्मदाता थे। 1910 में उन्होंने किसान संघ की स्थापना की। 1921 में प्रादेशिक आधार पर किसानों को संगठित किया। किसानों के मध्य वे इतने लोकप्रिय हुए कि बिहार की किसान–सभा ने भी उन्हें अपना अध्यक्ष चुना। उत्तरप्रदेश में जमीन्दारी उन्मूलन बिल पारित कराने में उन्होंने सक्रिय योगदान दिया। लाल बहादुर शास्त्री के अनुसार ''टण्डन जी ने देश को बहुत कुछ दिया। परन्तु उनकी विशेष देन किसानों को है और हिन्दी को।... भूमि व्यवस्था और समाज निर्माण पर उनके विचार क्रांतिकारी रहे और उनका समर्थन सदा निर्बलों को प्राप्त हुआ।'' वंचितों, दलितों और ठुकराये हुए वर्ग के प्रति टण्डन जी के दर्द को महसूस करते हुए श्री वियोगी हरि लिखते है ''समाज में उपेक्षित और आखिरी पंक्ति में खड़े अंग ने, जिसे छुने में भी परहेज किया जाता था, अपने प्रति ममता भरी स्नेह की भावना टण्डन मे पाई थी।''

प्रजातांत्रिक पद्धति के समर्थक : टण्डन जी की प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली

में गहरी आस्था थी। वे चाहते थे कि शासन–सूत्र का संचालन तो बहुमत के हाथों में रहे परन्तु बहुमत ऐसा हो जो अल्पमत की उपेक्षा न करे। विरोधी पक्ष की भावनाओं एवं विचारों का वे अत्यधिक सम्मान करते थे। उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की ''यदि विरोधी दल के थोड़े से व्यक्ति भी मुझसे कहें कि मैं उनका विश्वासभाजन नहीं हूँ तो मैं अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर पृथक हो जाऊँगा।''

रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी : भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के प्रबल समर्थक राजर्षि टण्डन कट्टरवाद के विरोधी थे और वे इससे बचने की सलाह देते थे। परम्परागत और बहुत दिनों से चली आ रही अनेक धारणाओं का वे खण्डन करते थे। उनका कहना था कि बहुत से पुरूष इन रूढ़ियों में फंस जाते हैं और इनसे निकलने की कोशिश नहीं करते। इस प्रकार की प्रवृत्ति को उन्होंने 'मूढ़ाग्रह' कहा।

16.5 हिन्दी के विकास हेतु कार्य

हिन्दी भाषा के प्रति राजर्षि टण्डन की अटूट निष्ठा थी। हिन्दी भाषा के प्रति उनकी प्रतिबद्धता ही उन्हें राजनीति में खींच लाई। 17 फरवरी, 1951 को मुजफ्फरपुर में साहित्यकारों की एक सभा में उन्होंने स्वयं कहा ''लोग कहते हैं कि मैं राजनीति और साहित्य से समन्वित दोहरा व्यक्तित्व रखता हूँ। पर सच्ची बात यह है कि मैं पहले साहित्य में आया और प्रेम से आया। हिन्दी साहित्य के प्रति मेरे उसी प्रेम ने उसके हितों की रक्षा और विकास पथ को स्पष्ट करने के लिए मुझे राजनीति में सम्मिलित होने को बाध्य किया।''

हिन्दी के विकास एवं प्रसार में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके निर्माण में टण्डन जी का महत्वपूर्ण योगदान था। इसकी स्थापना 10 अक्टूबर, 1910 को हुई। पं0 मदन मोहन मालवीय इसके अध्यक्ष एवं राजर्षि टण्डन मंत्री चुने गए। वस्तुतः सम्मेलन का सारा कार्यभार राजर्षि टण्डन पर ही था। सन् 1910 से लेकर अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक वह लगातार इस संस्थान के हित सम्बर्द्धन के लिए अपने को तिल–तिल होम करते रहे। उनके प्रयासों से सम्मेलन एक राष्ट्रीय संस्था घोषित कर दी गई। प्रसिद्ध साहित्यकार लक्ष्मीनारायण सुधांशु हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति राजर्षि टण्डन के योगदान का उल्लेख करते हुए लिखते हैं– ''उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य क्षेत्र में कोई सर्जनात्मक कृति नहीं दी है, कुछ

तुकबन्दियों तथा लेखों के अतिरिक्त उन्होंने और कुछ नहीं लिखा। लेकिन उनकी वास्तविक कृति है अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का संगठन। इसके द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य की परीक्षाओं का जो संचालन किया, उससे साधारण जनता में हिन्दी साहित्य के प्रति अभिरूचि, साहित्य की जानकारी और लोक साहित्य में जागृति की भूमिका बनी। सम्मेलन की परीक्षाओं का जाल सम्पूर्ण भारत में बिछ गया। सन् 1910–1950 के मध्य राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के प्रचार–प्रसार का श्रेय टण्डन जी को है। इसीलिए लोग उन्हें राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्राण कहा करते थे।''

पं0 जवाहरलाल नेहरू और उनके समर्थक स्वतंत्र भारत में 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते थे। राजर्षि टण्डन हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के पक्ष में थे। डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने इस संदर्भ में लिखा है ''संविधान सभा में उन्होंने हिन्दी का बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया। यद्यपि कुछ लोग, विशेषकर अहिन्दी भाषी, इस दृढ़ता से अप्रसन्न भी हुए, पर उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम में कमी नहीं आई।'' राजर्षि टण्डन रोमन अंको के उपयोग के भी पक्ष में नहीं थे। अन्ततः राजर्षि टण्डन के सद्प्रयासों से ही देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी को राजभाषा का दर्जा मिल सका। हिन्दी के प्रति उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य नगेन्द्र लिखते हैं ''राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास में राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन शब्द आज अभिधान मात्र न रहकर प्रतीक बन गया हैः जिस प्रकार 'प्रसाद' के नाम में राष्ट्रभाषा की सांस्कृतिक समृद्धि समाहित है, 'प्रेमचंद' में उसकी जनकल्याणकारी भावना, 'मैथिलीशरण' में राष्ट्रीयता और 'सुमित्रानन्दन पंत' में उसकी सौन्दर्यविभूति, इसी प्रकार 'पुरूषोत्तम दास टण्डन' शब्द में राष्ट्रभाषा का कार्मिक उत्साह प्रज्ज्वलित है। उनका अभिनन्दन राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के अभिषेक का अभिनन्दन है।''

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन देश की राजनीति का आधार किसे

बनाना चाहते थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विकास में राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन की क्या भूमिका थी?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

16.6 राजर्षि टण्डन के शैक्षिक विचार

रूढ़ अर्थों में राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन को शिक्षाशास्त्री नहीं कहा जा सकता पर वास्तव में उनका सम्पूर्ण जीवन ही भारतीयों के लिए शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्रोत रहा है। वे शिक्षा का भारतीयकरण करना चाहते थे साथ ही प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के श्रेष्ठ तत्वों का प्रचार–प्रसार करना चाहते थे और शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। हिन्दी को विश्वविद्यालय स्तर पर स्वीकृति दिलाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने शिक्षा के द्वारा भारतीयों में आत्मगौरव एवं आत्मबल का संचार किया। अतः यह कहा जा सकता है कि राजर्षि टण्डन का शिक्षा के क्षेत्र में योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

16.6.1 शिक्षा का उद्देश्य

राजर्षि टण्डन को शिक्षा के प्रभाव पर अटूट विश्वास था। वे शिक्षा के द्वारा अनेक राष्ट्रीय एवं सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते थे। उनके कार्यों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य रखे :

(i) **राष्ट्रीयता की भावना का विकास** : राजर्षि टण्डन एक प्रखर राष्ट्रवादी नेता थे और शिक्षा के द्वारा नई पीढ़ी में राष्ट्रीयता की भावना भरना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने हमेशा राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं को सहयोग दिया। जैसा कि हमलोग देख चुके हैं वे भारत राष्ट्र का आधार भारतीय संस्कृति को बनाना चाहते थे।

(ii) **भारतीय संस्कृति का संरक्षण** : राजर्षि टण्डन भारतीय संस्कृति को भावी विकास का आधार मानते थे। इस संदर्भ में उनका जवाहर लाल नेहरू से मतभेद भी रहा। राजर्षि टण्डन का कहना था ''मैं प्रधानमंत्री पंडित नेहरू की इस बात से सहमत हूँ कि राष्ट्र को समय के साथ चलना चाहिए। लेकिन आगे बढ़ते हुए उसे यह ध्यान रखना है कि जो लम्बी और शक्तिशाली श्रृंखला उसे भूतकाल से जोड़ती है, वह टूट न जाए प्रत्युत और मजबूत बने। हमारा मूल ध्यान होना चाहिए कि हम भूतकाल से सम्बन्ध रखकर वर्तमान में आगे बढ़ें। पश्चिम में जो भी चटकीला और चमकदार है, वह सब सोना नहीं है। भारत ने ऐसे उच्च विचार और परम्पराएं पैदा की है जो कालयापन के साथ–साथ मनुष्य जाति के भाग्य को अधिकाधिक प्रभावित करेगी।'' इसी विचार के अनुरूप राजर्षि टण्डन शिक्षा के द्वारा भारतीय संस्कृति का संरक्षण करना चाहते थे जो सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याणकारी है।

(iii) **चरित्र का निर्माण** : राजर्षि टण्डन का चरित्र ऋषियों की तरह उज्ज्वल एवं धवल था। वे शिक्षा के द्वारा चरित्रवान युवक–युवतियों को तैयार करना चाहते थे। उनका स्पष्ट संदेश था– ''हमारा जीवन सादा और विचार स्तर उच्च होना चाहिए। हमारी आवश्यकताएँ सीमित होनी चाहिए और ईमानदारी के साथ अपने दूसरे भाईयों की सेवा करने का आदर्श हमें सदा अपने सामने रखना चाहिए।'' नवयुवकों में ऊँची नैतिकता और

सच्चरित्रता भरने का जैसा वे निरन्तर ध्यान रखते थे, विवाहित कन्याओं को भी पतिव्रत धर्म का ध्यान दिलाते रहते थे।

(iv) **हिन्दी का प्रचार–प्रसार** : राजर्षि टण्डन भारतीय जनमानस को मानसिक दासता से मुक्त करने के लिए अंग्रेजी के प्रभुत्व को समाप्त करने एवं सम्पूर्ण राष्ट्र में हिन्दी के प्रचार–प्रसार के प्रबल समर्थक थे। उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था हिन्दी भाषा एवं साहित्य की उच्चतम स्तर की शिक्षा की व्यवस्था करना। प्रसिद्ध साहित्यकार माखनलाल चतुर्वेदी ने राजर्षि टण्डन के संदर्भ में लिखा ''वे (राजर्षि टण्डन) अपनी संतुलित शक्तियों को कभी बेकार नहीं रहने देते थे। अपने सारे प्रयत्नों को केवल भारत की स्वतंत्रता और हिन्दी के उद्धार में लगाते थे।'' उनके लिए देश की स्वतंत्रता से हिन्दी का प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं था। उनका कहना था कि ''हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो विभिन्न प्रदेशों को प्रेम के ऐक्य सूत्र में बाँध सकती है।'' अतः वे शिक्षा का उद्देश्य हिन्दी का प्रचार–प्रसार करना भी मानते थे।

(v) **निरक्षरता–उन्मूलन** : महात्मा गाँधी की ही तरह राजर्षि टण्डन निरक्षरता को देश के लिए अभिशाप मानते थे। वे एक तरफ तो शिक्षा के प्रसार द्वारा नई पीढ़ी को निरक्षर होने के कलंक से बचाना चाहते थे तो दूसरी ओर वे शिक्षित नवयुवक, नवयुवतियों को इसके लिए प्रेरित करते थे कि वे प्रौढ़ निरक्षरों के मध्य जाकर उन्हें साक्षर बनायें। प्रौढ़ निरक्षरों को अक्षर–ज्ञान देने का कार्य वे तब भी करते रहे जब वे उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष थे।

इस प्रकार राजर्षि टण्डन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त व्यापक थे।

16.6.2 पाठ्यक्रम

शिक्षा के पाठ्यक्रम के संदर्भ में राजर्षि टण्डन का विचार बहुत ही उदार था। वे परम्परागत भारतीय ज्ञान और आधुनिक विज्ञान दोनों का ही समन्वय चाहते थे पर पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध में भारतीय ज्ञान की उपेक्षा को वे राष्ट्र विरोधी दृष्टिकोण मानते थे।

राजर्षि टण्डन आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देने के पक्षधर थे पर वे इसके लिए अंग्रेजी को अनिवार्य नहीं मानते थे। उनका कहना था कि ''इस देश में अंग्रेजी का प्रभुत्व रहते हुए देश मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से स्वतंत्र

और आजाद नहीं हो सकता है।'' राजर्षि टण्डन सम्पूर्ण भारत में हिन्दी को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाना चाहते थे। हिन्दी में भी भक्ति साहित्य को वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे। कबीर पर उनकी गहरी निष्ठा थी। कबीर की छाप वे अन्य भाषाओं के कवियों पर भी पाते हैं। उनके अनुसार ''जैन कवि ज्ञानानन्द, विजय, यशोविजय, आनन्दघन आदि की कृतियों में, हिन्दी और गुजराती दोनों प्रकार की माणिक मालाओं में गुंथने वाला तार मुझे वही कबीर दास की बानी से निकला हुआ रहस्यवाद दिखाई देता है। इनकी बानी उसी रंग में रंगी है और उन्हीं सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाली है जिनका परिचय कबीर और मीरा ने कराया है।'' इस प्रकार टण्डन के पाठ्यक्रम में भक्ति साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है।

राजर्षि टण्डन भारत के गौरवशाली इतिहास को पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाना चाहते थे। इससे लोगों के सोये स्वाभिमान को जगाया जा सकता था, साथ ही उनके अनुसार बिना अतीत को आधार बनाये बेहतर भविष्य का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

राजर्षि टण्डन छात्रों को राजनीति एवं प्रजातांत्रिक जीवन पद्धति की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षा देना चाहते थे। वे उच्च स्तर पर अरविन्द के दर्शन, विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के ग्रन्थ, पतंजलि की विभूति और कैवल्यपाद के अध्ययन की अनुशंसा करते हैं।

राजर्षि टण्डन बच्चों एवं नवयुवकों के लिए खेल एवं व्यायाम को आवश्यक मानते थे। साथ ही वे प्राकृतिक चिकित्सा के भी प्रशिक्षण के पक्षधर थे। इस संदर्भ में उनका सिद्धान्त था ''अस्पतालों और शय्याओं की संख्या बढ़ाने के बदले स्वस्थ जीवन के समुचित साधनों को उपलब्ध कराना राष्ट्रीय जीवन के लिए परम आवश्यक है।''

इन सबके अतिरिक्त वे पूरी शिक्षा प्रक्रिया को इस तरह से क्रियान्वित करना चाहते थे कि छात्रों में नैतिकता और सदाचार का विकास हो सके।

राजर्षि टण्डन लिखावट को शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग मानते थे और इस पर बहुत ध्यान देते थे। वे न केवल विद्यालयों–महाविद्यालयों के विद्यार्थियों को ही नहीं वरन् अपेक्षाकृत प्रौढ़ लोगों को भी देवनागरी को सही ढ़ंग से लिखने की विधि बताया करते थे। तेजी से लिखते समय 'एकार' एवं 'ओकार' की मात्रा को दाहिनी ओर झुकाने के वे विरोधी थे। वे इन्हें बांयी ओर झुकाने का आग्रह करते थे। टण्डन 'ए' के स्थान पर 'ये' लिखना शुद्ध बताते थे। अंग्रेजी शब्दों को अल्प विराम के बीच बन्द कर देने या रेखांकित कर देने के आग्रही थे।

16.6.3 प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम

राजर्षि टण्डन भारत को साक्षर देखना चाहते थे। वे अपने प्रांत, उत्तरप्रदेश, में प्रौढ़ शिक्षा के द्वारा निरक्षरता को समाप्त करने के प्रयास में व्यक्तिगत रूप से लगे रहे। इस संदर्भ में उनकी भूमिका को ओंकार शरद के लेख *'एक इस्पाती व्यक्तित्व'* के निम्नलिखित अंश से समझा जा सकता है।

''टण्डन जी संयुक्त प्रांत के स्पीकर थे। पूरे प्रांत भर में उनका साक्षरता आन्दोलन चल रहा था। यह आन्दोलन उन्हीं का था। प्रांत का कोई भी व्यक्ति निरक्षर न रह जाय– यही उनका सपना था।

इलाहाबाद में घंटाघर के नीचे, चौड़ी सड़क पर, एक दिन सुबह–सुबह दोनों ओर पट्टियां बिछा दी गई। और उस पर बैठाए गए गरीब, मजदूर, बूढ़े जो निरक्षर थे। उन्हें एक–एक स्लेट दी गई और टण्डन जी उन्हें अक्षर ज्ञान करा रहे थे।

तब हम सब थे उनके सिपाही। हजारों की संख्या में बैठे लोग अक्षर–ज्ञान कर रहे थे और टण्डन जी एक सार्वजनिक शिक्षक बने सबों को ककहरा सिखा रहे थे। यह क्रम विभिन्न रूपों में– रात्रि पाठशाला और सामूहिक विद्यालय की शक्ल में भी हमलोग बहुत दिनों तक चलाते रहे। असंख्य लोग टण्डन जी की प्रेरणा से साक्षर हुए। हजारों लोग अंगूठा टेक के अभिशाप से मुक्त हुए।''

16.7 राजर्षि टण्डन द्वारा स्थापित शैक्षिक–सामाजिक संस्थायें

राजर्षि टण्डन ने अनेक शैक्षिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्थाओं की स्थापना की। इनमें से प्रमुख संस्थायें निम्नलिखित हैं–

16.7.1 गौरी पाठशाला

राजर्षि टण्डन लड़कियों की शिक्षा को समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए आवश्यक मानते थे। वे उनको चरित्रवान एवं सुसंस्कृत बनाना चाहते थे ताकि वे भविष्य में पतिव्रता पत्नी एवं योग्य माता सिद्ध हो सकें। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने मुहल्ले में महामना मालवीय एवं बालकृष्ण भट्ट के सहयोग से गौरी पाठशाला की स्थापना की। राजर्षि टण्डन इस संस्था के अध्यक्ष थे। इस कन्या विद्यालय के विकास में उनकी पुत्रवधू श्रीमती रानी टण्डन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह विद्यालय वर्तमान में उच्चतर माध यमिक विद्यालय हो गया है जिसमें एक हजार से भी अधिक लड़कियाँ अध ययन करती हैं।

16.7.2 हिन्दी विद्यापीठ

हिन्दी भाषा एवं साहित्य में उच्चस्तरीय शिक्षा की व्यवस्था हो सके इसके लिए महेवा, प्रयाग में राजर्षि टण्डन ने हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की। इस संदर्भ में प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय 'बच्चन' अपने लेख 'बाबू पुरूषोत्तम दास टण्डन : एक संस्मरण' में कहते हैं ''हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन–पाठन विधिवत् हो सके, उसके लिए उन्होंने प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हमें यह नहीं भूलना नहीं चाहिए कि यह वह समय था जब हिन्दी को विश्वविद्यालयों में प्रवेश की बात तो दूर उसे झरोखों से झाँकने की भी आज्ञा नहीं थी। इण्टरमीडिएट में भी नहीं पढ़ाई जाती थी, उसका साहित्य केवल हाईस्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।'' अहिन्दी भाषी भी हिन्दी को सीख सके इसके लिए राजर्षि टण्डन ने डॉ0 काटजू के सहयोग से नैनी में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की। दक्षिण भारत के हिन्दी सीखने वाले बहुत सारे विद्यार्थियों के खर्च का वहन वे स्वयं करते थे या किसी सहयोगी को इस कार्य के लिए प्रेरित करते थे।

16.7.3 हिन्दी साहित्य सम्मेलन

जैसा कि हमलोग देख चुके हैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना 10 अक्टूबर, 1910 को हुई। महामना मालवीय इसके प्रथम अध्यक्ष एवं राजर्षि टण्डन मंत्री बने पर सम्मेलन का सारा कार्य टण्डन ही सम्पादित करते थे। इस संदर्भ में राजर्षि टण्डन के योगदान का उल्लेख करते हुए श्री प्रकाश लिखते हैं ''हिन्दी साहित्य सम्मेलन के रूप में उन्होंने अपनी अमर कीर्ति छोड़ी है। इसके द्वारा सारे देश में सहस्त्रों नर–नारियों ने हिन्दी को प्रेम से पढ़ा और उसकी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर भाषा पर काफी अधिकार भी प्राप्त किया। वह हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का आग्रह करते रहे। अंको के लिए भी उसका अन्तर्राष्ट्रीय रूप लेना उन्होंने अस्वीकार कर दिया।''

16.7.4 पंजाब में हिन्दी पाठशालाओं को सहयोग

1925 से 1939 तक वे पंजाब नेशनल बैंक के मैनेजर के रूप में लाहौर एवं आगरा में कार्यरत थे। पंजाब में निवास के दौरान उन्होंने हिन्दी पाठशालाओं की स्थापना और संचालन में गहरी रूचि दिखाई। इस दौरान वे अपने वेतन का एक भाग पंजाब में चलाई जा रही हिन्दी पाठशालाओं के लिए खर्च करते थे।

16.7.5 तिलक स्कूल ऑफ पालिटिक्स (लोक सेवा मण्डल)

1921 में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की स्मृति में लाला लाजपत

राय ने 'तिलक स्कूल ऑफ पालिटिक्स' की स्थापना की। इसका कार्य जनसामान्य की सेवा करना तथा भारतीयों के मध्य राजनीतिक जागरूकता को बढ़ाना था। इस संस्था के संचालन में राजर्षि टण्डन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बाद में इसका नाम बदलकर 'लोक सेवा मंडल' कर दिया गया। 17 नवम्बर, 1928 को लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई। महात्मा गाँधी के आग्रह पर जनवरी, 1929 में राजर्षि टण्डन लोक सेवक मण्डल के अध्यक्ष बने। राजर्षि टण्डन के नेतृत्व में लाला लाजपत राय स्मारक निधि के लिए पाँच लाख रूपये का संग्रह किया गया।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त राजर्षि टण्डन ने विभिन्न नगरों में अनेक संस्थाओं की स्थापना की, जैसे कानपुर में व्यायामशाला, फैजाबाद में राजनीतिक कान्फ्रेन्स आदि। इलाहाबाद में प्रौढ़ शिक्षा की व्यापक व्यवस्था इन्हीं के प्रयासों का परिणाम था। राजर्षि टण्डन द्वारा स्थापित एवं संचालित इन संस्थाओं से कहीं महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे स्वयं एक संस्था थे जिनसे राजनेता, शिक्षक, साहित्कार सभी प्रेरणा ग्रहण करते थे। प्रसिद्ध साहित्यकार माखन लाल चतुर्वेदी ने उनके बारे में यथार्थ टिप्पणी की ''ज्ञान जब काला पड़ने लगता है और उद्योग जब शिथिल होने लगता है, तब टण्डन जी को देखकर बल मिलता है।''

16.8 राजर्षि टण्डन की नीतियों एवं कार्यों की आलोचना

अनेक राजनीतिज्ञों एवं बुद्धिजीवियों ने राजर्षि टण्डन की नीतियों की आलोचना की है। हिन्दू संस्कृति का कट्टर समर्थक बताकर उन्हें सम्प्रदायिकता के विकास में एक कारक माना है। पर शायद पं0 जवाहर लाल नेहरू एवं उनके समर्थक टण्डन के विचारों को सही ढ़ंग से समझ नहीं पाये। श्री वियोगी हरि इस संदर्भ में राजर्षि टण्डन के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ''हिन्दू धर्म की चन्द घिसी पिटी मान्यताओं या परम्पराओं पर विश्वास करना, इसी को बहुतेरे लोग संस्कृति मानते हैं। टण्डन जी ऐसे विश्वासों से बहुत दूर थे। 'कल्चर' शब्द को भी वह संस्कृति के रूप में नहीं लेते थे। जो कृति सम्यक हो, सच्ची हो, दूसरों का उद्वेग करने वाली न हो और सब प्रकार से समीचीन हो, सुन्दर हो, उसी को वह भारतीय संस्कृति मानते थे। वह आक्रमणात्मक नहीं, किन्तु समन्वयात्मक थे। मगर समन्वय वह, जिसमें न तो तुष्टीकरण होता है और न स्वार्थ की गंध पाई जाती है। इसी संस्कृति के टण्डन उपासक थे और इसी के पुनरूद्धार के लिए वह व्याकुल रहते थे।''

राजर्षि टण्डन की दूसरी आलोचना हिन्दी के प्रति उनके अत्यधिक

लगाव के कारण की गई है। उन्होंने संविधान सभा में जिस दृढ़ता से हिन्दी का पक्ष रखा उसकी अनेक लोग सराहना नहीं करते हैं। पर इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि स्वतंत्र राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी ही चाहिए और हिन्दी इसके लिए सबसे उपयुक्त है। राजर्षि टण्डन अंग्रेजी के प्रभुत्व के विरूद्ध थे। उनकी मान्यता हिन्दी को लोकग्राह्य बनाने और उसे साकार रूप देने में है। राजर्षि टण्डन उर्दू के विरोधी नहीं थे। उसे तो वह हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते थे। उन्होंने कहा था ''हिन्दी वाले अनगिनत अरबी–फारसी शब्दों को पचाये हुए हैं, पर उर्दू वाले अपरिचित और दुरूह शब्दों से अपनी भाषा को क्लिष्ट और बोझिल बना कर हिन्दी से इसे अलग करते जा रहे हैं।''

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजर्षि टण्डन भारत की उन महान विभूतियों में गिने जाते हैं जिन्होंने देश और समाज की निःस्वार्थ सेवा करना ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य माना। उन्होंने देश की सेवा विभिन्न रूपों में किया– राजनेता के रूप में, समाज सेवक के रूप में, साहित्यकार के रूप में, पत्रकार के रूप में और अध्यापक के रूप में। उनका सम्पूर्ण जीवन भारतीयों को प्रेरणा देता रहेगा।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

3. राजर्षि टण्डन देश के अनुसार शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं?

.....

.....

.....

4. राजर्षि टण्डन ने कौन सी शैक्षिक–सामाजिक संस्थायें स्थापित की?

.....

.....

.....

5. श्री वियोगी हरि के अनुसार राजर्षि टण्डन की दृष्टि में संस्कृति का क्या अर्थ हैं?

.....

.....

.....

16.9 सारांश

इस इकाई में हमलोगों ने राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन के जीवन के विभिन्न पक्षों का विस्तृत अध्ययन किया। हमलोगों ने देखा कि उन्होंने हिन्दी एवं शिक्षा के प्रश्न को स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य की तरह ही महत्वपूर्ण माना और इसके लिए वे आजीवन प्रयासरत रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना से लेकर उसे राष्ट्रीय संस्था के रूप में स्वीकार किये जाने तक वे लगातार इसके लिए कर्मयोगी की तरह कार्य करते रहे। सम्मेलन का राष्ट्र के सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं शैक्षिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। साथ ही हमलोगों ने उन बिन्दुओं की भी चर्चा की जिन पर राजर्षि टण्डन की आलोचना की जाती है। इस प्रकार यह इकाई राजर्षि टण्डन के जीवन और उनके शैक्षिक विचारों एवं कार्यों पर सम्यक प्रकाश डालता है।

16.10 अभ्यास प्रश्न

1. राजर्षि टण्डन को हिन्दी का प्राण क्यों कहा जाता हैं?
2. प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में राजर्षि टण्डन के योगदान का उल्लेख कीजिए।
3. राजर्षि टण्डन की आलोचना किन बिन्दुओं पर की गई है? आप इस आलोचना से कहाँ तक सहमत हैं?

16.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन देश की राजनीति का आधार भारतीय संस्कृति को बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि ''संसार में जिस प्रकार दो मनुष्य बिल्कुल एक नहीं होते उसी प्रकार संसार के इतिहास में दो घटना समूह भी कभी एक नहीं हुए। एक ही मार्ग सभी स्थलों में नहीं चल सकता। हमें भी सदा स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष की स्थिति में रास्ता खोलने वाले के लिए किसी की नकल, शक्तिदायिनी न होगी। हमें अपने जलवायु, स्वभाव, अपनी मर्यादा और संस्कृति के अनुकूल रास्ते अपनाने होंगे और उन रास्तों पर खुली रीति से जनता को ले चलना होगा। उभरी हुई, सुलझी हुई, बलिदान के लिए तैयार शक्तिवान जनता पर ही हमारा अंतिम भरोसा है।''
2. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विकास में राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसकी स्थापना 10 अक्टूबर, 1910 को हुई। पं0 मदन मोहन मालवीय इसके अध्यक्ष एवं राजर्षि टण्डन मंत्री चुने गए। वस्तुतः सम्मेलन का सारा कार्यभार राजर्षि टण्डन पर ही था। सन् 1910

से लेकर अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक वह लगातार इस संस्थान के हित सम्बर्द्धन के लिए अपने को तिल–तिल होम करते रहे। उनके प्रयासों से सम्मेलन एक राष्ट्रीय संस्था घोषित कर दी गई।

3. राजर्षि टण्डन के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–
   (i) राष्ट्रीयता की भावना का विकास
   (ii) भारतीय संस्कृति का संरक्षण
   (iii) चरित्र का निर्माण
   (iv) हिन्दी का प्रचार–प्रसार
   (v) निरक्षरता–उन्मूलन

4. राजर्षि टण्डन ने निम्नलिखित शैक्षिक–सामाजिक संस्थाओं को स्थापित किया–
   (i) गौरी पाठशाला
   (ii) हिन्दी विद्यापीठ
   (iii) हिन्दी साहित्य सम्मेलन
   (iv) पंजाब में हिन्दी पाठशालायें
   (v) लोक सेवा मंडल

5. श्री वियोगी हरि के अनुसार राजर्षि टण्डन की दृष्टि में संस्कृति का अर्थ है ''हिन्दू धर्म की चन्द घिसी पिटी मान्यताओं या परम्पराओं पर विश्वास करना, इसी को बहुतेरे लोग संस्कृति मानते हैं। टण्डन जी ऐसे विश्वासों से बहुत दूर थे। 'कल्चर' शब्द को भी वह संस्कृति के रूप में नहीं लेते थे। जो कृति सम्यक हो, सच्ची हो, दूसरों का उद्वेग करने वाली न हो और सब प्रकार से समीचीन हो, सुन्दर हो, उसी को वह भारतीय संस्कृति मानते थे। वह आक्रमणात्मक नहीं, किन्तु समन्वयात्मक थे। मगर समन्वय वह, जिसमें न तो तुष्टीकरण होता है और न स्वार्थ की गंध पाई जाती है। इसी संस्कृति के टण्डन उपासक थे और इसी के पुनरूद्धार के लिए वह व्याकुल रहते थे।''

16.12 सहायक अध्ययन सामग्री

लक्ष्मीनारायण एवं ओंकार शरद (1967), *भारत रत्न राजर्षि टण्डन : व्यक्तित्व एवं संस्मरण,* इलाहाबाद : ज्योत्सना प्रकाशन।

शास्त्री, अलगूराम एवं लक्ष्मीनारायण, *राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन*, राजर्षि टण्डन संस्थान।

'पुरूषोत्तम दास टण्डन', *विकीपीडिया (wikipedia),* दी फ्री इनसाइक्लोपीडिया।